सहजानंद शास्त्रमाला

अध्यात्म सूत्र प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

अध्यात्मसूत्र पर प्रवचन

लेखक :—
ध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—
महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक :—
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उ० प्र०)

करण] सन् १९६४ [मूल्य २) रुपये

अध्यात्मयोगी शान्तिमूर्ति न्यायतीर्थ

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लकवर्णी

श्रीमत्सहजानन्द महाराज

का

अध्यात्मसूत्र पर प्रवचन

कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव ।
पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतच्छ्रुतं पञ्चपदं नमामि ॥१॥

अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गुंथियं सव्वं ।
पणमामि पंचभेदं सुदणाणमहोवयं सिरसा ॥२॥

इच्छामि भंते सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउ अंगोवंगपइण्णये पाहुडयपरियम्मसुत्तपढमाणुयोगपुव्वगयचूलियाओ चेव सुत्थत्थुइधम्मकहाइयं सया णिच्चकालं अच्चेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं जिनगुणसंपत्ति होउ मज्झं। अथ स्वाध्यायप्रतिष्ठापनवेलायां श्री श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं (९ बार णमोकार मंत्र जाप्य)

ॐ नमः शुद्धाय ॥१॥

शुद्ध चैतन्यदेवको प्रणाम हो।

बंधुवर! आज हम सब शांतिकी समस्या पर अन्तर्विचार करनेके अर्थ गोष्ठी रूपमें आये हैं। यह स्पष्ट विदित है कि शांतिके लिये

संसारी प्राणी प्रयत्न कर करके थकते हैं, खीजते हैं फिर प्रयत्नमें लग जाते हैं, फिर भी यही हालत होती है और यह क्रम दो बार नहीं चार बार नहीं असंख्यात बार नहीं अनन्त बार चलता रहता है सो भाई यदि सुख चाहते हो—यदि ऐसी आकुलता इष्ट नहीं है तब अपनी पूर्व मान्यतावोंको त्याग करके सत्य शाश्वत सुखकी मार्गणा करना चाहिये और इसके लिये जैसे सुखकी तलाश करते हैं सुखीकी भी तलाश करना चाहिये क्योंकि सुखी आत्माको जान जाने से सुखका मार्ग निकल आवेगा तथा कभी दुःखियों में सुखीका भ्रम न हो जावे इसके लिये दुःखी और दुःखके स्वरूपको भी छांट लीजिये। संसारके सारे प्राणी दुःखी हैं। और वे अपनी भूलसे ही कषायोंके कारण दुःखी हैं। केवली भगवान निष्कषाय हैं इसलिये वे सुखी हैं। कषायवान भ्रमसे अपनेको सुखी मानता है और आकुलता भोगता जाता है। जैसे—असाता कर्म दुःखका कारण है वैसे ही साता कर्म भी प्रकारान्तरसे दुःखका कारण है। सम्पदा और विपदा, यश और अपयश, मान और अपमान दोनों दुःख रूप हैं। सम्पत्तिके कमया नहीं होनेकी चिंता में अथवा उसके और बढ़ाने की तृष्णा में दुःख है। और निर्धनता में तो संसारी अपनेको दुःखी मानता ही है। इसी तरह यशके बिगड़नेसे या उसे बनाये रखनेकी चिंतासे अथवा यशस्वी बनने की लालसा से दुःखी है। और अपयश से तो संसारी अपनेको दुःखी अनुभव करता ही है। ठीक इसी तरह मान, अपमान और रोगी, निरोगी आदि संसारकी संपूर्ण दशाओंमें प्राणी दुःखी है।

जिसमें 'ख' अर्थात् इन्द्रियोंको विषय दुः-खराब प्रतीत हों अथवा जहां इन्द्रियोंको बुरा अनुभव हो वह दुःख है, और जहां इन्द्रियोंको सु- अर्थात् सुहावना अनुभव हो वह सुख है, चाहे इन्द्रियों सुहावना अनुभव हो और चाहे असुहावना, आकुलता दोनों में है इसलिये सुख दुःख दोनों विकार हैं। आनंद आत्माका गुण है, आनंद शब्दकी

व्युत्पत्ति है आ समन्तात् नन्दतीति आनन्दः अर्थात् जो जैसे चारों ओरसे समृद्धिशाली बनावे। सुख दुःख दोनों विभाव परिणति हैं, वास्तविक आनन्द तो अपने स्वभावमें रमण करने से ही होता है। सुख दुःख दोनोंमें स्वभावका घात है। वास्तविक आनन्द तो स्वभाव में रहनेसे ही है। संसारी जीव जिनमें सुखका आभास करते हैं वह सब सुखाभास ही है। किंतु आनन्द सुखसे विलक्षण है। आत्माका गुण आनन्द है उसीमें लोक सुख शब्दका व्यवहार करता है। भगवान भी सच्चिदानंद नामसे प्रसिद्ध है। सत् कहिये शक्ति, चित कहिये ज्ञान और दर्शन और आनन्द यह चतुष्टय जिनके प्रगट हो गया वे भगवान हैं, अरहंत हैं, सच्चिदानन्द हैं। तो अब सुखीकी तलाश करो सुखी कौन है? सुखी तो वीतराग भगवान् हैं। जिनके इन्द्रिय ज्ञान और सुख है, ऐसे जीवों की सभी अवस्थाएँ दुःखमय हैं। सुख की अवस्था वीतरागता ही है। जो ऐसी श्रद्धा नहीं करते वे दुःखी ही रहते हैं। और वे सुखका उद्यम नहीं कर सकते; क्योंकि प्रयत्न श्रद्धाके अनुसार होता है, जैसे—जिसको यह श्रद्धा है कि यह पड़ोसी लखपति है इसलिये सुखी है तो वह भी लखपति होने का प्रयत्न करता है इसी तरह जिसको यह श्रद्धा हो गई कि सुखी तो मात्र केवल (वीतराग) भगवान हैं तो वह भी वीतरागताका उद्यम करने लगता है। यह तो धर्मकी पहिली बात है, जिसको ऐसी श्रद्धा हो वह ही सद्गृहस्थ हो सकता है और वही धर्म का पात्र है जिसको श्रद्धा कैवल्य अवस्थामें हितकी हो। जगतकी सर्व अवस्था सुख की नहीं किंतु दुःखमय है ऐसी प्रतीति हो गई हो।

आप दृष्टि पसारकर देख लें चाहे करोड़ पति हों महाराज हों नेता हों ये सब हमारे जैसे ही दुःखी हैं। क्योंकि हमारी तरह इनके भी कषाय भाव पाये जाते हैं। जो दुःखी जीवों को सुखी मानले तो वैसे ही होने की लालसा होगी। सुनते हैं देवता लोग बड़े सुखी हैं किंतु वे देव भी रागद्वेष मोह और इन्द्रियोंके आधीन हैं, इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष ज्ञान है, और परोक्ष ज्ञानका साधन इन्द्रियां हैं तब जो परोक्ष

ज्ञानी हैं उनकी इन्द्रियोंमें भिन्नता होना प्राकृतिक बात है, और जब इन्द्रियों में भिन्नता हो गई, तब आकुलता होना प्राकृतिक है इसलिये जो इन्द्रियों और मनके दास हैं वे सुखी नहीं हो सकते। जगत के प्राणी प्रायः ऐसे ही तो हैं, आनन्द तो तब हो जब इन्द्रियां और मन की हड़ताल हो जाय यह हड़ताल तभी हो सकती है जब भेद विज्ञान और शुद्धात्माकी रुचि हो। मेरा ही आत्मा स्वयं ज्ञान और आनन्द स्वरूप है, जगतके बाह्य पदार्थ न मेरे आनन्दके कारण हैं और न ज्ञान के। ज्ञानका अर्थ सहज ज्ञान करना। अब आप विचारो कि जितने समय आपका वक्ताकी ओर ध्यान है व वचनोंका ख्याल हो क्या सहज ज्ञान हो सकता है? आपका जब किसी बाह्यपर ध्यान न रहे, न इन्द्रियोंको किसी भी विषयका ग्रहण रहे ऐसी संकल्प विकल्प रहित स्वविश्राम अवस्थामें ही सहज ज्ञान और आनन्द होता है जो लोग पुण्यसे सुख मानते हैं वे सब नाबालिग बच्चे हैं। जैसे किसी लखपतिका मरण हो जाय और बच्चा नाबालिग हो तो उसकी जायदाद सरकार कोर्ट कर लेती है, और बच्चेके पालनकेलिये १००)-२००) रु० माहवार देती रहती है, वह नाबालिग सरकारकेगुण गाता है किंतु बालिग होनेपर सरकारपर मुकदमा कर देता है और अपनी पचासों लाखोंकी सम्पत्ति वापिस लेकर रहता है इसी तरह पुण्य-कर्म सरकारने आत्माकी सम्पत्ति छीन ली है। यह निमित्त दृष्टि से देखते जाइये, उस सम्पतिके एवजमें कुछ सुखसामग्री मिलती है। तब यह नाबालिग अज्ञानी जीव पुण्यके ही गुण गाया करता है, किंतु जब ज्ञानी होनेपर होश आता है कि इस पुण्य सरकारने हमारे अटूट आनन्दको लूट लिया है और उसके बदलेमें कुछ सुख सामग्री दे रहा है तब ज्ञानी पुण्य सरकारसे लड़ने लगता है। अपने स्वभाव का पता पड़नेपर, परका तिरस्कार करता है। वह सोचता है—कि संसारकी चीज कितने दिन तक साथ देगी? ऐसा केवल वह सोचता ही नहीं यह बात प्रतीतिमें उसके बैठ जाती है। कर्मोंसे लड़ना और उसपर

विजय पाना इसलिये सरल है कि प्रकृति (स्वभाव रीति) हमारा साथ अनादिसे दे रही है। मैं एक अखंड स्वचतुष्टयमय सत् हूँ स्वयं सत् हूं। मुझमें किसी भी अन्य द्रव्यका द्रव्य, गुण या पर्याय प्रवेश नहीं पा सकता जैसे कि सभी द्रव्यों में कोई अन्य द्रव्य प्रवेश नहीं पा सकता तब कोई परिश्रम भी विजयकेलिये आवश्यक नहीं केवल अपनेको समझ लेने भरकी देर है, शांति मार्ग स्वयं ही ज्ञान नेत्रके पथमें बैठा मिलेगा।

जिनका ज्ञान परोक्ष है उनकी मित्रता इन्द्रियोंसे होती है, दुःख न सह सकनेसे इन्द्रियोंके विषयोंमें वह प्रवृत्ति करता है। वह विषय प्रवृत्ति विषय सेवनकी आकुलता रूप दाहसे होती है।

इन्द्रिय विषय रोग हैं और उनकी दवा है, विषय-सेवन। जो रोग को दबा दे वह दवा कहलाती है, विषय सेवनसे भी कुछ क्षणके लिये उस जातिकी आकुलता दब जाती है। यह आकुलता कहीं विषयादिसे नहीं आती किन्तु जिनके कुबुद्धि है उनके स्वतः उत्पन्न हो जाती है। प्राणीका विषयोंमें प्रेम होनेसे ही उसको उसके विकारी भावोंसे दुःख है। बाह्य पदार्थमें दुःख नहीं है। हाथी हथनीके स्पर्शकी आकुलतासे स्वयं गड्ढेमें गिरता है। झूठी हथनीने (जिसेकि लोग हाथी को वश में करने के लिये बनाते हैं) या गड्ढेके ऊपर छाये गये बांसोंने उसे गड्ढेमें नहीं गिराया, वह स्वयं अपने विषय सेवनके आकुलित भावोंसे गिरा। मछली को धीवर-वंसी में मांस वगैरहका लोभ देकर पकड़ता है और उसे प्राण गंवाने पड़ते हैं इसमें मछलीको दुःख हुआ अपने रसना इन्द्रियके विषय सेवनकी आकुलतासे, वह उस आकुलतासे प्रेरित होकर धीवर की वंशीकी तरफ न दौड़े तो धीवर वंशी या उसमें लगा हुआ मांस या आटा उसको कैसे पकड़ पाता। घ्राण इन्द्रियकी विषय लोलुपतामें भौंरा स्वयं कमलमें बंद हो जाता है और अपने प्राण गँवाता है। चक्षु इन्द्रियकी विषय-पूर्तिकी दाहमें पतंगा दीपकसे टकरा टकराकर

जल मरता है और हिरण रागकी तानमें अपनेको भूल शिकारी द्वारा पकड़ा जाता है और दुःखी होता है ये पांच इन्द्रियोंके विषय अलग २ उदाहरण हैं, जिनको सेवन करनेकी आकुलतामें प्राणी उन उन पदार्थों के कारण नहीं किन्तु अपने निजी विकारी, अशांत वा आकुलित भावोंसे ही उनकी तरफ खिंचता है और दुःखी होता है। तब एक साथ पांचों इन्द्रियोंके विषय सेवनसे क्या होगा? यदि इस मोही मानव-कीटकी २४ घंटेमें प्रत्येक क्षणकी फोटो ली जाय तो वे फोटो कैसी कैसी होंगी। बहुत फोटो आकुलताको बिगड़ी सूरत को दिखाने वाली ही होंगी। तात्पर्य यह है कि आकुलता में सहज शांति का रूप कहांसे दीखे।

साधु भी संसार और मोक्षका स्वरूप रूप विकल्प करनेसे उतने अंशमें दुःखी हैं, उस तरहकी कषाय करनेसे। जबकि आंशिक विकार जानेसे आंशिक सुखी भी है। हमें सुख है तो हमारे एकत्व स्वरूपसे। बाह्यदृष्टियोंमें अनाकुलता असंभव है। विषय सम्बन्धमें सुख भ्रममात्र है। लोक विषयोंकी चाह रूप दुःखको मेटनेके लिये उनमें प्रवृत्ति करते हैं, इसके लिये खाने, कमाने तथा और दूसरे सारे व्यवहार करने वाले दुःखी हैं, केवल निवृत्त जीव सुखी हैं। जिसको घाव हो जाता है वही मलहम लगाता है, संसारी प्राणी भी आकुलता रूप घाव होनेसे ही विषय-सेवन रूप मलहम लगाता है। आकुलता से बचनेका उपाय आकुलता और अनाकुल स्वभावका विवेक है।

अतः भेद ज्ञान ही मोक्षकी कुञ्जी है। उसके अभावमें परोक्ष ज्ञानकी ममता वाले दुःखी हैं। जिनका विचार होता है कि शरीरको निरोगता आदिसे सुख मिलता है सो यह उनका भ्रम ही है, शरीर जड़ है, पर है, विनाशीक है. उसमें सुख कहां? सुखतो अपनेमें ही अपनेसे मिलेगा। बाहर

सुख कहांसे आयेगा ? इन्द्रिय सुख तो आत्माके आनन्दका विकार है। मेरे आनन्दका कारण मैं ही हूँ। जगतके पदार्थों में आसक्ति न कर केवल्य अवस्था ही सुख का कारण है, ऐसी प्रतीति ही सद्ग्रहस्थ होने का कारण है। जो लोग इसकी उपेक्षा करके कल्याणकेलिये और और उपाय करते रहते हैं वे अपने स्वरूप वा सुखको कभी भी न पा सकेंगे ऐसा निश्चय समझो। जब भी उनको उसकी उपलब्धि होगी तब होगी निजको ही आश्रय करनेसे। जो चीज निजमें नहीं वह बाहर कहां से आवेगी ? जहां की चीज जो होगी वह वहां ही से मिलेगी इसे ध्यानमें लो और सद्ग्रहस्थ बनो।

जिन्हें आत्म लाभ करना है, उन्हें हमेशा अपनेको आत्म विद्यार्थी मानना चाहिये। आत्मविद्या सुन्दरतम और उपमा रहित वस्तु है। विद्यार्थी ही विद्यासे सुसंस्कृत होकर आत्माका, देश वा संसारका सुधार करते हैं। जिनको विद्या, आत्मा वा हित की चाह नहीं वह विद्यार्थी नहीं। विद्यार्थी कहलाने वाले सच्चे विद्यार्थी बनें। विद्यार्थी—स्कूल कालेजके हों या कार्य क्षेत्रमें कार्य करने वाले हों उन्हें ३ बातें याद रखना चाहिये।

१—विद्याभ्यास। २—विनय और ३—ब्रह्मचर्य।

आज जो कलह, उपद्रव, अशान्तियां और विपदाएं आती दीखती हैं वे सब विनयके अभावसे हैं विनयमें यह विशेषता है कि वह दूसरों को भी नम्र और प्रेममय बना देता है।

आधुनिक प्रवाहमें विनय न होनेसे उनका तो नुकसान होता ही है किन्तु उसका असर परिवार समाज और देशके लिये कितना घातक होता है ? नहीं कहा जा सकता। किन्तु विनय स्वर पर दोनोंको सुधार देता।

माधनंदीमुनी बड़े तत्त्वज्ञानी थे, लेकिन वे चरित्र मोहसे पथभ्रष्ट होगये और ग्रहस्थ बन कर रहने लगे। एक जगह साधु गोष्ठीमें

तत्त्व चर्चाके समय किसी एक बातका निर्णय न हो सका। तब तजवीज की गई कि इस प्रश्नको माघनंदी आचार्य हल कर सकते हैं। एक साधु मुनिके पास गये और विनय पूर्वक उनसे उस प्रश्नका उत्तर पूछा, मुनिको होश आया और सोचा जिस तत्त्व ज्ञानके कारण लोग मुझे इस दशामें भी आदरसे पूछते हैं, चरित्र की मलिनता करके उसे दूषित क्यों करना चाहिये और बाद में प्रायश्चित लेकर वे फिर अपने साधुपनेमें दीक्षित और स्थिर हो गये। एक साधुकी विनयने माघनंदीका कितना कल्याण किया! विनयमें वह शक्ति है कि जो वशमें न होता हो वशमें हो जाय अधमका उद्धार हो जाय।

२—विद्याभ्यास—बेकार समयमें मन विषयोंका आदर करने लगता है, खोटे वातावरणमें आ फँसता है, इनसे बचनेकेलिये विद्याका अभ्यास करते रहना आवश्यक है। पूर्वाचार्योंकी दृष्टि हमारे लिये हितकी थी और इसीसे उन्होंने हमें हमारा कल्याण ही दिखाया, किन्तु उसे हम न जानें मानें तो हमारा अहित ही है।

३—जिनका मन विकारों में फैला रहता है उसका जीवन, जीवन नहीं है। और जो अपनेको विद्यार्थी समझते हैं वे यदि ब्रह्मचर्यसे न रहें तो वे ठोस विद्याका लाभ कदापि नहीं कर सकते।

आत्म विद्यार्थियोंको इन ३ बातोंका हमेशा ध्यान रखना चाहिये। प्रतिदिनकी डायरीमें इसका लेखा रखना चाहिये कि आज इन तीनों को कितने अंशमें पाया, क्या तरक्की की, क्या दोष लगा, आगे के लिये क्या प्रेरणा मिली आदि। इस रीतिसे विद्याध्ययन करनेसे उपयोगीका समाजका और उसके निमित्तसे अन्य भव्य आत्माओंका सुधार होगा।

विद्याको चाहने वालोंको चाहिये कि वस्तुकी यथार्थताको पहिचाने। कुछ पदार्थ और स्वयं अपनेको समझनेकी कोशिश करें। अध्यात्मसे रहित विद्या विद्या नहीं।

मूलरूप में—हितार्थीको मालूम होना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति वा प्रत्येक पदार्थकी जिम्मेदारी स्वयं उसी पर है। हमारी उन्नति और अवनति हमारे अच्छे या बुरे भावोंपर निर्भर है।

व्यक्तिको अपना (आत्मा का) अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये। अथवा जाने अनजाने वह स्वीकार करता ही है। जो आत्मा का निषेध करते हैं, वह उसका अस्तित्व ही प्रकट करते हैं, क्योंकिनिषेध करने वाला द्रव्य ही तो आत्मा है। इस आत्माका अस्तित्व स्वयं है जैसे और दूसरे पदार्थोंका। प्रत्येक आत्माका अस्तित्व स्वतन्त्र है। वह यथार्थत परसे असहाय है। जो सहाय दीखते हैं वे उसके पुण्यसे हैं। ऐसे अशरण रूप संसारमें अनुरक्त न होना चाहिये। यदि भोगादिमें समय निकाला तो पश्चात्ताप और दुःख हाथ रह जायगा। जितने भी मत हैं वे आत्मसिद्धि चाहते हैं।

इस आत्माके कथनको ही ब्रह्मवाद आदि नामों से कहा जाता है। और फिर उससे अनेक अद्वैतवाद और द्वैतवाद चल पड़े।

वीतराग आप्त आत्मवाद या ब्रह्मवादके पूर्ण प्रमाणिक प्रणेता हो गये हैं जिन्होंने हमारे कल्याणके लिये सत्य अर्थका निरूपण किया। उन्होंने सत्यको समझनेकेलिये **स्याद्वाद** की नीति दिखाई, प्रत्येक पदार्थमें अनंत धर्म वा गुण हैं, इसलिये उसको किसी एक रूप से ही कहना झूठा पड़ता है, अपेक्षासे पदार्थका कथन करनेसे ही सत्य-अर्थ का बोध हो सकता है। सत्यकी खोज स्याद्वादसे ही हो सकती है। एकांती हठी उसे नहीं पा सकता। स्याद्वाद, दर्शन और धर्ममें ही चलता हो यह बात नहीं है। उसके बिना हमारे छोटे मोटे कोई भी व्यवहार या व्यापार नहीं चल सकते।

आत्म विद्यार्थी बननेवालेको उचित है कि विद्या प्राप्तिकेलिये वह

साधक उक्त तीन बातों पर ध्यान रखते हुए स्याद्वाद विद्या के द्वारा सत्य-धर्मकी खोजकरे, आत्मा और परमात्माकी शोध करे और अपनी आत्मा को ऊंचा उठावे । आत्मोन्नतिके अतिरिक्त अन्य कुछ भी अपनामुख्य लक्ष्य ननावे, क्योंकि सुख अपनेमें ही है। अचेतन पदार्थमें तो सुख गुणका अत्यन्त अभाव है । और जो अन्य चेतन पदार्थ हैं उनमें भी मेरा सुख गुण नहीं तब पर पदार्थ की आशामें सुख कहांसे आवेगा। पर परको जगह है हम अपनी जगह हैं उनसे हमारा सुख नहीं है और इसी कारण उनसे कोई दुःख भी नहीं है। सुख तो निर्मलताका प्रसाद है और दुःख आशा पर्यायका शाप है। अथवा आशा ही दुःख है इन्द्र भी आशावान हो तो दुःखी है। कोई भी हो आशा हों तो दुःखी है । आशावान कहो या दुःखी एक ही बात है । व्यवहार में बालक और निष्फिकर व्यक्ति सुखी कहनेमें आते हैं । क्योंकि उन्हें आशाओंकी बांध नहीं लगी इससे ही अंदाजा कर लो कि जिनके वास्तवमें आशाका कोई संस्कार व लगाव ही न रहा हो तो वे कितने सुखी होंगे? अनंत सुखी। वीतराग तो आशा रहित ही हैं इसलिये वे पूर्ण सुखी हैं । जो निष्परिग्रह हैं वे सुखी हैं। परन्तु जो आशाके वश हैं वे दुःखी ही हैं।

एक किंवदन्ती है भैया! एक बार गुड़ सरागियोंके माने हुये भगवानके पासगया और बोला कि हे नाथ हम बड़े दुःखी हैं जब खेतमें खड़े हो जातेहैं तो लोग उखाड़ कर और चूस-चूस कर हमें खाते हैं। फिर रस निकाल कर और कड़ाहीमें सीरा बनाकर भी खाते हैं। गुड़ (मेरा पूरा रूप) बननेपर डली बनाकर खाते हैं, और यदि मैं खराब हो गया, सड़ गया तो तमाखूकी गुड़ांखू बना कर काममें लेते हैं। हर दशामें लोग हमें तंग करते हैं। अब कोई रास्ता बतलाइये जिससे इन दुःखों से छूट जाएं। भगवान बोले मेरे सामनेसे हट जा यही न्याय है । गुड़ पूछता है क्यों? तब भगवान कहते

हैं मेरे मुंहमें भी तेरे खानेकेलिये पानी आ गया है। यह आशा बड़ी बुरी चीज है—जिसके भी होगी उसे दुःखी हो करेगी। सुख तो स्वास्थ्यमें हैं। स्वास्थ्यका भाव निराशा। शारीरिक स्वास्थ्य, स्वास्थ्य नहीं है। पहलवान स्वस्थ नहीं है। स्व अर्थात् 'आत्मा' उसमें ठहरना स्वास्थ्य कहलाता है। ऐसा ही स्वास्थ्य आत्माके लिये हितकर और उत्तम है।

भावना करो कि मैं दूसरोंका नहीं है। मेरा कोई नहीं है। मेरा कोई नहीं। ऐसा प्रतीति पूर्वक—आत्मसाक्षी पूर्वक विचारिये कि मैं तो एक ज्ञान मात्र हूं। मैं तो एक, अखंड, ज्ञायक स्वरूप आत्मा केवल ज्ञान मात्र हूं। जो इस प्रकार ध्यान में लाता है वही आत्मध्यानी है। अंतरंगमें बार बार विचारिये। व्यवहार दृष्टिमें—पर का निषेधरूप विचार है। निश्चय दृष्टिमें केवल अपना ही विचार है। पहिले व्यवहारसे निर्णय करके निश्चयपर ठहरता है। वह आत्माका ध्याता है। व्यवहारनयका विरोध न करके मध्यस्थ रहो। व्यवहारनयके विरोधमें दृष्टि व्यवहारमें फंस जाती है। और वह व्यवहार दृष्टि-पर्याय दृष्टि रहती है।

व्यवहारमें मध्यस्थ होनेका कारण यह है कि यह व्यवहारनय अशुद्धको निरूपण करता है, अशुद्ध संसारमें है व्यवहारका विषय भूत झूठ नहीं है। यदि अशुद्धता झूठी हो तो अच्छा हो, उसको दूर करनेकेलिये व्रत तप आदि करनेका उद्यम न करना पड़े लेकिन ऐसा नहीं है। उसमें पदार्थ व्यवस्था नहीं रहेगी अतः सब है, फिर भी जहां दो द्रव्योंको रखकर सोचा जाता है वहां झगड़े होते हैं। अकेले को सोचा जाय तो कोई झगड़ा नहीं। "केवल एक आत्माको देखे वह निश्चय है।" एक आत्माका निरूपण करने वाला ही निश्चयका निरूपण है।

आत्मामें राग कौन करता है? रागका करने वाला कौन है? यह आत्मा ही है, स्त्री पुत्रादि बाह्य पदार्थ नहीं। जगतके पदार्थ

हमारे रागको नहीं करते। यह निश्चय दृष्टिसे रागको देखना है। अर्थात् अशुद्ध निश्चयसे आत्माको देखा परम शुद्ध निश्चयसे नहीं, क्योंकि अशुद्ध पर्यायमें देख रहे हैं। यदि परम शुद्ध निश्चय नयसे आत्माका राग कहा जाय तो वह स्वरूप बन जायगा अतएव अविनाशी हो जावेगा। इसमें केवल अपनेको देखा जगत वा निमित्त की ओर नहीं देखा। निश्चयकी दृष्टिमें अपने सिवा दूसरोंको नहीं देखा, तब राग क्यों बढ़ेगा? यह शुद्ध द्रव्यके देखनेका तरीका है। निमित्तका देखना छूटा कि राग छूटा। अतः शुद्धका अवलंबन करो। यह भावना करते हुए कि मैं न दूसरोंका हूं और न मेरा दूसरा कोई है इस प्रकार की भावनासे भावकने परस्परके स्व स्वामी सम्बन्ध को खतम किया।

अपना शुद्ध स्वरूप मेरा है। पर मेरा नहीं, मैं ज्ञान मात्र हूं, ऐसा निश्चय करके एक आतमा में ही अपनी चिता को रोकता है तो शुद्धनय के अवलोकनसे शुद्धनय-तत्त्व प्राप्त होता है। वह वास्तविक स्वास्थ्य है। जिसके जिस समय आशा निकल गई उसको उसी समय सिद्धि है।

जगतमें ऐसी अन्य कोई चीज नहीं जो चाही जाये, जड़ वस्तुए. प्रकट रूपमें पराई हैं, पुत्र कलत्रादि स्वार्थी हैं। जगतमें हित रूप चाही जाने वाली चीज न मिलेगी।

कीर्ति और सम्मान भी हित रूप वा चाहने योग्य नहीं है।

कवि लोगों की कल्पना है कि कीर्ति अभी तक कुमारी फिर रही है और आगे भी ऐसी ही फिरती रहेगी, वह किसी एककी बनकर नहीं रह सकती। सो क्यों? बात यह है कि कीर्ति जिसको चाहती है वह उसे नहीं चाहता। महात्मा पुरुषोंको वह चाहती है किन्तु वे उसे नहीं चाहते और जो उसे चाहते हैं उसे वह नहीं चाहती। माना कि लोग उसे चाहते हैं लेकिन उन्हें वह नहीं चाहती। कीर्ति कभी किसीकी बन

कर नहीं रहती। और फिर देखो भैया कीर्ति किसकी रही। अनंत तीर्थंकर होगये लेकिन उनमेंसे हम वर्तमान २४ तीर्थंकरोंका ही नाम लेते हैं उनमें भी २-४ को ही ज्यादा जपते हैं। उनके २-४ के अलावा, और दूसरे तीर्थंकर कम कीर्तिमान हैं सो बात नहीं, उनका कीर्ति अनन्त चतुष्टयसे समान है। यह तो रागी लोकोंकी कल्पना रह गई। लोकमें भी देखो नाम ज्यादासे ज्यादा पुत्र या पौत्र तक चलता है। सो भी कोई कभी कभी स्वार्थवश कहता है। सो उस नामके लेलेनेसे जिसका नाम लिया जाता है उसे क्या लाभ होता है ?

वस्तु स्वरूपसे विपरीत दृष्टि मिथ्या दृष्टि है। अपनेको परकी ओरसे अशरण असहाय विचारो, तब नाम, रुपया पैसा वा पुत्रादि क्या चाहने योग्य रह जाता है ? कुछ नहीं। मोही प्राणी जिस पुत्रादिकी चाहना करता है, उनसे होने वाले दुःखका विचार तो करो पुत्र कितना दुःखदायक है यह दुष्ट है ऐसा विचार न करो किन्तु वह हमारे लिये दुःखका कैसा निमित्त है सो विचारो। जब वह गर्भमें आता है तब स्त्रीका रूप बिगाड़ता है, गर्भ बड़ा होने पर कई तरहकी चिंताएं आती हैं सकुशल पैदा होने पर मां को असह्य वेदना सहनी पड़ती है, पिता को भी दुःख होता है क्योंकि स्त्री मरणका प्रसङ्ग है। फिर बचपनमें उसकी दिन रात सेवा टहल और उसके सुख दुःख की चिन्ता आदि बड़ा दुःख रहता है। वह जब किसी बातको लिये रटता है हट करता है तब उसे मनाने और रिझानेका दुःख उठाना पड़ता है। बड़ा होनेपर उसके पढ़ाने और योग्य बना देनेकेलिये अनेकों चिन्ताएं और दुःख होते हैं। उसके विवाहकी चिंता भी कम नहीं होती। विवाहित होनेपर जब वह स्त्रीके प्रेममें फँस जाता है और माता पिताका यथोचित आदर व सेवा सुश्रूषा नहीं करता तब महान् मानसिक पीड़ा होती है। कोई कोई पुत्र तो पिताकी संपत्तिको अपने ही अधिकारमें करनेकी सोचने

लगते हैं और संपत्तिको हड़प भी लेते हैं। पुत्र यदि कुपुत्र हुआ कलंकी हुआ तो महान् दुःख होता है। पुत्र के सुपूत होने का भी दुःख कम नहीं है। सुपूत खूब आराममें रहे, इसे खूब धन कमाके रखदूं आदि चिंतासे जिन्दगी भर जुतता है। पुत्रीके विवाह और जीवन भर उसके सुखी रहनेकी चिंताका भारी दुःख है। इसी तरह स्त्री, बन्धु, परिवार आदि के दुःख समझना चाहिये। तब संसारकी कौनसी चीज चाहने योग्य रही? कोई नहीं, तब आशा को दूर करो, पर्याय बुद्धि दूर करो एक निज आत्माको देखो और उसीमें रहो। शेष सारी उपाधियां समाप्त करो, आधि और व्याधि समाप्त करो।

आधि, व्याधि, उपाधिका अर्थ—

आधि मानसिक चिंताको कहते हैं। उस चिंताके 'उप' पास जो रहे उसे उपाधि कहते हैं और आधिसे व्याधि अर्थात् विशेषित अवस्थाको व्याधि कहते हैं। ये सब ही उपाधि हैं इनके सम्बन्धसे यह जीव शांतिसे दूर हो रहा है। शांतिका उपाय तब तक नहीं हो सकता जब तक शांतिमय स्थितिकी पहिचान न हो। इस ही प्रकाश के अर्थ सर्व प्रथम साध्य अवस्था का निर्देश करते हैं।

सूत्र—निरुपधिस्थितिहिता साध्या ॥१॥

जगतमें जितने प्राणी हैं वे सब अपनी उच्च स्थिति चाहते हैं और इसी इच्छासे प्रेरित होकर हर तरहका प्रयत्न उसके लिये करते रहते हैं। लेकिन संसारका वह पदार्थ, वह कार्य, वह स्थिति कौनसी है जिसमें उसकी यह इच्छा पूर्ण हो? कोई नहीं। जगतमें जितने भी परिणमन होते हैं वे सबके सब उनके अपने चतुष्टयसे होते हैं। स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव। फिर भी उनके ये स्वयं परिणमन बिना निमित्तके पाये नहीं होते। शुद्ध द्रव्यों का परिणमन भी काल निमित्तको पाकर होता है। साधारणतः सोपाधि परिणमनको ही निमित्त पूर्वक परिणमन कहते हैं, जैसे विकारी जीवों

और पुद्गलोंका परिणमन। किन्तु एक स्वाभाविक परिणमन ही विविध निमित्तोंसे तो नहीं होता है फिर भी साधारण द्रव्य निमित्तमात्र रहता है। शुद्ध सिद्ध जीवोंका परिणमन स्व-द्रव्य क्षेत्र काल व भावके चतुष्टयसे स्वयं उपादानसे होता है, लेकिन उसमें काल द्रव्य निमित्त है, स्वाभाविक पर्यायके पलटनमें अधर्म द्रव्य शुद्ध जीव द्रव्योंकी स्थितिमें निमित्त है सद्भाव रूपसे। ऊर्द्धगमन स्वभाव होनेपर भी आगे गमन न हो सकनेमें धर्म द्रव्य निमित्त है अभाव रूपसे। आकाश द्रव्य उनको स्वक्षेत्रके आधारकेलिये निमित्त है और पुद्गल कर्म-कर्म रूप पुद्गल अभाव रूपसे निमित्त है। इसी तरह अन्य शुद्ध द्रव्योंके परिणमनमें अन्य द्रव्य कोई सद्भाव रूप कोई असद्भाव रूप निमित्त पड़ते हैं। इतना सर्व निमित्तत्त्व होनेपर भी देखलो भैया शुद्ध परिणतिमें कोई असाधारण निमित्त नहीं है अतः निमित्तोंके अभावमें हुई यह निरुपधि दशा ही स्वभावके परितः पूर्ण विकास रूप है। यहां निमित्तका निरूपण सुनकर कहीं संबंध दृष्टि नहीं लगाना यहां तो यही देखना कि अहो द्रव्यका यह कैसा स्वतंत्र स्वभाव है कि अन्यको निमित्तमात्र करके प्रत्येक द्रव्य केवल अपनी परिणतिसे अपने बलको प्रकट कर रहा है। अब विकृत अर्थोंकी बात सुनो।

विकारी—जीव पुद्गलोंके सोपाधि परिणमनमें अन्य द्रव्योंका जो निमित्त है वह तो स्थूल रूपमें दिखता ही है।

संसारके विकारी परिणमन सोपाधिक परिणमन हैं। बाह्य समागम, परिवार, मित्र, सेवक वैभवसे जीव अपनी दृष्टिको भूल अपनेको बड़ा मानता है उसे अपने पदार्थ बड़प्पनका ख्याल नहीं, क्योंकि दृष्टि स्थूल है, स्थूल पदार्थ ही उसके लिये सब कुछ है, उसीमें बड़प्पन सुख और हित नजर आता है। उसे यही ध्यानमें नहीं आता कि मैं भगवान् स्वरूप हूँ। मेरा बड़प्पन उसीमें है, जिसमें कि बड़प्पन का विकल्प नहीं है।

सोपाधि परिणमन क्या है ? संक्षेपमें कहें तो विषय और कषाय-रूप परिणमन। इन्द्रियां विविध विषय और राग द्वेषकी असंख्य अनन्त परिणतियां सब औपाधिक परिणमन है। उस सोपाधि परिणमनमें कभी निराकुलता नहीं रहती सो अच्छी तरह देखलो। सोपाधि परिणमनमें कभी निराकुलता नहीं होती। अतः निराकुलताकेलिये दुःख निवृत्तिके लिये साध्य है निरूपाधि परिणति निरुपधि स्थिति। यह निरुपधि स्थिति अर्थात् मुक्ति अवस्था, शुद्ध पर्याय कैसे प्रकट होता। अनादिसे भूले भटके हुए प्राणी जिन्हें विषय कषायोंसे अवकाश नहीं मिला उनके लिये कोई क्या ऐसा उपाय है जो चाह दाहको बुझा सकें ? इसके उत्तरमें मौलिक दृष्टिके वर्णन से प्रारंभ करते है यदि सर्वप्रथम व्यवहार चारित्र का वर्णन करें तो वही दृष्टि मुख्य हो जाता अतः मौलिक उत्तर देना यहां आवश्यक है। बाह्य व्रत तप शुद्ध दृष्टि वाले अन्तरात्माके मार्गमें आते हैं महाव्रतादि न आवें तब अन्तरात्माकी जघन्य अवस्था समझिये किन्तु साथमें यह भी बात है कि बाह्य महाव्रत आदि भी हो जावे और यदि स्वानुभूति न प्राप्त हुई हो तो वह सब केवल आश्रव बंध रूप है अतः जिसके अभावमें महाव्रतादि निष्फल है और जिसके सद्भावमें महाव्रतादि व्यवहार चारित्र होते हैं और जो निरूपाधिस्थितिकी साधिका है उस दृष्टिका निरूपण करते हैं—

तपस्याः साधका निरुपधि दृष्टिः। २॥

उस निरुपधि स्थितिकी साधने वाली (सिद्ध करने वाली) निरुपधिकी दृष्टि अथवा निरुपधि दृष्टि हैं। इसका अनुभव संसारी दशामें भी किया जा सकता है। जैसे—जो संसारी पदार्थोंको लक्ष्य करके विचार करते हैं वैसे ही शुद्ध वा अशुद्ध आत्मतत्त्वका विचार करें। वहां परद्रव्यका विचार हट कर—अन्यविषयक विकल्प रुक कर केवल आत्माका ध्यान रहे तब निमित्त दृष्टि हटनेसे रागका स्रोत बंद होते आत्माका स्वाद आने लगे वह निरुपधि स्थितिकी

अनकूलताका साधक है। बाह्य दृष्टिमें वह नहीं है, क्योंकि वह बाह्य नहीं है। श्रद्धाअन्तरकी अटल होना चाहिये। यदि स्वाभाविक दशामें हितकी बुद्धि करें और वैभाविकमें अहितकी दृष्टि करें तो उसे पा सकता है। समयसारमें पहिले सिद्धको ही नमस्कार क्यों किया ? आत्माके शुद्ध अंशको प्रकट करने वाला समयसार है। सर्व आत्माओंमें रहने वाला सामान्य अंश है। वह समयसार है। उसके अनुरूप अविरुद्ध विकास करनें वाले जो हैं वे सिद्ध हैं। वे चारों ओरसे, शरीरसे, शरीरबद्धतासे, कर्ममलोंसे, ऊपरी और भीतरी कर्ममलोंसे रहित सिद्ध अवस्था वाले हैं। इसी कारणसे समयसारमें अपने लक्ष्यके अनुसार सिद्धोंको ही नमस्कार किया है।

इसको समयसारमें कहा कि———प्रतिच्छंदस्थानीयान्, हमको क्या बनना है? इसके उत्तरमें अंगुली जिसपर उठे जिसपर दृष्टि जावे उन्हींके लिये हमारी आराधकता है। उन्हींके लिये नमस्कार करना ठीक है। जिसका अनुकरण समयसार कारने किया है। इस लक्ष्यमें पुरुषार्थकी प्रधानता है। वीतराग और सरागदेव माननेमें यही अन्तर है कि वीतरागताकी उपासनामें निज पुरुषार्थका ही प्रधान लक्ष्य है जब कि—सरागी देवोंकी उपासनामें दीनताका ही भाव और लक्ष्य प्रधान है। जहां सुख—अर्थात् ख—माने इन्द्रियां उसके लिये जो सु—माने अच्छा—सुहावना लगे वह सुख कहलाया। ऐसे सुखकी इच्छासे, सांसारिक लिप्सासे, वासनासे सांसारिक पदार्थोंको प्राप्त करने, कोई अनिष्ट नहीं आने आदिके ख्यालसे जो उपासना है वह दीनतासे भरा ख्याल है। इसके विपरीत वीतरागकी आराधनामें—वीतरागताकी ही श्रद्धा है और वीतरागताकी ही इच्छा, ज्ञानीको अन्य व अन्य पदार्थों की आशा नहीं है, इसीलिये तो वह वीतरागताको नमस्कार करता है। स्वयं वीतराग होनेके लिये इच्छा है केवल इस कारण वह अपने लक्ष्यके अनुसार—वीतराग देवकी भक्तिमें वीतरागताका ही

सम्बन्ध रखता है। चूंकि निरुपाधि स्थिति बीतरागता ही है। मंगल-मय क्या है? रागद्वेष रहित एक ज्ञान ही मंगलमय है। मोक्षमार्ग प्रकाशकके कर्ता टोडरमलजीने इसीलिये इसको नमस्कार किया है। लोकरीतिमें जो बड़े कहलाते हैं उनके लिये कह देते हैं कि होंगे अपने घरके बड़े, हम अपने घरके बड़े हैं, लेकिन अरहंतके लिये कोई भी मुमुक्षु ऐसा नहीं कहता, कि होंगे वे अपने घरके बड़े, क्योंकि उनकी महानता लौकिक नहीं अलौकिक हैं। वे अलौकिक रूपसे महान हैं वे बीतराग विज्ञान होनेसे महान है। बीतरागताके इच्छुकोंको वे महान हैं, आराध्य हैं, पूज्य हैं, शरण हैं और मंगलमय हैं। उनकी व उन जैसे निज स्वभावकी आराधना करो। सोपाधिक भावनाओंको खतम करो। अपने आपमें ऐसी भावना करना चाहिये कि मैं सर्व परभावोंसे पृथक् केवल स्व हूँ यदि संसारका उच्छेद चाहते हो, दुःखसे छूटना चाहते हो और अपनी प्रभुताको प्रकट करना चाहते हो तो। जो ऐसी श्रद्धा न करोगे तो रुलोगे संसारमें, और उन असह्य दुःखों को सहने पड़ेंगे जो तुम स्वप्नमें भी नहीं चाहते जिसकी कल्पनासे रोंगटे खड़े होते हैं, और भय की कपकपी उठती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिनको स्वभावकी रुचि होती है उन्हें वही सुहाता है, जगत नहीं, जगतकी वस्तुएं और दशाएं नहीं। ऐसे जगत निरपेक्ष—स्वभाव रुचि वालोंके संवर और निर्जरा होती रहती है, और एक समय वह आता है जबकि सम्पूर्ण कर्म, उपाधि दूर होकर निराकुल पद प्राप्त हो जाता है, जो कि हमारा स्वभाव है, वास्तविक संपत्ति है, सुखका स्थान और अक्षय परमपद है।

संयोगी पदार्थके लिये भावना न होनी चाहिये। भावना होना होना चाहिये कि संयोग ना मिले, क्योंकि उसके वियोगका दुःख मिलना फिर अनिवार्य हो जाता है। जो संयोगको चाहते हैं मानो कि वे दुःख चाहते हैं, नहीं चाह कर भी अज्ञानतासे चाहते हैं, इसीलिये जो संयोग जुटाते हैं वे आगामी कालमें मानो कि दुःखी

होनेका उपाय करते हैं। स्वयं दुख लेनेका उपाय क्यों करते हैं ? इसके उत्तरमें क्या कहा जाय केवल मोहकी महिमाके अतिरिक्त। भाइयो ! अपनेको, सुखको, दुःखको और उनके कारणोंको समझो और सम्हलो, अनादि अनंत काल हो गया इस भूलमें भटकते और दुःख उठाते हुए, अब कब तक अपनेपर तरस न खाओगे ? दुःखसे पिंड न छुड़ाओगे। आचार्य हमारे लिये कितने स्पष्ट रूप से हमारी भूलको दिखा रहे हैं, और दिखा रहे हैं अपने अनंत सुख और अनंत ज्ञान शक्तिकी प्रभुताको जो हममें हमेशासे स्वभाव में बनी हुई है, जड़ कर्म जिसे अभी तक खतम नहीं कर सका और न कर सकेगा, क्योंकि और सब कुछ करे लेकिन यह तो उसके वश की बात नहीं। वस्तुतः जिनको संयोगमें हर्ष नहीं है वे दुःखी नहीं होंगे। वर्तमान में पूर्वके संयोगी भावोंसे बांधे हुए कर्मफलोंको भोग रहे हों तो भोगें, लेकिन भविष्य उनका उज्ज्वल है। और कर्मफल भोगते समय भी वे दुःखका संयोग होते हुए भी वे दुखी नहीं हैं, क्योंकि उनके कर्मफलचेतनाकी प्रधानता नहीं रही, वे पर, व परके भावोंके भोक्तापनेकी श्रद्धाको खतम कर चुके हैं।

ग्रहस्थोंका यही कर्तव्य है कि वे संयोगमें रहते हुए भी संयोग को न चाहें संयोगमें हर्ष न मानें, और इसी प्रतीतिके बल पर वियोगमें जो दुःख न मानते हों दुःखोंसे जो अपना अहित न मानते हों उससे भयभीत या कंपायमान न होते हों, ऐसे गृहस्थ संयोगमें हितकी बुद्धि कभी नहीं लाते। यह प्रतीति ही उनके लिये तपस्या है। यदि किसी मुमुक्षको गृहस्थीमें रहना ही पड़ेगा तो उसे अपनी यह दृष्टि बनाना चाहिये। वे संयोगोंको स्वप्नवत् देखें। स्वप्नवत् असत् नहीं, किन्तु अस्थिर, सारहीन और केवल कल्पनामात्रसे अच्छे लगने वाले देखें।

दौलतराम जी क्या कहते हैं कि—गेही पै गृहमें न रचे ज्यों जलमें भिन्न कमल है, नगर नारि को प्यार यथा कादेमें हेम अमल है।

ऐसी—दृष्टि और प्रवृत्तिमें ही निरुपाधि दृष्टि और स्वभाव रुचि रहती है, वही सुखरूप और सुखकर है। हितरूप और हितकर है। जबकि सोपाधि दृष्टि—हित वा सुख रूप न होकर अहित वा दुःख रूप है। ऐसी वह निरुपाधि अवस्था—सिद्ध अवस्था मिलती कैसे है? क्या भाग्य से? नहीं भाग्य तो दोनों ही खराब हैं क्या सौभाग्य और क्या दुर्भाग्य। क्योंकि वे उपाधिरूप है उपाधिजन्य है संयोगी हैं, पर कृत दशाएं हैं। अतः शुद्ध भावकी दृष्टि वाला भाग्यकी इच्छा नहीं करता। भाग्यकी इच्छा करनेका मतलब हुआ उपाधिकी इच्छा करना संयोगकी इच्छा करना और दुःखकी इच्छा करना। निरुपाधि दृष्टिमें तो पुण्य और पाप दोनों दुःख रूप हैं; हेय हैं विषैले हैं, पर हैं, अहितरूप और अहितकर हैं। उपाधिरहित दशा सर्व कर्मो से रहित दशा है। सारे भाग्योंसे रहित दशा है। उसीकी रुचि करना श्रेयस्कर है जिससे कि सोपाधि, क्षणिक अनेक दशाएं विलीन हो जाएं। दशाएं सोपाधि हैं, क्षणिक हैं, किन्तु जिसकी वे अनेकों ऐसी दशायें हैं वे किस एककी दशाएं हैं? वह एक क्या है? वह एक वह है जिसे नेत्रोंसे नहीं देख सकते ज्ञानसे जान सकते हैं। जैसे एक अंगुली की कई दशाएं हैं, सीधी, टेढ़ी, तिरछी, मुड़ी हुई आदि। कोई सीधी अंगुली दिखाकर कहे कि वह एक यह है तो यह ठीक नहीं वह दिखने वाली तो दशा है। दशा न दीखे वह एक दीखे तो समझा जा सकता है। वह एक तो ज्ञानसे मालूम होगा कि चीज एक है, जिसकी अनेक दशाएं हैं। उन सबमें वही है जिसकी अनेक दशाएं रहती हैं।

आत्मामें उस एकको दिखाओ, जिसकी पर्यायें हैं, मनुष्य, तिर्यञ्च, स्त्री, पुरुष, बालवृद्ध, स्वस्थ अस्वस्थ, पंडित, मूर्ख और सुखी, दुःखी आदि। जब एकको खोजोगे तो विशेष खतम होकर सामान्यपर दृष्टि जावेगी। विशेष अर्थात् पर्यायकी मुख्यता हटकर सामान्यकी मुख्यता कहो या निश्चयकी, द्रव्यकी मुख्यता हो जायगी। विशेष गौण

हो जायगा। सामान्य या निश्चयकी मुख्यतासे जो ज्ञानमें आवे वही निरुपाधि आत्मस्वभाव है। ऐसी आत्माएं सिद्ध ही नहीं हैं, सम्पूर्ण आत्माएं द्रव्यसे सामान्यसे ऐसी ही हैं। यह एक रूपता संसारी और सिद्ध सबोंमें एकसी है। जो ज्ञानसे समझनेमें आती है। वह ज्ञान स्वभावरूप या निरुपाधिमय है। वह एकरूपताको प्राप्त करनेका पात्र है। भव्य साधकको वह दशा उसकी तत्त्वदृष्टि-निश्चयदृष्टिसे प्राप्त होती है। सम्यग्ज्ञान होनेके बाद मोक्ष मार्गकी असंख्य सीढ़ियां हैं किन्तु संक्षेपमें हम उन्हें ग्यारह गुणस्थानोंके नामसे जानते हैं। उन सबमें ग्यारह गुणस्थानोंमें व असंख्यात गुण स्थानोंमें मोक्षमार्गोंका जो विकाश और बल है, वह इस निरुपाधि भावको कारण बनाकर होने वाला भाव है। जो काम उस जगहपर पहुँचने वाले सिद्ध करते हैं वही चौथे गुणस्थानवाले करते हैं। जितना मोक्षमार्गका अंश है उस दृष्टिसे देखो—वह संवर निर्जरा रूप है।

शरीरकी दृष्टि छोड़ो, व भीतर जो वितर्क उठते हैं उसकी दृष्टि छोड़ो, उस शुद्धोपयोगको प्राप्त करो जो संवरका कारण है। (शुभोपयोग संवरका कारण नहीं है) तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्याय में भी आश्रवका वर्णन है जैसाकि छठेमें। सातवें अध्यायमें जो व्रतादि बतलाये हैं वे सब आश्रवके कारण हैं। महाव्रत रूप जो विकल्प हैं वे आश्रवके ही कारण हैं, संवरके नहीं, संवरका कारण तो शुद्धोपयोग है जो कि उन व्रतादिके विकल्पोंसे रहित होता है। वह शुद्धोपयोग अंशरूपमें चौथे गुणस्थानसे होने लगता है और बारहवेंमें पूर्ण हो जाता है। इससे नीचे गुणस्थानोंमें जितने अंशोंमें रत्नत्रय होगा उतने अंशोंमें शुद्धोपयोग होगा और उतने ही अंशोंमें संवर और निर्जरा होगी और जितने अंशोंमें राग होगा उतने अंशोंमें आश्रव व बन्ध होगा। सर्वस्थितियोंमें स्वाभाविक (निरुपाधि) स्थिति ही हितमय है उसकी प्राप्तिका उपाय निरुपधि स्वतंत्र सनातन आत्मतत्त्वकी दृष्टि रखना है। अविचल पर्याय अविचलकी दृष्टिसे मिलेगी। अविनाशी

पर्याय अविनाशीकी दृष्टिसे प्राप्त होगी। पर्याय अविचल कोई नहीं होती क्योंकि प्रतिक्षण द्रव्यमें नवीन नवीन नवीन पर्याय होती रहती है। इसलिये अविनाशी नहीं है और इसीलिये स्वभाव भी नहीं है। तथापि निर्मल पर्याय सदृश ही होती जाती है। इसलिये शुद्ध पर्यायको नित्य अविनाशी कह देते हैं। जिसमें अन्य कोई निमित्त नहीं होता सो स्वाभाविक पर्याय कही जाती हैं। शुद्ध पर्यायमें मात्र काल द्रव्य निमित्त हैं, सो वह साधारण होनेसे विवक्षित नहीं होता। अतः जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि यह बात चरितार्थ है। जीवको रुलते रुलते अनन्त काल बीता उसमें दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया तो अब न रुलना पड़े ऐसा विचार स्थिर करके उपाधिको समझने और हटानेका उपाय करो।

सिद्ध भगवान भी उस स्वभावमय परिणमन करते हैं। बीचके मोक्षमार्गी भी उसीको उपादान करके अनादि अनंत अहेतुक निरुपाधि भावको कारणरूपसे उपादान करके परिणमते हैं यह सब स्वयं विपरिणमन है। जितना कृत्रिम परिणमन है वह बंध का कारण है। सबसे बड़ा भारी अवलंबन मेरा मुझमें है। इसीसे, मंगल, उत्तम और शरण आपका आपमें है। इसी, भाव, दृष्टि और प्रवृत्तिसे निराकुल दशा प्राप्त होती है। अन्यथा, बाह्यके अवलंबनमें तो विपदाएं ही हैं। उसमें फिर भ्रमण होता है, दुर्गतिमें जाना पड़ता है। निगोदमें रहना पड़ता है, यह सब दशा अज्ञान से होती है अध्रुवको चाहना सो अज्ञान हैं। जैसे किसीको कहा जाय कि तुझे दो दिनके लिये सेठ बना दिया जायगा फिर भिखारी बनना पड़ेगा, तो वह उस सेठपनाको कबूल न करेगा। परवशमें करना पड़े तो उसको उस आगेके भिखारीपनकी अवस्थाका खयाल करके वह निश्चिन्तता पूर्वक वर्तमानके क्षणिक सेठाईपनेका भी उपयोग न कर सकेगा। उसी तरह मुमुक्षुको जिसको कि भान हो गया कि मिली हुई यह मेरी अवस्था कुछ दिनोंकेलिये है। इसमें जो कुछ सुख-साधन मिले हैं, वे स्थायी नहीं हैं, इनके बादमें, इनके उपयोगमें यह

समय बिता देनेके बाद फिर वही भिखारी जैसी दुःखकी अवस्था मिलेगी। इस ख्यालसे उसे संसारका सुख अच्छा नहीं लगता। ज्ञानीको उपाधि नहीं रुचती। क्योंकि स्वभावके आनन्दका स्वाद प्रतीत कर चुका। लोकमें भी उपाधिके फलमें दुःख मिलता है। मानलो किसीको एम० ए० की उपाधि मिली, तो उसे क्या खुशी होनी चाहिये ? नहीं, क्योंकि वह उसके लिये वह चिन्ता और दुःखका कारण है। उपाधिका मतलब ही है – चिन्ताके समीप पहुंचाने वाला संयोग। आधि माने मानसिक चिन्ता और उसके समीप जो पहुंचावे उसे उपाधि कहते हैं।

एम० ए० की उपाधि मिलनेपर जो खुशी हो रहा है। उससे उसके मनमें भाव आता है कि मुझे लोग बड़ा मानें। लेकिन सब लोग उसे उससे बड़ा मानें यह उसके हाथकी तो बात नहीं है। कोई मानेगा भी कोई नहीं भी मानेगा, तब उसे उसका दुःख होगा। ऐसी उपाधि सहित जो हो उसे सोपाधि कहते हैं। सोपाधि दृष्टि जब कि संसारका कारण है तब निरुपाधिदृष्टि मोक्षका कारण है। उस निरुपाधि दृष्टिमें भान होता है कि मैं एक सत्, अमूर्तिक, पर परणतिसे रहित हूं। अपनी अपनेमें विलीन संलीन होने वाली परिणतिमें, एक ज्ञान चक्षुद्वारा निरुपाधि स्वरूप मोक्ष मिल सकता है। ऐसी प्रतीतिवाला मोक्षमार्गी किसी तरहकी उपाधियोंसे अपने को बड़ा नहीं समझता। गुरु शिष्य एक बार यात्राको निकले, रास्तेमें एक राजा के बगीचेमें ठहर गये, और शिष्यको यह कह कि यह राजाका बगीचा है कोई आवे तो बनना नहीं, नहीं तो बुरी हालत होगी. दोनों ध्यान करने लगे। थोड़ी देर बाद बगीचेमें अपने सेवकोंके साथ राजा आया। एक स्थानपर उन दोनोंको देखा। शिष्य की तरफ इशारा करके पूछा गया तुम कौन हो यहां क्यों आये, वह ध्यान तोड़कर कहता है कि तुम्हें दीखता नहीं हम लोग साधु हैं, ध्यान करनेके लिये यहां आये हैं। राजाने उसकी उद्दंडतापर क्रोधित हो उसे अपमानित कराकर

बागके बाहिर निकलवा दिया। फिर गुरुसे भी वही प्रश्न किया गया तुम कौन हो क्यों यहां बैठे लेकिन गुरु तो मौन रहे ध्यानकी मुद्रामें। राजाने सुरक्षाका इन्तजाम करवा दिया। पीछे जब वे गुरु मिले तब शिष्यने पूछा गुरुजी मुझे क्यों बागसे निकाल दिया गया। तब उन्होंने बताया कि मैंने कहा था कि बनना नहीं लेकिन तुम राजाके पास साधु बन गये सो पिटे, दुःखी हुए। संसारमें जो बनेगा वह दुःखी अवश्य होगा। जो स्वभावमें रहेगा वह सुखी होगा। सुखी होनेका कारण स्वभावमें लीन होना है। यही प्रतीति सच्ची है, जिससे कि स्वभावलीनता एक न एक दिन होती अवश्य है। यदि इससे भिन्न प्रतीति हो तो उसे खतम कर दो। यहां यह बात चल रही है कि आत्माकी जो स्वाभाविक स्थिति है वही उत्तम है पाने योग्य है। और उसको पानेका उपाय है निरुपाधि दृष्टि करना, सो वह स्वभावकी दृष्टि किस प्रकार हो, सो कहते हैं।

सूत्र—तस्याश्च स्वभावपरभावविवेकः ॥३॥

अर्थ—उस निरुपाधिदृष्टिका साधक स्वभाव और परभावका विवेक है। परभाव शब्द में दो बातें शामिल हैं। १ पर द्रव्यकाभाव २ पर द्रव्यके निमित्तसे होने वाला निजमें भाव। इनका भेद ज्ञान करना निरुपाधि दृष्टिका उपाय है। जीव अनादिसे जिन पर्यायोंमें रहता आ रहा है उन्हें अपनी मानता चला जाता है, यही कारण है कि निरुपाधि दृष्टि नहीं होती। कभी कर्मक्षयोपशम पाकर विशुद्ध हुए जीवको ज्ञानीका उपदेश मिलनेपर भेद ज्ञात होता है, पीछे जो अभेद स्वभावको स्पर्श करते हुए परिणाम होते हैं वे निरुपाधिदृष्टिके सम्यग्दर्शनके कारण हैं। जगतमें अनंतानंत जीव हैं, अपनी आत्माको छोड़कर बाकी जीव-(अनंतानंत) अनंतानंत पुद्गल, परमाणु, व स्कंन्ध, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और काल द्रव्य तथा इनके अनत गुण और उनकी अनंत पर्यायें ये सब पर हैं। इन सबसे भिन्न अपनेको देखो। यह तो हुआ अत्यन्ताभाव वाले पर-पदार्थोंसे निजका विवेक अब अपने आपके

विषयमें विचार करो। आगम में जीवके विषयमें दो बातें पाई जाती हैं। १ निज स्वभाव और २ परके निमित्तसे होने वाला विभाव। इन्हें पृथक्-पृथक् रूपसे जानना विशिष्ट भेदविज्ञान है। यों तो साधारण लोग—अनपढ़ ढोर चरानेवाले भी कहते हैं कि शरीर अलग है जीव अलग है। मिट्टी पड़ी रह गई हंस (आत्मा) उड़ गया। किसीकी मृत्यु हो जानेपर उसके कुटुम्बियोंको, हर कोई समझाता है। जो जन्मा है सो मरनेकेलिये, उसको कौन पकड़ कर रख सकता है आदि। तो क्या सभी भेदज्ञानी हो गये? नहीं, भेद विज्ञानी तो वे ही हैं जिन्होंने निज स्वभावमें भेद किया। आत्मामें दो गुण मुख्य ऐसे हैं जिनके स्वभावरूप होनेसे लाभ और विभाव रूप होनेसे हानि है। वे दो हैं १ चरित्र और २ दर्शन। जब दर्शन गुण विकृत होता है, तब मोही—और चरित्रके विकारसे, रागी, द्वेषी होता है। ये स्वभाव नहीं इसलिये कि परके निमित्तसे होते हैं। आत्माका स्वभाव चैतन्य मात्र है। उस चैतन्य प्रतिभासमें दर्शन, ज्ञान, सुख और शक्ति आदि सब अभेद पूर्वक अन्तर्भूत होते हैं। चित् शक्ति मुख्य है। उसके स्वाभाविक विकासको सम्यग्दर्शन सम्याज्ञान और सम्यक् चरित्र कहते हैं। चैतन्य गुणमें अनंत चतुष्टय गर्भित हैं। चित्प्रतिभासमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र तीनों आजाते हैं क्योंकि ज्ञान रागादिको त्याग करके रहता है। चैतन्यका ऐसा ही स्वभाव है कि रागादिको त्याग करके रहना। जब ज्ञान केवल ज्ञान ही रहता है तब आनंद ही आनंद है। क्योंकि ज्ञानका और आनन्दका अविनाभाव सम्बन्ध है। ऐसे निजस्वभावको पहिचानना ही निज और परको पृथक् समझनेका उपाय है। ऐसे आत्माके स्वभाव और विभाव का भेद करना सम्यग्दर्शन वा सम्यग्ज्ञानका कारण है। यहां ज्ञान और रागादिमें अन्तर तो देखो। जैसे जलमें कीचड़ घुल गई फिर भी जल स्वभाव से निर्मल है। कीचड़में भी रहते हुए जलमें निर्मलताका अंश है।

जो निर्मलता है वह जलका अंश है और जो गन्दगीका अंश है वह कीचड़का अंश है। गन्दा तो कीचड़ है किंतु जल निर्मल है। गन्दी कीचड़के समान राग ही है जलके समान ज्ञान है। ज्ञान जब रागमें जाता है तब वह विकारी कहलाता है। इसी कुसंगसे ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है और तब मिथ्या ज्ञानका उपचार है उसका कुसंग हटनेपर सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। ज्ञानका काम जानना है, चाहे वह केवल स्वभावरूप हो चाहे विभाव रूप। सीप में चांदीका ज्ञान कर लिया वह ज्ञान अन्य कारणसे सीप निमित्त से हुआ। इसी तरह संशय और अनध्यवसायज्ञान भी अन्यके निमित्तसे विकारी हो जाता है। यदि अन्य निमित्तोंसे रहित ज्ञान सच्चा हो तो उसका काम मात्र जानना है। विकार जो होता है वह अन्य कारणसे। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यय और केवलज्ञान इन ५ सम्यग्ज्ञानके भेद रूप ज्ञान, ज्ञानके विकास की डिग्रियां है। इसका मुख्य काम तो प्रतिभास होना मात्र है। जैसे–सूर्य प्रकाशित है लेकिन बादल नीचे आनेसे प्रकाश ढक गया, अब जितनी जगहका बादल हटता गया उतनी उतनी जगहका प्रकाश प्रकट हुआ कहलाता है। किन्तु उतने उतने अंशरूप प्रकाशको करना उसका स्वभाव नहीं है उसका कार्य तो प्रकाश करना मात्र है। कोई कहे कि सब जगह प्रकाश करना उसका स्वभाव है सो यह भी बात नहीं है. प्रकाश केलिये सब जगहका विशेषण लगाना भी उसके प्रकाशन स्वभावको तिरस्कार करके बनाना हुआ। जिस तरह १०० कोस का प्रकाश २०० कोसका प्रकाश आदिके विशेषणसे विशिष्ट उसका काम नहीं है। उसी तरह ज्ञानका स्वभाव भी ज्ञप्ति मात्र है। वह सबको जानता है ऐसा विशेषण भी ठीक नहीं है, यह भेद तो व्यवहार का है। वस्तुतः ज्ञान अपने स्वच्छ स्वभावसे पूर्ण प्रतिभासमय है।

यहां ज्ञानके आवरणमें सूर्यके प्रकाशमें बादलके आवरणका जो उदाहरण दिया है उससे ऐसा न समझना कि ज्ञान तो भी सूर्यको

बादलके समान कर्म ढके हुए है वह तो स्वयं उस उस पर्यायमें ज्ञानावरण कर्मके उदयके निमित्तसे व क्षयोपशमके निमित्तसे उतने २ अंशमें परिणमता है और सूर्यके प्रकाशमें यहां यही बात है, कि बादलके निमित्तका आरोप सूर्य प्रकाशमें करके उसके अंश रूप कहने का व्यवहार है। स्वभावमें कम ज्यादा आदिकी बात नहीं है। स्वभाव तो एकरूप रहा करता है और वह एकरूपता भेदरूप कथनसे नहीं जानी जा सकती। उस स्वभावकी एकरूपतापर दृष्टि रखनेसे स्वभाव जागृत होता है वह स्वभाव क्या है? जैसे बिजलीके बल्बपर हरा कागज लगानेपर प्रकाश हरा हो जायगा इसी तरह दूसरे रंगके कागज लगाने पर दूसरे दूसरे रंगका प्रकाश हो जायगा। उसमें भेद विज्ञान करो कि जो हरा है वह प्रकाश नहीं। जो प्रकाश है वह हरा नहीं। जैसे इसका भेद ज्ञात किया, इसी तरह सफेद प्रकाशमें करो, इसको जरा और सूक्ष्मतासे विचारो। सफेद प्रकाशका स्वभाव नहीं है। प्रकाश स्वभाव किसी एक वर्णको लेकर नहीं चलता। उसे तो हम केवल, दिपना स्वभाव कह सकते हैं। सफेद आदि विशेषण तो उपाधिसे हैं। जैसी उपाधि मिलती है वैसा वह कहलाने लगता है। सफेद और हरा आदि सब उपाधिसे हैं, यही कारण है कि सफेद और हरा रंग आदि सब उपाधिसे हैं, यही कारण है कि ज्यादा सफेद करनेकेलिये सफेद उपाधिसे बनाया जाता है। इसी तरह ज्ञान भी मतिज्ञान वा श्रुतज्ञान आदि रूप नहीं है। किंतु उनसे पृथक् भी नहीं है।

इस तरह परके निमित्तको हटाकर स्वभावकी ओर दृष्टि करनेसे निरुपाधि दृष्टि बनती है। पर कहिये पर द्रव्य गुण और पर्याय, उससे भिन्न स्वभावकी परख करनेसे निरुपाधि दृष्टि बनती है।

अनादि कालसे सब किया लेकिन इतना नहीं किया। कभी अपने को, मनुष्य तो कभी तिर्यञ्च कभी स्त्री तो कभी पुरुष, कभी निर्धन तो कभी धनवान, कभी व्रती त्यागी तो कभी अव्रती, कभी छोटा तो कभी बड़ा आदि मानता चला आ रहा है। बाहरे अज्ञानकी अंधेरी।

भाइयो ! इस अज्ञानको हटाओ आत्म स्वरूपको देखो। उसके बिना देखलो संसारमें क्या विडवनायें हो रही हैं। बाजारके ऊंचे नीचे भाव की थोड़ी सी भी आहटसे ध्यान उधर चला जाता है। जिस नामका उसके लिये व्यवहार किया जाता है वह नाम पुकारनेपर ध्यान उसपर चला जाता है। अरे नाम तुम नहीं, व्यवहारके लिये जो तुम्हारा नाम है उसे सुनकर भी ध्यान आत्मा पर रहे ऐसी दृष्टि रखो। परको हानिकर या धोखा मत समझो, तुम्हारा मोह भाव ही तुम्हारे लिये हानिकर व धोखा है। थोड़ा भी बोध पाया तो उसीसे अंतस्तत्त्वको समझकर अपना काम निकाल लो। यह मनुष्य भव इन्द्रसे भी बढ़कर अवस्था है। विशिष्ट रत्नत्रय धारण करनेकी योग्यता इसी भवमें ही है। इसके लिये उस प्रसंगपर ध्यान दीजिये, कि जब तीर्थंकर भगवानको वैराग्य होता है तो लौकांतिक देव आते हैं, जो कि गर्भ, जन्म आदि कल्याणकोंमें नहीं आते, क्योंकि वे अत्यन्त वैराग्य प्रिय होते हैं। वे तो तीर्थंकर के वैराग्य का अनुमोदन कर चले जाते हैं और इन्द्र भगवानको बनमें ले जानेकी तैयारी करता है, उनका अभिषेक करता है आभूषण पहिनाता है, पालकी सजाता है, वह अपने रागके कारण। रागियों की भक्ति राग पूर्वक ही होती है। इन्द्रको मान था कि भगवानके गर्भमें आनेपर हमने कल्याण मनाया, जन्मके समय उत्सव किया, अब बनको गमन करने वाले भगवानकी पालकी हमही उठावेंगे इसी भावना और विश्वास पर पालकी उठाने लगा तो मनुष्यों ने उसे रोका इन्द्रने कहा हम पालकी उठानेके अधिकारी हैं तुम मनुष्योंको शक्ति और अधिकार ही क्या ? तब इसका निर्णय देनेकेलिये मध्यस्थ चुना गया उसने निर्णय दिया कि जो तीर्थंकर जैसा कार्य कर सके वह ही पहिले पालकी उठानेका अधिकारी है। इन्द्र अपने वैभव और पद पर खीजा और बोला, हे मानव पुंगव हमारा सारा वैभव और इन्द्र पद लेकर भी तुम हमें अपना मनुष्यत्व दे दो, पर देवको मनुष्यत्व मांगनेसे कैसे मिलता ? इन्द्र जिसकी याचना करता है वह

दुर्लभ मनुष्यत्व तुम्हें हमें मिला है, क्या इसे भोगोंमें बिता देना चाहिये ? अब भी यदि यह भूल हुई तो समझलो हमारा क्या होगा ? हमारी क्या दशा होगी ? वही जो अनादिसे होती आई है।

हमारा प्रधान काम स्वभाव और प्रभावको पहिचान कर स्वभाव में रत होना है। यहां प्रधान काम पर जोर दिया जारहा है हम आप व्यवहारके जो काम करते हैं, उनके छोड़नेकी असमर्थता है तो मत छोड़ें, किंतु उन्हें प्रधान तो न मानें, उन्हें ही तो सब कुछ न समझें, उन्हीं में ही अपने समय, शक्ति जीवन, बुद्धि और ज्ञानकी इतिश्री न करदें। हमारा आपका प्रधान कर्तव्य हमारेका-निजका आत्माका होना चाहिये। देखलो जिसमें, पति-पत्नी और पिता-पुत्र आदिका विश्वास बैठा हुआ है, वे रागके ही निमित्त हैं। जिनके संयोग और वियोग दोनोंमें दुःख है। संयोगके लिये चिंताका तथा उस संयोगके निमित्त से समय समयपर जो मोह-राग और द्वेषके विकल्प होते हैं, आर्त और रौद्र ध्यान होते हैं उनका दुःख जीव भोगता रहता है फिर भी संयोगको सुखका कारण अज्ञानतासे मानता ही है। इसी तरह वियोगका भी दुःख पीछे लगा हुआ है, जिसे प्रकट अनुभव भी करते हैं। अनिष्टके वियोगमें दुःख नहीं सुख मानतेहैं लेकिन वहां भी तज्जन्य रौद्र ध्यानसे दुःख ही होता है। परका लक्ष्य ही विपदा है।

एक बार कोई शिष्य यात्राको निकला, रास्तेमें बरात मिली, शिष्यने पथिकोंसे पूछा-यह क्या है ? पथिकोंने कहा यह बरात है ? फिर शिष्यने पूछा बरात किसे कहते हैं ? उत्तर मिला, वरकी यात्रा, वर विवाह करनेके लिये जाता है उस यात्राको या संयोजनको बरात कहते ? फिर प्रश्न करता है, विवाह क्या है ? उत्तर मिलता है, विवाह वह विधि है जिसमें स्त्री पुरुष पति पत्नी बनते हैं। फिर शिष्य पूछता है, पति पत्नीका क्या सम्बन्ध है ? प्रेमका मोहका और कामका जिससे कि संतान होती है। यह प्रसंग खतम होनेपर शिष्य आगे बढ़ा।

रात्रिमें शिष्य कुएके पाटपर सो गया, स्वप्न आया स्त्री घर आई और बच्चा हो गया, अब एक परले छोर पर स्त्री पड़ी है बीचमें बच्चा है, दूसरे किनारे पर वह स्वयं है, तब स्त्री कहतीहै जरा उधरको खिसक जाओ बच्चेकेलिये जगह कम है, वह स्वप्नमें ही थोड़ा खिसक जाता है, फिर स्वप्नमें देखता है कि स्त्री कहतीहै थोड़ा और खिसको वह और खिसक जाताहै और धड़ामसे कुएँमें जा पड़ताहै। कुएँमें कोई सोढ़ी वगैरहकी सहायतासे डूबनेसे बच जाताहै। सवेरे गांवका जमीदार पानीकेलिये कुएँमें लोटा डालता है और उस लोटेको वह पकड़ लेता है। वह जमीदारसे कहता है कि मैं कोई भूत प्रेत नहीं हूँ। आदमी हूं, कोई कारणसे कुएँमें पड़ गयाहूँ मुझे बाहर निकाल लो, फिर इसकी सारी कहानी सुनाऊंगा। जमींदारने उसे बाहर निकाल लिया। जमींदार पूछता है अब बताओ तुम कौन हो, कैसे कुएँमें पड़े तब वह कहता है-आपने मेरा उपकार किया है, जिसका उपकार किया जाता है, उससे उपकार करने वाला बड़ा होता है; आप मेरे उपकारी हैं बड़े हैं, इसलिये पहिले आप ही अपना परिचय दीजिये। जमीदार परिचय देता है, कि पासमें जो यह गांव देख रहेहो इस गांवका मैं जमीदार हूँ। मेरे कुटुम्बमें २५ आदमी हैं। फिर आगे वह अपने मकान, जमीन, गाय बैल, गल्ला और धन पैसेके वैभवकी गिनती बताता है। परिचय दे देने पर शिष्य जमीदारको सिरसे पैर तक बड़े ध्यानसे देखता है, जमीदार बोलता है इतनी गहरी नजरसे आप मुझे क्यों देख रहे हैं? वह बोला यह देख रहा हूं कि मैंने तो स्वप्नकी गृहस्थी बनाई जिससे कुएँमें पड़ गया, लेकिन आप गृहस्थीमें रहरहेहो सो अभीतक आप जिन्दा कैसे हैं?

मतलब यह कि जिस संयोगको सुखका साधन समझा जाता है, उसे दुःखमय ही जानो। स्वभावकी दृष्टि करो, तब यह सत्य समझमें आ जावेगा। ये रागादि भाव, विभाव और विपरीत भाव हैं, ये दुःख रूप, दुःखके कारण और दुःखके फल हैं और ये स्वभाव-सुख रूप,

सुखके कारण और सुखके फल हैं। दूसरे पदार्थोंसे ग्लानि करनेकी आवश्यकता नहीं। ग्लानि करो अपनी कषायोंसे जो स्वयं दुःखरूप और दुःखका कारण हैं, संसारमें जो परिभ्रमण कराती हैं। मनुष्य भंगी या हत्यारेको चण्डाल कहते हैं और क्रोधको भी चण्डाल कहते हैं, उनमें सच्चा चण्डाल तो क्रोध या और दूसरे कषाय ही हैं, जो आत्मभावोंका निरन्तर घात करते रहते हैं।

कहीं साधु बैठा था ध्यानमें। भंगिन उसीके पासमें झाडू दे रही थी, उड़ती हुई धूल साधुके शरीर तक गई, उसे क्रोध आया, बोला ओ चंडालनी तुझे दीखता नहीं कि यहां साधु ध्यान लगाये हैं, हट यहांसे दूसरी जगह झाडू दे। भंगिन जवाब देती है कि साधुजी पहिले हमारे पति और पुत्रको हटाइये जो आपके घरमें बैठा हुआ है फिर मुझे हटाइये, उसने पूछा कैसी बेतुकी बात कहरहीहै? भंगिनने समझाया महाराज! क्रोध ही चंडाल है, यदि मैं चंडालिनी हूं तो मेरे पति और पुत्र चंडाल कहलाये मुझ क्रोधिनी चंडालिनीका पति और जो पुत्र होगा वह चंडाल ही कहलायगा, सो ऐसा क्रोध रूप चंडाल अभी आपके घरमें बैठा हुआ है, उसे हटाइये। साधुकी आंखें खुलीं— ज्ञान हुआ और अपनी भूलको स्वीकार किया।

एकका दूसरेपर कोई अधिकार नहीं है। अपना अपना अधिकार अपनेपर ही है। अपने स्वभावपर है, पर व विभाव-राग द्वेषादि संयोग भावोंपर नहीं। अतः ज्ञानस्वभावमें विहार करो। यह तब होगा जब उसे परखा जायगा, अपने उस स्वभाव भावको परखो तो निर्मल बन सकते हो, जब तक अपने भावकी परख न होगी तब तक निर्मलता प्राप्त न होगी और तभी तक सुख भी हासिल न हो सकेगा। सो ही सूत्रमें भेदका विवेक करनेको कहा है। भेदके विवेकका मतलब है उन दो द्रव्यों वा भावोंको अलग अलग जानकर अच्छेको ग्रहण करना, और बुरेको छोड़ना। व्रत पालनेमें त्रुटि होने पर कहा जाता

है कि भाई विवेक रखो अर्थात् गुण दोषको जानकर गुणोंको ग्रहण करो और और दोषोंको छोड़ो।

विवेकका अर्थ है, विशेष रूपसे दो टुकड़े करना। वि–उपसर्ग पूर्वक–'विच्लृ विविक्तौ या विचिर् पृथग्भावे या विच्लृ द्वैधीकरणे' अर्थमें विच् धातुसे विवेक शब्द बना है। उसका अर्थ ज्ञानका फल रूप पड़ता है। फलमें उपचार करके केवल प्रथक करनेके ज्ञानको भी विवेक कह देते हैं। स्वभाव और विभावमें प्रज्ञा छैनीसे भेद करना निरुपाधि दृष्टिका साधक है। इस तरह प्राप्त करने योग्य चीज निरुपाधि स्थिति है, अर्थात् उपाधिके अवलंबन बिना जो स्वाभाविक स्थिति दशा है वह पाने योग्य है। वह दशा अरहंत और सिद्धोंमें है। अरहतके अन्तरङ्ग उपाधि नहीं रहती बाहरी कर्म और नोकर्म मल रूप बाह्य उपाधि जो कि आत्मामें कोई औपाधिक भाव पैदा नह कर सकती रहती है। सिद्धोंके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों तरहकी उपाधियां नहीं होती। आंशिक उपाधि, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के भी नहीं रहती वह भी अंशतः निरुपाधिदशा स्वभावदशाका भोक्ता है। उस शुद्ध दशाको प्राप्त करनेका उपाय स्वभावकी दृष्टि है। उस दृष्टिका उपाय स्वभाव और परभावका विवेक करना है। विभावका अन्वय व्यतिरेक कर्मसे है। कर्मके होनेपर विभाव होता और उसके नहीं होने पर वह नहीं होता। अपने चैतन्य स्वभावकी दृष्टिसे ऐसा कहा जाता है–परिणतिका आधार देखनेपर रागादि निश्चय नयसे आत्माके हैं, यह एक दूसरी दृष्टि है। विभावकी दृष्टि हटनेपर ये कर्म के कहे जाते हैं। यद्यपि परसे राग नहीं तो भी आत्माके ही वे इसको निमित्त मात्र करके होने वाले भाव हैं। कर्म और नोकर्मकी दृष्टि ऐसे विवेकसे हटती है। इस तरह स्वभाव और परभावमें भेद करना निरुपाधि दृष्टिका कारण है।

यह निरुपाधि दशा ही समस्त आकुलताओंसे रहित स्वाभाविक स्थिति है, जो कि साधने योग्य या पाने योग्य है। चित्स्वभावके दर्शन

करनेसे यह प्राप्त होती है, यही उसका उपाय है। उससे ही शुद्धोपयोग व्यक्त होता है। इसके लिये स्वभाव परभावका विवेक करना चाहिये। परभावके दो मतलब हैं। १—परका भाव और २—परके निमित्तसे होनेवाला भाव स्वजीवसे अन्य अनंतजीव, उससे भी अनंतगुणे पुद्गल एक आकाशद्रव्य एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्यात कालाणु, तथा उन सबकी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्याय वा अनन्त गुण ये सब पर हैं तथा इनके या निज विकल्पका आश्रय विषय करके पुद्गल कर्मविपाक निमित्तसे होने वाले भाव परभाव हैं इन समस्त पर व परभावोंसे अपनेको भिन्न समझना चाहिये। जिन पर-भावोंमें हम लीन हो रहे हैं उनसे विलक्षण यह भाव हमारे ध्यानमें आवे तब वह शुद्ध दशाका उपाय हो जैसे गेहूंको बीननेमें गेहूंसे भिन्न चीजको खोज खोज अलग कर देते हैं, और प्रयोजन भूत गेहूं केवल रहने देते हैं। इसी तरह आत्म-भावोंसे भिन्न भावोंका निरीक्षण कर करके उनको निकालते रहें और प्रयोजन भूत केवल आत्म-द्रव्य (स्वभावमय) को प्रकट करलें।

इस समय हमारेमें स्वभाव और परभाव दोनों हैं। स्वभाव सामान्य रूप हैं, और परभाव विशेष रूप है। उसमें सामान्य तो सामान्य रूप ही रहता है, पर विशेष बदलता रहता है। अशुद्ध द्रव्योंमें या कहिये जीव और पुद्गलोंकी अशुद्ध दशाओंमें विशेष का बदलना परभाव रूपसे होता है, और शुद्ध स्वाभाविक दशाओंमें स्वभावसे निर्मल भावसे व्यक्त होता रहता है। सामान्य तिरोभूत रहता है और विशेष व्यक्त रहता है। फिर भी वे दोनों अलग २ नहीं हैं। एक अखंडके ही दोनों प्रकार-अंश हैं। सामान्य अंश शुद्ध और विशेष अंश शुद्ध और अशुद्ध दोनों तरह का होता है। सामान्य अंश त्रिकालमें हमेशा शुद्ध ही है। यह शुद्धि, शुद्ध व अशुद्ध दोनों परिणमनसे विलक्षण है। विशेषकी स्थिति काल भेदसे

शुद्ध और अशुद्ध दोनोंमें है। किंतु सामान्य शुद्ध और विशेष शुद्ध इनके शुद्धताको कहनेकी शैलीमें पहिचाननेकी दृष्टि अलग अलग है। सामान्य भावको चैतन्य स्वरूपको देखना शुद्ध सामान्यका देखना है, और जो विशेषको शुद्ध रूपसे देखना, वह विशेषका या पर्यायका शुद्ध है। सामान्यको द्रव्य और पर्यायको विशेष कहते हैं। अर्थ सामान्यविशेषात्मक है इस अर्थको ही अभेद स्वभावसे अर्थात् अकालिक अहेतुक एकस्वरूप सामान्य स्वभावमय निर्विशेष पूर्ण दृष्टिसे देखना सो निरुपाधि दृष्टि है। ऐसी उस निरुपाधि दृष्टिका उपाय क्या है सो कहते हैं।

तस्य च परीक्षा ॥४॥

अर्थ—और उस स्वभाव परभाव के विवेककी साधिका परीक्षा है। परि-समन्तात् चारों ओरसे ईक्षणं ईक्षा करना देखना। सब तरहसे सब दृष्टियोंसे विचार करनेको परीक्षा कहते हैं। जीव जातिकी अपेक्षासे एक और व्यक्तिकी अपेक्षा अनन्त है, इसी तरह पुद्गल द्रव्य भी अनन्त हैं। किंतु आकाश प्रदेशोंकी अपेक्षा अनन्त होते हुए भी अखण्ड एक सत् है धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य भी एक एक हैं और काल द्रव्य असंख्य हैं। परस्परकी परिणतिसे व्यावृत्त ये द्रव्य अनन्तानत हैं। ये सब अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे हैं, अन्यसे नहीं। जिस तरह का भाव आप करते हैं वह दूसरेमें नहीं पहुंचता। पिता-पुत्र स्त्री-पति आदि सम्बन्ध कितने भी अनुकूलतासे चल रहे हों, लेकिन वे उस अत्यन्त अनुकूलतामें भी अपनी अपनी ही परिणतिमें परिणमते रहते हैं। कोई भूलसे समझले कि अमुक हमारे अनुकूल करता बोलता है समझता है लेकिन वे सब स्वतन्त्र रूपसे अपने अपने भावों कषाय भावोंसे परिणमते रहते हैं। यह सोचना झूठ है कि अमुक हमारा कहना मानता है, निभाता है। अरे वहां तो अपनी अपनी कषायके अनुकूल परिणमन

होता है। और स्नेह भी कौन किससे करता, कौन किसकी आज्ञा मानता, सब अपने अपने कषायोंकी पूर्ति करते रहते हैं। वह हमसे स्नेह करता वह हमारी आज्ञा मानता यह सब कहने भरका व्यवहार है, उपचारमात्र है।

इस संसारके स्वरूपको और अपनी स्वतन्त्र परणतिको देखनेके लिये राजा देवर्रातकुमार और इनकी रक्ता रानी की कथा विचारिये। राजा रानीपर इतना आसक्त था कि वह राज्यके कार्यमें उपेक्षा करने लगा, और यहां तक उपेक्षा की कि प्रजाको एक मत हो राजगद्दीसे उसको अलग कर देना पड़ा। प्रजाने इसके लिये एक प्रस्ताव भी रक्खा था कि या तो राजकाजमें ध्यान लगाइये या रानीमें आशक्त ही रहना है तो राज्य छोड़कर चले जाइये। राजा रानी पर इतना आशक्त था कि राज्य छोड़ना मंजूर कर लिया लेकिन रानीका प्रेम घटाना मंजूर नहीं किया। राजा राज्य छोड़कर देशान्तर चला गया रास्तेमें एक बगीचेमें दोनों ठहर गये राजा तो भोजनका प्रबन्ध करनेके लिये शहरमें गया और रानी चरस हांकने वाले कुबड़ा कोढ़ी और कुरूप काछी की सुरीली आवाजमें मस्त हो गई और उसपर इतनी आशक्त हुई कि उसे पति बनानेकी प्रार्थना करने लगी काछीने कहा कि महारानी क्या बात कहती हो आप बड़े महाराजकी रानी हो महाराज जान पायेंगे तो हमारी तुम्हारी जान भी रहना कठिन है, रानीने कहा कि हम सब दबा कर देंगे। काछीने यह बात स्वीकारकी इस शर्त पर कि किसी प्रकार राजाको मार डालेगी। राजा जब शहरसे वापिस आया तब उसका मन अनमना देखा। (अनमना अर्थात् अन्य मनस्क-अन्य में जिसका मन है)। राजा ने उससे उदासीका कारण पूछा रानीने उत्तर दिया कि सौभाग्यसे आपकी आज वर्ष-गांठका दिन है लेकिन खेदकी बात है कि हम उसे खुशीसे मनानेकी स्थितिमें नहीं हैं। तो भी

राजाने रानीसे पूछा कि इसके लिये तुम मुझसे क्या मदद चाहती हो तब रानीने कहा कि आप बहुतसे फूल लाइये मैं कई एक बड़ी भारी मालायें तैयार करवाऊंगी राजाने इसको स्वीकार किया यह कहते हुए कि तेरे लिये तेरे प्रेमके लिये मैंने राज्य त्यागा फिर तुझे उदास कैसे देख सकता हूं। उसने माला तैयारकी बहुत बड़ी भारी। पश्चात् रानीने कहा कि पासकी टेकरी पर चलिये उसी उच्च स्थानपर आपका स्वागत समारोह करूंगी दोनों टेकरी पर गये वहां पर राजाको माला पहनाकर उसके शरीरको बांध दिया और धक्का देकर नीचे लुढ़का दिया। लुढ़कते २ पासकी बहती हुई नदीमें जा गिरा, बहता हुवा आगे किसी चीजके सहारे नदी किनारे लग गया। उसी समय राज्यके राजाका स्वर्गवास हो गया था और यह तजवीजकी गई थी कि हाथीको छोड़ा जाय और वह अपनी सूडसे जिसको उठाकर मस्तकपर बैठाकर ले आये उसीको राजा बना दिया जाय राजाका भाग्य कि हाथीने उसे सूंड़से उठा लिया। पहिलेका दूसरे देश का राजा यहां भी राजा बना दिया गया। इधर रक्तारानी उस कुबड़ाके संग कुबड़ेको बड़ी टोकरमें सिर पर रखकर इधर उधर डोलने लगी। गाना बजाना करके लोगोंको रिझा और अपने को कोढ़ी पतिकी पतिभक्ता सतीका ढोंग रचकर समय निकालने लगी। एक दिन वह उसी कोढ़ीके संग उसी राज्यमें आई जहांका राजा देवरति हो गया था, लोगोंने उसी कोढ़ी और पतिभक्ता उसकी स्त्री (रानीभक्ता) की तारीफ की, संगीत की तारीफ की, राज दरबारमें दोनोंको बुलवाया गया। रक्ताने कोढ़ीके साथ संगीतको कला दिखाई। राजाने उसकी संगीतकला देखी और देखी स्त्री स्वभावकी विचित्रताकी कला और देखा संसारका स्वरूप, वह फिर क्षण भर भी इस मोहके पिंजरमें रहनेको असमर्थ हो गया, और सीधा जंगलको चला गया संसारसे नाता तोड़ अपनेसे नाता जोड़कर।

वस्तुकी स्वतंत्र परिणतियोंको समझिये कौन किसका है? कौन किसका क्या करता? कौन किसको मानता? कौन स्वामी और कौन सेवक। अपने अपने विषय पूर्तिका साधन जुटाये हुए अपनी अपनी कषायोंको पूर्ण कर रहे हैं। इस बातको अपनेसे समझने की कोशिश करो कि हम क्यों स्त्रीमें, पुत्रमें और धन पैसेमें प्रेम करते हैं, उन्हें अपना मानते हैं, उनका भला चाहते हैं भला करते हैं। मालूम पड़ेगा यह सब मोह और कषायका तमाशा है, अपने सुखकेलिये, यह सब मानते करते और चले जाते हैं। लेकिन यह सब भ्रम समझो। जिन्हें अपना समझते हो व सब तुम्हारे नहीं, वे स्वयं अपने लिये हैं। जैसे तुमसे, तुम्हारे विषय कषाय वे सब कुप्रवृत्तियां कराती हैं, वैसे दूसरे भी तुमसे नाता जोड़कर अपने विषय कषायों-से व्यवहारको पुष्ट करते रहते हैं।

सीताजीकी अग्नि परीक्षा, भीषण परीक्षा जब होने जा रही थी। विशाल अग्निका कुण्ड तैयार हो चुका था। अग्निकी ज्वालाएं ऊपर तक उठ रहीं थी, उस समय राम, सीताको अपने शीलकी परीक्षा देनेकेलिये आदेश देते हैं। सीताके मनमें उत्कट वैराग्य होता है कि जिस रामको हम अपने हृदयका देवता मानते हैं, रावणके द्वारा हरी जानेपर जिसके वियोग में ४० दिन तक अन्न जल ग्रहण नहीं किया, अविरल अश्रुधारासे अपना मुख प्रक्षालती रही और जिस राम देखने तेरेको प्राप्त करनेकेलिये हर संभव उपायोंको जुटाया वही आज मुझे अग्निमें कूदनेका आदेश देता है। धिक्कार है इस संसारके चित्रको और धिक्कार है मुझे जो परको अपना मान रही थी। वह संसारसे विरक्त है और संसारसे दूर जाना चाहती है आत्म-साधनाकेलिये। किंतु सोचती है परीक्षा दिये विना दीक्षा लेना उचित नहीं, जब परीक्षाका समय उपस्थित ही है तब उस कर्तव्यको पूरा करना अनिवार्य है। आत्म-श्रद्धा और

आत्म-बलके साथ निशंक हो अग्निमें प्रवेश करती है और उसमें भस्मीभूत होकर नहीं, कमलासन पर अद्वितीय कांतिके साथ अग्नि कुण्डके स्थानपर जलके सरोवरसे बाहर आती है, देवोंके द्वारा पूजित हो। तब राम कहते हैं हे पतिव्रते, सीते चलो, भवनको पवित्र करो, लेकिन ऐसी अग्नि परीक्षा देनेके बादका वैराग्य कैसा होगा सो समझो। वह बारह भावनाओंकी भावनाओंमें इतनी लीन है कि रामके प्रार्थनाकी एक भी बात उसे नहीं सुन पड़ी और वह वहीं कहीं केशको उपाड़ करके आर्या बनने जाती है, राम इसके पहले ही मूर्छित हो जाते हैं लेकिन अब उसका ध्यान उधर नहीं है ? पर का ध्यान क्योंकि टूट चुका है। मोही जीव कहेगा कि क्या यह सतीका कर्तव्य था जो कि उसकी मूर्छित विकल-वियोग दशापर भी ख्याल नहीं करती और साधनाकेलिये तैयार हो जाती है, लेकिन भाई जहां परको पर स्वको स्व जान लिया जहां परको छोड़ स्वमें प्रवेश हो गया वहां कौन पति और कौन पत्नो। मोहसे पति पत्नी होते है, वह गया कि सारा संसार सामान्यमें लीन हो जाता है। इसी तरह पिता पुत्र आदिका भी सम्बन्ध मोहका ही है। प्रत्येक जीवकेशरीरके और अन्य पुद्गलोंकी ये सब परिणमन अपने अपने द्रव्य-गुणके पर्याय हैं। इन सब अत्यन्त भिन्न पदार्थोंको अपने-से प्रथक समझना यह तो हुआ अत्यन्ताभाव वाले पदार्थोंका विवेक।

अब निज जीवद्रव्यका विवेक करो। इस (अनुभवगम्य) असंख्य प्रदेश वाले जीव में अनन्त शक्तियां हैं। उन शक्तियोंमेंसे दोके सुधारसे सुधार और बिगाड़से बिगाड़ होता है। वे शक्तियां हैं–१ श्रद्धा और २–चरित्र। प्रदेशवत्त्व आदि गुणके सुधार बिगाड़से आत्माका सुधार बिगाड़ कुछ नहीं होता। स्वका बिगाड़ परके निमित्तसे नहीं होता। मिथ्यात्वादि कर्मके उदयसे मिथ्यात्वादि भाव नहीं होवें उसका निमित्त करके अपना भाव वैसा होता है।

द्रव्यकी विकृतिमें प्रत्येक द्रव्यका ऐसा स्वभाव है कि परका निमित्त होता है। हमारा बोलना आपके कारणसे है अथवा आपका सुनना हमारे प्रभावसे है, ऐसा न समझना। परका निमित्तपना उदासीन निमित्तता अवश्य है पर प्रेरक नहीं। अपना परिणमन अपनेसे ही होता है। पर उपाधि तो कर्मके निमित्तसे होती है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है, उसका स्वभाव तो चैतन्य मात्र है। परभाव मेरे स्वभावपर क्षण भर प्रवेशसे प्रभाव डालकर चले जाते हैं, वे मेरे नहीं हैं। मैं स्वभाव रूप हूं, परभाव विभाव हैं। मैं अहेतुक हूँ, परभाव पराश्रित हैं। वस्तु तत्त्वको समझनेकी दृष्टियां जुदी जुदी हैं। पहिले अत्यन्ता भावसे परीक्षा करनेपर, परकी तरफसे लक्ष्य हटेगा, फिर एक अपने ही आत्मद्रव्यमें विवेक करनेपर स्वभाव और परभावका भेद ज्ञात होगा। ये सुख-दुःख, मोह, क्षोभ, ममता, अहंकार आदि परके निमित्तसे होने वाले परभाव हैं। इस तरह भेद करनेसे स्वभाव साध्य होता है।

अब सैद्धान्तिक ढँगसे परीक्षाका उपाय बतलाते हैं:—

सूत्र–सा प्रमाणात् (णात्)।६॥

अर्थ – वस्तु स्वरूपका परीक्षण प्रमाणसे होता है।

वस्तुको पूर्णरूपसे जानना प्रमाण है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, उसको विषय करनेवाला प्रमाण होता है। किंतु उन अनन्त धर्मोंको अनन्त अंशोंको प्रथक् प्रथक् बताने वाली दृष्टि भी है, जिसे नय कहते हैं यदि ये न हों तो वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता हम आपको। जब किसी द्रव्यका ज्ञान करना होता है तब सम्यक् एकांतसे ज्ञान करते हैं। किन्तु उन नयोंके द्वारा ग्रहण किये पदार्थांश धर्म जुदे जुदे तो नहीं हैं। तब उसको समग्र रूपसे जानने वाला प्रमाण ज्ञान है, यदि एक धर्मका ही ज्ञान करे, तो वह वहीं रहे सम्पूर्ण तक कैसे पहुँचे, अतः एकांतके आश्रयसे वस्तुका ज्ञान नहीं

हो सकता। अनेकान्तात्मक वस्तुका ज्ञान प्रमाणसे होता है। इसी लिये प्रमाणसे वस्तुकी परीक्षा होती है। उसकी सार्थकताको सिद्ध करने वाला एक उदाहरण है।

चार अंधे थे, रास्तेमें हाथी मिला, सबने उसको टटोलकर हाथी कैसा होता है यह बताना शुरू किया। जिसने पेटका अंश छुआ उसने दीवाल सरीखा. जिसके हाथ पूछ आई उसने रस्सा जैसा जिसने पैरोंको छुआ उसने खंभा जैसा और जिसने कान छुए उसने सूप जैसा हाथी को बतलाया और वे अपनी अपनी सचाईको सिद्ध करनेकेलिये विवाद करने लगे, फिर एक सूझतेने इस विवादको देखा और मध्यस्थ बन समझाया कि तुम चारोंका कहना सच भी है और झूठ भी। सच इसीलिये कि हाथीका एक एक अंग ऐसा ही है जैसा कि तुम बता रहे हो, लेकिन केवल एक एक अंग वाला तो हाथी नहीं है और उतना ही कहो तो झूठ है। तुमने जितना देखा उतना मानते हो, लेकिन पूरेको देखो एक दूसरेकी बात मानो विवाद न करो। परीक्षा करो, एकांत हट छोड़कर, परीक्षा न करोगे ता विवेक नहीं होगा और विवेक न होनेसे ज्ञानमें यथार्थता न आवेगी और यथार्थ ज्ञानके बिना स्वभाव प्रकट न होगा। स्वभाव की प्रकटता बिना सिद्धि कैसे होगी? इसलिये प्रमाणसे वस्तु स्वरूप की परीक्षा करो। प्रमाण ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। इस स्वभावका किसी भी वस्तु विषयक जा अखंड परिणमन है वह प्रमाण है। कितने ही अभिप्राय ऐसा मानते हैं कि सबसाधनों-की समग्रता हो जाना प्रमाण है तो कोई मानते हैं कि इन्द्रियोंका पदार्थोंके साथ संबंध-सन्निकर्ष हो जाना प्रमाण है आदि। ये सब भिन्न बाह्य साधन मात्र हैं। वस्तुतः प्रमिति क्रिया में जो अभिन्न अन्तरंग साधकतम है वह प्रमाण है। प्रमाणकी उत्पत्ति आत्म द्रव्यसे ही होती है क्योंकि प्रमाण आत्माके ज्ञान स्वभावकी पर्याय

है। प्रमाणकी परिपूर्ण अवस्थामें परवस्तुएं ज्ञेय मात्र हैं, वहां किसी पर (इन्द्रिय प्रकाश आदि) की वाह्यकारणता भी नहीं है अतः प्रमाण की उत्पत्ति सर्वदृष्टियोंसे स्वतः है। प्रमाणकी अतिनिम्न अवस्थामें यद्यपि इन्द्रिय-प्रकाश आदि वाह्य, वाह्यवाह्य साधकोंकी निमित्तता है तथापि प्रभाव निजज्ञानशक्तिके विकाससे ही है अतः स्रोत दृष्टिसे स्वतः है। प्रमाणकी मध्यम अवस्थाओंमें वाह्य साधनोंका बुद्धिगत अवलम्बन भी नहीं है। इसी प्रकार प्रमाणकी प्रमाणता भी अभ्यस्तदशा में स्वतः है और यद्यपि अनभ्यस्त दशामें परतः है तथापि वस्तुतः प्रमाणकी प्रमाणता प्रमाणसे भिन्न न होनेसे स्वतः है। ऐसा यः प्रमाण ज्ञान स्वरूप है। प्रकृत प्रमाण जिससे कि परीक्षा की जा रही है श्रुत ज्ञान स्वरूप है। अब प्रमाणकी विशेष दृष्टियोंको कहते हैं—

सूत्र—तस्यांशौ निश्चयव्यवहारनयौ ।।७।।

प्रमाणके अंशको विषय करने वाला नय है उसके २ भेद हैं ? निश्चय और व्यवहार। निश्चय भी अपेक्षासे प्रमाण और अप्रमाण हो जाते हैं, उसी तरह व्यवहार भी अपेक्षासे प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है। देखो समुद्रकी बूंद समुद्र है क्या ? यदि समुद्र है तो उसमें जहाज चलना चाहिये, यदि समुद्र नहीं तो सब बूंद मिलकर भी समुद्र नहीं बन सकती। तब फिर क्या है ? समुद्रका अंश है इसलिये समुद्रांश है, किन्तु उतना मात्र समुद्र नहीं इसलिये वह समुद्र नहीं है। अथवा यों कह सकते हैं कि समुद्रके जलकी एक बूंद न समुद्र है और न असमुद्र। उसका अंश है इसी तरह नय (प्रमाणके अंशों) में भी घटित करना चाहिये अर्थात् नयको प्रमाण नहीं, अप्रमाण नहीं, किन्तु प्रमाणांश समझना चाहिये। कहीं कहीं प्रमाणांशके दो भेद किये हैं। १—द्रव्यार्थिक, २—पर्यायार्थिक। जो द्रव्यको देखे सो द्रव्यार्थिक और पर्यायको देखे सो पर्यायार्थिक। मोटे रूपसे द्रव्यार्थिककी मुख्यता निश्चयसे और पर्यायार्थिककी

व्यवहारसे। परन्तु यह समन्वय सर्वत्र नहीं हो पाता है क्योंकि कहीं द्रव्यार्थिक व्यवहार और पर्यायार्थिक निश्चय हो जाते हैं। और कभी कभी दोनों व्यवहार हो जाते हैं। व्यवहार कहीं भी डटता नहीं है किन्तु निश्चय कहीं डटता है कहीं नहीं।

यदि प्रश्न किया जाय कि कर्म आत्माके हैं या नहीं ? तो उत्तर होगा आत्माके नहीं हैं। जीव चेतन है, कर्म जड़ है, उससे सर्वथा भिन्न। फिर रागादि आत्माके हैं या नहीं ? तो जहां तक दो का कर्म और जीव का मुकाबला है तब स्रोतको देखकर कहे जाएंगे आत्माके ह। कर्म निमित्त है अवश्य, किन्तु वे वैभाविक भाव आत्माके हैं, कर्ममें से पैदा नहीं हुए। किंतु जब दोका मुकाबला नहीं केवल जीवके बारेमें विचार किया जा रहा हो तो कहे जावेंगे, कि रागादि आत्माके स्वभाव भाव नहीं। कर्मके निमित्त से उठने वाले भाव हैं, यदि उनका निमित्त न होगा तो वे न होंगे, अतः वे आत्माके नहीं। यहां निमित्तदृष्टि मुख्य होने पर कह देंगे कर्मके हैं। फिर मतिज्ञान श्रुतज्ञान और रागादि इनमें कौन जीवके हैं और कौन नहीं ? प्रश्न होनेपर रागादि जीवके नहीं, मतिज्ञान आदि जीवके हैं। फिर मतिज्ञान और केवलज्ञानमें कौन जीवके हैं कौन नहीं ? प्रश्न होनेपर कहा जायगा मतिज्ञान कर्मके क्षयोपशम निमित्तक ज्ञान है आत्माका तो केवलज्ञान ही ज्ञान है। मतिज्ञान व्यवहारसे जीवका है किन्तु निश्चयसे नहीं। निश्चयसे केवल ज्ञान जीवका है। फिर प्रश्न हो कि केवलज्ञान और ज्ञानस्वभावमें जीवका कौन है ? तब कहा जायगा कि भेद करके पर्याय दृष्टिसे केवलज्ञान जीवका कहा जाता है इसलिये यह व्यवहारसे जीवका है, निश्चयसे तो ज्ञानस्वभाव ही आत्माका है। फिर ज्ञान स्वभाव और चित्स्वभाव में प्रश्न किया जाय तो वहां ज्ञान स्वभाव भी व्यवहार हो जायगा और निश्चयसे चित्स्वभाव जीवका कहा

जायगा। क्योंकि चैतन्यके ही ये दो प्रकार हैं १-दर्शन स्वभाव, २-ज्ञान स्वभाव, फिर चित्स्वभावको भी सोचते सोचते, महासत्ताका प्रतिभास हो जायगा, और विकल्प हट जावेंगे। पश्चात् यही समाधान है कि यथार्थ तत्त्व निर्विकल्प है।

इस तरह आप देखेंगे कि जो पहिले निश्चय बनाया था वही आगेके सूक्ष्म विचारमें व्यवहार हो जाता है, दूसरा निश्चय। फिर वह भी आगे जाकर व्यवहार बन जाता है, जबकि उससे भी सूक्ष्मको विषय करने वाला ज्ञान निश्चय बनता है। इस तरह अपेक्षाभेदसे निश्चय व्यवहार और व्यवहार निश्चय बनता है। दृष्टिका भेद है, यदि इसे ध्यानमें न लिया जायगा, तो अपनापन खतम न होगा, पदार्थका निर्णय न होगा, और न फिर आत्माका अर्थ सिद्ध होगा। इस नयके चक्रमें कितने ही लोग कुछ प्रवेश पाकर भी भूल कर जाते हैं संदिग्ध या विपरीताभिनिवे..में आ जाते हैं। किंतु ऐसी बात नहीं कि इनका ज्ञान हा ही नहीं सकता। थोड़ा उपयोग इधर लगानेसे और दृष्टि कल्याणकी रखनेसे सब समझमें आता है। लक्ष्य भेदज्ञानका होना चाहिये और भेद ज्ञानका भी लक्ष्य अभेद चित्स्वभावकी प्राप्तिका होना चाहिये। यदि अभेदका ध्यान न हो तो भेदमें ही ज्ञान उलझ जायगा, उसके द्वारा वस्तु तत्त्वको सुलझाना चाहेंगे लेकिन वह सुलझेगा नहीं, उलझन पैदा हो जायगी। अतः भेदज्ञान भेदज्ञानके लिये नहीं, अभेद स्वभावका दर्शन करनेके लिये होना चाहिये। क्योंकि भेद अंश है, अपूर्ण है इसलिये व्यवहार है, अयथार्थ है, हेय है, अभेदका विकल्प भी निश्चय होकर भी पूर्ण नहीं है, सर्वथा सर्वदा उपादेय नहीं, उससे भी आगे जो निर्विकल्प दशा होती है, वह उपादेय है।

इस तरह प्रमाणके द्वारा वस्तुकी परीक्षा होती है। मोटे रूपमें द्रव्यार्थिककी भिन्नता निश्चयसे और पर्यायार्थिककी भिन्नता व्यवहार

से है। लेकिन ऊपर बनाये गये, विज्ञानपूर्वक उनसे वस्तुत्वका निर्णय करना चाहिये। तभी उनकी सार्थकता है। नहीं तो वे स्वयं पूर्ण प्रतिभास करानेमें असमर्थ रहते हैं।

समस्त उपाधियोंके संयोग व समवायसे रहित शुद्ध अवस्था ही लोकोत्तम, शरण और मंगलमय है। उसकी प्राप्तिका उपाय चित्स्वभावकी दृष्टि है। चित्स्वभावकी प्राप्तिका उपाय भेदज्ञान है। भेदज्ञानका उपाय, वस्तुपरीक्षण है और उसका उपाय है प्रमाण। उस परीक्षक प्रमाणके प्रमाणांश दो हैं—१ निश्चयनय और २ व्यवहार नय। अब यहां निश्चयनय का स्वरूप कहते हैं—

सूत्र—स्वाश्रितो निश्चयः ॥८॥

जो स्वाश्रित है वह निश्चयनय है, जहां स्वाश्रयका ही अवलम्बन है परका नहीं वह स्वाश्रित दृष्टि है। जगतके जीवोंका रवैया पराश्रित दृष्टिका रहा। जो भी जीव दुःखी हैं, आकुलित हैं वे पराश्रित होनेसे हैं, नहीं तो कौन दुखी है? कोई नहीं। पराश्रित भावोंमें दुःख ही दुःख है, यदि किसीके दुःखकी कहानी सुनने बैठो तो उस कहानीमें आपको यही दिखेगा कि इसमें परावलम्बनका दुःख किसने लिया। किस परद्रव्यका आश्रय लिया यह प्रायः उसके वचनोंसे वा कार्योंसे मालूम पड़ता है। वह पराश्रित दृष्टि-पर्याय बुद्धि दुःखका मूल है। ऐसा वह पराक्रमी अपनेको और आत्म-साधकों, गुरुओंको, आत्म गुणोंको उनके महत्वको नहीं जानता, उनकी उपासना नहीं करता निज मार्गको नहीं पकड़ता तो दुःखी होता है। ऐसे जीवोंको केवलीप्रणीत आगम और संतसमागम, दुःखसे छुटाने वाली स्वाश्रय दृष्टिका उपाय है। कोई चल चित्र दिखावे तो उसमें रुचि कैसी होती है? और आगमके पठन पाठनकी रुचि कैसी है? ऐसे अन्तरोंकी निर्मात्री बाह्यदृष्टि और अन्तरदृष्टि है। सो देख लो। जगतके सारे जीव परके भावको लिये

हुए हैं। जो स्वका आश्रय लेते हैं वे मोक्षमार्गी हैं। बाकी सब दुःखी हैं। भैया! जिनका आश्रय ले रहे हो वे सब बाह्य हैं, वे यहां ही पड़े रह जावेंगे सूत भी साथ न जावेगा। पुत्रको कैसे पालते हैं, लेकिन वह इस पर्यायमें भी कितना साथ देता है? और आगे तो साथ, रहेगा ही क्या? संसार की जो परिस्थितियां हैं, उसमें मोह काम करता है उसका फल कौन पावेगा? सो देख लो। भैया मोह-का नशा ऐसा है कि अपनी विपत्ति नहीं सूझती दूसरेकी विपदा तो दिखती है। जैसे—जंगलमें आग लगी हो और उसमें ही खड़ा खड़ा जो जंगल जलनेका तमाशा देख रहा हो तो उसकी थोड़ी देर बाद उसकी क्या हालत होगी? सो समझो। वह स्वयं उसीमें जलकर खाक हो जाने वाला है। जिसको कि वह भूला जा रहा है। वह सबको देखता हुआ भी अपनेको नहीं देखता, ठीक इसी तरह अज्ञानी जीवकी परकी तरफ दृष्टि है अपनी ओर नहीं। उसे अपने मनुष्य भवकी कठिनताका परिज्ञान नहीं है। दिल्ली गये और भाड़ झोंका तो क्या किया? यह तो वह देहात में ही रहकर कर सकता था, वहां जाने की क्या जरूरत थी? प्रयोजन यह कि मनुष्य भवमें आनेका फल क्या? लाभ क्या? सावधान होकर विचारें। क्या विषयभोगरूपी भाड़ झोंकना? यह तो तिर्यञ्च पर्यायमें ही कर सकते थे, मनुष्य जन्मको क्या सार्थकता हुई। अपनेका आश्रय लेनेका प्रयत्न करो। सबसे नाता तोड़ो। ये जो दीखते हैं, जादू है धोखा है, कुछ नहीं हैं ऐसा नहीं है। ये हैं लेकिन कल्याण इनसे नहीं है। कल्याणके लिये स्वका ही आश्रय लेना पड़ेगा। इस लिये कहते हैं ये तुम्हारे लिये, तुम्हारे हित के लिये कुछ नहीं हैं, स्वप्नके समान हैं। पराश्रितपना अच्छा नहीं। परके आश्रयसे सुन्दर स्वादिष्ट भोजन मिले और स्वके आश्रयसे रूखा सूखा भी मिले तो वह अच्छा लोक नीति वाले मानते हैं। कहावत में कहते भी हैं पराधीन सपने हु सुख नाहीं। परके आधीन

सुख भी दुःख है, और अपना दुःख भी सुख हैं। जैसे कोई स्वयं गिर पड़े तो उसका उसे उतना दुःख नहीं होता, वह दुःख मालूम नहीं करता जितना कि दूसरेके द्वारा गिराये जानेसे। प्रयोजन यह कि स्वाश्रित बात हमेशा सुखदाई और पराश्रित बात हमेशा दुःखदाई हुआ करती है।

प्रवचनसारमें बताया:—

यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरुपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः शुद्धद्रव्यनिरुपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन्नाहं परेषामस्मि न मे परे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसम्बन्धमुद्धूय शुद्धज्ञानमेवैकमहमित्यनात्मानमुत्सृज्यात्मानमेवात्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्तां निरुणद्धि स खल्वेकाग्रचिन्तानिरोधकस्तस्मिन्नेकाग्रचिन्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात्। अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः।

यहां फलितार्थ यह बताया कि—शुद्धनयसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। एव शब्द जो लगा है उससे आचार्य निःशंक अपना निर्णय बता रहे हैं परन्तु उसकी पूर्व प्रक्रियापर भी ध्यान दो कहते हैं कि जो व्यवहार नयका विरोध न करके मध्यस्थ है, वह ठीक रास्ते पर है। यहां प्रश्न हुआ कि जो अशुद्ध नयका विषय है या व्यवहारका निरूपण है वह उतने अंशमें तो सच है। तब उससे मध्यस्थ क्यों होना चाहिये? उत्तर हमारे लक्ष्यकी बात नहीं होने से, वहां हितकी दृष्टि नजरमें नहीं होनेसे। तथा जब हित नहीं तब विरोध क्यों न किया जावे? इसका उत्तर यह है कि द्रव्य वह अशुद्ध है जिसका कि वह निरूपण कर रहा है उसकी अशुद्धता झूठ नहीं है, अतः अविरोध रखा। इस तरह होकर फिर निश्चयका अवलम्बन कर मोहभावको दूरो और अपनेमें चैतन्य प्रभुके दर्शन करो।

जगतके जीव खूनका दाग खूनसे धोना चाहते हैं, अर्थात् मोह और रागसे बढ़े हुए दुःखको मोहसे शांत करना चाहते हैं, सो शांत होगा या बढ़ेगा ? खून तो जलसे धुलेगा। मोहसे होने वाला दुःख तो निर्मोहितासे वीतरागतासे जायगा परके आश्रयसे होने वाला दुःख, उसको छोड़नेसे होगा।

अपने आपने संभालो, अपनी शक्तिको संभालो और दीनता हटाओ। बन्दर पहिले डरसे मनुष्यकी तरफ घुड़कते हैं, मनुष्य जब महसूस करता कि हमला करनेके लिये घुड़कता है तब मनुष्य डर जाता है और जब उसे डरा हुआ देखता तब वह उसपर हमला कर देता है। तो मनुष्य दीन होकर शक्तिहीन बनता और दुःखी होता। अपनी शक्तिकी संभालसे दीनता नष्ट होती और नहीं तो दीनता आती। इस दीनताका कारण अज्ञान है वस्तुके स्वतन्त्र स्वरूपके अवगमके विना ही यह आशा प्रतीक्षाकी विपदा व दीनता है वस्तुके निज केवल स्वरूपको स्पर्श करता है निश्चयनय, उसके अवलम्बनसे दूर किया है मोह जिसने ऐसा होता हुआ भी भव्यजीव ऐसी भावना करता है कि "न मैं दूसरोंका हूँ और न मेरे कोई दूसरे हैं मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं" वह इस भावनाके प्रसादसे स्व और परके परस्पर स्वस्वामिसम्बन्धको समाप्त कर देता है। यह जबरदस्तीका सम्बन्ध अर्थात् पदार्थ तो कोई किसीका त्रिकालमें होता नहीं है किन्तु मान्यताकी पहलवानी है सो यह थोपा गया सम्बन्ध ही जीवोंके दुःखका मूल है, उस सयोगबुद्धि को समाप्त करके यह भावना भाइये कि "मैं एक शुद्ध ज्ञानमात्र ही हूँ मैं एक शुद्ध ज्ञान मात्र ही हूँ"।

तुम तो समझो मैं एक ही हूं 'आत्मा'। इसमें किसीका प्रवेश नहीं। दूसरे लोग कोई भी चेष्टा करो। किन्तु मैं तो एक हूं। ऐसी स्वकी दृष्टिमें दीनता का क्या प्रयोजन ? जो दुनियांको राजी करके

चलाना चाहता है वह सम्पन्न होते हुए भी दीन है। उस दीनताको हटाकर शक्तिकी संभालसे स्वाश्रित दृष्टि-निश्चय दृष्टि होती है जो स्वाश्रित कहा जाता है वह निश्चय दृष्टि है। निश्चयनयके भेदोंमें इसे विशेष बतलाया जायगा। यहां इतना ही समझना कि केवल एकको आश्रय करके जो बोध होता है वह निश्चयनय है। वह खंडको भी विषय करता और अखंड को भी। जब खंडको विषय करता तब अशुद्ध या शुद्ध निश्चयनय और जब अखंडको बोध करता तब परम शुद्ध निश्चयनय कहा जाता है। जैसे–जीवको रागी द्वेषी रूप देखा तो वह है तो जीवका इसलिये निश्चयनयका विषय हुआ पर विभाव पर्यायको देखा इसलिये अशुद्ध कहलाया। तथा अनन्त चतुष्टयमय देखा तो स्वभाव पर्यायका बोधक होनेपर भी खंड का विषय करनेसे शुद्ध निश्चयनय कहलाया। किन्तु अभेदका विषय करना अभेद शुद्ध निश्चयनयका काम है। जिसे परम शुद्ध निश्चयनय भी कहते हैं। इस तरह ही द्रव्यको देखना सो स्वाश्रित-पना है और निश्चयनयका विषय है। इस प्रकार अनादि अनन्त अहेतुक चिन्मात्र निज तत्त्वको कारण रूपसे उपादान करने वाला अन्तरात्मा स्वाभावातिरिक्त सर्व पर व परभावोंको छोड़कर आत्मा को ही आत्मारूपसे ग्राह्य करता है वह पर द्रव्यसे दूर हो जानेसे विमुख हो जानेसे एक अपने आपमें ही उपयुक्त हो जाता है ऐसा ध्यानी आत्मा उस उस ध्यानके कालमें उपयोग दृष्टिसे शुद्धात्मा होता है। यहां यह निर्णय कर लेना चाहिये कि निश्चयनयकी कितनी परमोपयोगता है। लोकमें भी लोक निश्चय शब्दका बड़ा महत्त्व देते हैं इसका रहस्य इस परमार्थ प्रकरणसे समझना चाहिये इस तरह निश्चयनयका सामान्य स्वरूप वर्णन करके अब व्यवहारको कहते हैं :—

एक सूत्र है—पराश्रितो व्यवहारः जो दूसरे द्रव्यका सम्बन्ध लेकर देखता है वह सब व्यवहार है जो दूसरे द्रव्यके आश्रित भाव-को विषय करता है वह नय व्यवहार कहलाता है।

पहिले बता चुके हैं कि कभी व्यवहार निश्चय और निश्चय व्यवहार हो जाता है, अतः दृष्टि अनेकांत रखना चाहिये। जैसे पूछा जाय कि (पुस्तक दिखाकर) यह है या नहीं ? तो उत्तर होगा है भी और नहीं भी है। पुस्तक पुस्तक है और चीज नहीं है, पुस्तक अन्य चीज नहीं है यह न मानो तो क्या हानि है। तब वह और चीज बन जावेगी और पुस्तक को पुस्तक न मानो तो फिर वह नहीं रहती, उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। तो अपने ही चतुष्टयसे पुस्तक है परके चतुष्टयसे नहीं है। देखो विचित्रता विरुद्ध लक्षण रख कर भी एक धर्म दूसरेका साधक बन रहा है। कहा भी है:—

कोई कहे कुछ है नहीं, कोई कहे कुछ है।
है और ना के बीच में, जो कुछ है सो है॥

जैसे—पिता पितृत्वकी अपेक्षासे पिता है, अपने पिता पत्नी या बन्धुके धर्मकी अपेक्षा सो तो पिता नहीं है। यदि पितृत्व धर्मसे भी वह पिता नहीं है तो उसका अस्तित्व ही खतम होता है। यदि अनेकांतसे कहो तो उसके सब धर्म उसमें हैं। यदि वस्तुका पूरा परिचय मालूम करना हो तो उसका पूरा हाल मालूम करो। अर्थात् प्रमाण ज्ञान तभी होता जब पूरे नय अंशोंका ज्ञान होगा। निश्चय और व्यवहारका यथार्थ ज्ञान होनेसे ही प्रमाणका ज्ञान होगा। इसका ज्ञान करनेवाले जो नवीन अभ्यासी हैं उनको यह बात कुछ कठिनाईसे आवेगी लेकिन यह बात नहीं, कि आ न सकती हो। जैसे—साईकिलका नया सीखा—और दूसरा सीखा हुआ, इनमें बड़ा अन्तर होगा। सीखे हुएकी जैसी उसके चलानेमें निर्भयता और कलात्मकता है, वैसी कलात्मकता व निर्भयता नया

सीखामें नहीं है। इसी तरह प्रमाण और नयके तत्त्व-ज्ञानमें भी समझना चाहिये। यह कार्य बड़ा गहन है बड़े बड़े इसमें उलझ जाते हैं। लेकिन अभ्याससे सब सरल साध्य होता है। पर्यायको जानते हुए भी निश्चय उसके ध्यानमें रहता है। उसका खुलासा आगे होगा।

निश्चय-शब्द, 'निः' और चय दो टुकड़ोंसे बना है 'चि' चयने (सं, चय) धातुसे संचय अर्थमें चय शब्द बना है और निः का मतलब है निःशेष—सम्पूर्ण, तथा निः का दूसरा अर्थ निकलना भी होता है। तब एक जगह निश्चयका अर्थ हुआ कि जहां एकमें अधिकका संचय नहीं, परका ग्रहण नहीं सो निश्चय, तथा दूसरा अर्थ हुआ कि जहां सबका संचय हुआ है। अनन्तशक्त्यात्मक द्रव्य सामान्यका ऐसा प्रतिभास है कि सबके युगपत् ग्रहणमें सामान्य प्रतिभासका ग्रहण रह गया, वह निश्चयनय है, यह तो एक द्रव्यकी बात है, और यदि परका संचय करना है तो ऐसा करो कि कोई ना छूटे। सब आ जाएँ, महासत्ता देखो। आत्म द्रव्यमें भी अन्य जीवोंके संचयका विचार होते सब आत्माओंका अभेद रूपसे विचार करो ऐसे सर्वव्यापक भावपर जाओ और नहीं तो सबको छोड़, सम्पूर्ण परपदार्थोंका आश्रय छोड़ केवल स्वरूपको विचारो यह विचार रूप ज्ञान भी निश्चयनय का सामीप्य है। निश्चयनयके ये दो अर्थ दो तरीके हुए एक तो द्रव्यदृष्टि और दूसरी स्वभाव दृष्टि। स्वभावमें कुछ नहीं बटोरना (संचित करना) और द्रव्यकी दृष्टिमें सबका सामान्य ग्रहण करना। निश्चय शब्दसे ये अर्थ प्रकट भास रहे हैं शब्दोंमें अर्थ वाच्य रहता है। जैसे हिन्दीमें भी चौकी अर्थात् चतुष्कोण वाली चीज चटाई-चट आई आदि। निश्चयनय यह स्वयं अपने अर्थकी तारीफ बतलाता है। उसके दो तरहके अर्थ ऊपर बतलाये जा चुके हैं। जिसमें जोड़ और तोड़ न हो उसे

निश्चय कहते हैं। आत्मा ज्ञानवान, दर्शनवान है यह तोड़ हुआ। जैसे—नमक, मसाला आदि चीजोंसे बने भोजनको, उसके नमक आदिके अलग स्वादको कहना। यह दृष्टान्त तो भिन्न सत् का है परन्तु प्रकृत अभेद स्वरूपी एक द्रव्य है। आत्मामें राग द्वेष है यह कहकर उसमें यह पर निमित्तकी चीज जोड़ दी। पहिला भेद रूप तोड़ और जो स्वभावमें नहीं ऐसेको मिला देना ऐसा ये जोड़, ये दोनों चीजें व्यवहार हैं। जैसे दूधका मक्खन वगैरह निकाल देना खराब है वैसे ही उसमें पानी वगैरह मिला देना भी ठीक नहीं क्योंकि बाहिरी चीज मिला देनेसे भीउसकीअसलियत खतम होती है। निश्चय इन दोनोंसे रहित है। ऐसे निश्चयनयसे आत्मा अखंड सत्स्वरूप है। मनमें विचारों कितनी जोड़ बुद्धि लगी हुई है। अपने को स्वतंत्र सबसे प्रथक् देखो। फलाने मेरे हैं ये जोड़बुद्धि क्यों लगाये हो। जगतकी वर्गणाओंको खींचनेके निमित्त होकर अपनी व उनकी शकल मत बिगाड़ो। निजको निज और परको पर जानो। जड़ पदार्थमें उपयोग विशेष रहनेसे चित्तकी स्थिरता नहीं हो पाती, जिनका मन कमाईमें विशेष रहता है उनका उपयोग धर्ममें कैसे लगेगा? निष्फिकर दृष्टिवाले इसमें उपाय करेंगे, इधर ध्यान लगावेंगे तो उनको सरलतासे वस्तुतत्त्व प्राप्त होगा। और धनकी कमाई पुण्यके निमित्तसे स्वयं होती है, उसकी फिकर क्या करते हो। ऐसे निष्फिकर होओ कि भयंकर दरिद्रता आ जानेपर भी अपनेको दुःखी मत समझो, दुःखी मत बनाओ दुःख और आपत्तिका तो स्वागत करना चाहिये। कोई बड़ा बनता है, नेता बनता है, तो दुःख और आपत्तियोंको झेलकर ही बनता है। हम रामचंद्रजी सरीखे बनना चाहते हैं लेकिन उन्होंने दीर्घकालतक जंगलोंकी खाक छानी, उसका ध्यान नहीं करते, स्वोचित कर्तव्य निभाना नहीं चाहते तो उनके समान कैसे बन सकोगे। हमें हर तरहकी ऊंच, नीच

परिस्थितियोंका स्वागत करना चाहिये। सारे विकल्पोंको हटाओ और कर्तव्य-पथपर डट जाओ और बुरे दिनका स्वागत करो। दुःखमें ईश्वरका स्मरण होता है, कर्तव्यका बोध होता है, मानवता पनपती है। उसमें अनेकों ऐसे ही महान् गुण हैं, जबकि सुखमें पापबुद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त सुखके बाद दुःख नियमसे आता है जबकि दुखके बाद सुख आता है। जब सुख सामग्री आवे तो अनुभव करो कि आगे दुःख अवश्य आनेवाला है इसलिये इसमें फूलो नहीं फंसो नहीं, कुछ शांति की योग्यता मिली है तो कर्तव्यको करके समयका लाभ लेलो। यदि दुःख आता है तो विचारो, घबरानेकी बात नहीं, आगे नियमसे सुख आनेवाला है। कर्तव्यसे हटकर और अधिक दुःखका निमित्त मिलाना ठीक नहीं। और अच्छा देखो भैया संपदा मिलती है सो कैसे? पुण्यके नाशसे, वह इस तरह कि जो पुण्य बांधा है वह जब तक सत्तामें है तब तक सुखसामग्री नहीं। जब वह उदयमें आया माने पुण्यका नाश होना शुरू हुआ तब सुखसाधन मिले। जिन्हें सुखसाधन हैं उन्हें, यह निश्चय करना चाहिये कि मेरे पुण्यका नाश हो रहा है। तब रागद्वेषसे रहित होकर ऐसा पुण्य बनाओ जो अक्षय हो, और वास्तवमें पुण्य कहलाने लायक हो। यह इन्द्रियसुख तो दुःखकी ही एक जाति है, नागनाथ कहो चाहे सांपनाथ दोनोंके मतलब एक होते हैं। आत्माके अहितकी दृष्टिसे तो दोनों शुभ और अशुभ एक ही हैं। अतः स्वाश्रित स्वभावका आश्रय लो। यदि परकी दृष्टिकी आदत नहीं मिटती तो एक ही बारमें एक दृष्टिसे सर्व परको देख डालो। लोकमें भी देखा जाता है कि यदि सारे विश्वपर प्रेम किया जाय तो कुटुम्बका ख्याल नहीं रहता। इसी तरह परद्रव्यों की तरफ ख्याल जाता ही है तो ऐसा करो जिसमें सारे जगतका समावेश हो जाय, सबकी द्रव्यरूपता झलक जाय। विशेषको छोड़ सामान्यपर निश्चयपर दृष्टि डट जाय।

समस्त परद्रव्योंको अपनेसे पृथक् समझो। इस प्रकार परका अवलम्बन हटाओ और ज्ञान भावका आश्रय लो। ऐसा आत्मज्ञानी जीव जब विकल्पमें आता है, तब स्वका पूर्व अनुभव स्मरण में आता, उस स्मृतिसे गृहस्थीका समागम रहते हुए भी उनमें लीन नहीं होता। स्वाश्रितदृष्टि होनेसे ही 'गेही पै गृहमें न रचै ज्यों जलमें भिन्न कमल हैं' की प्रवृत्ति रहती है। हम यदि सिद्ध पद पावेंगे तो तथा जिन्होंने भी सिद्धि पाई है, उन सबका आधार है स्व अनुभूति। जितने भी चक्रवर्ती या तीर्थंकर आदि महापुरुष हैं उन सबने इस अनुभूतिका आश्रय लेकर ही अमल पद पाया है। न खुदके शरीर तथा न और दुनियाकी मान्यतामें सुख शांति मिलेगी। वह तो मिलेगी सहजपरिणतिमें। इस निजी व्यापारको करो जो कि सरल स्वावलम्बी, निरपेक्ष और हानि की आशंकासे सर्वथा दूर है। ऐसे निजी व्यापारको कितने करते हैं? उन्हींमें अपनेको समझो हम अपनेको देखें कि सत्पथमें कितनी देर रहते और कुपथमें कितनी देर। सहज ज्ञानसे अतिरिक्त जो है वह सब असत्य है। दुनिया से [illegible]म रखना असत्य ही है। विकथाएं तो असत्य हैं ही। क्योंकि सत्य वह है जो अपने स[illegible] में हो। और अपनेमें जो है उसकी कथा सत्यकी कथा है और सब असत्कथा विकथा है कषायोंके संस्कार और मोहकी वासनाएँ इतनी दृढ़ हैं कि धर्मकथा सुननेमें मन नहीं लगता। थोड़ा लगता है तो झट परपदार्थोंमें पहुँच जाता। परपदार्थकी कथा करने लगता है, कितने खेदकी बात है कि अत्यन्त स्वाधीन, अनुपमेय और तीर्थंकरोंसे सेवनीय रत्नको नहीं अपनाते। बुद्धिमान पुरुष जिसे गले लगाते उसीपर हम दृष्टिपात नहीं करते। पर तो पर है। अच्छा देखो धन कमानेकी रुचि है, उसे कमा लिया धनवान होगये फिर क्या हुआ दुर्गतियोंमें गये। दुनियाका नग्न स्वरूप तो देखो सब अपनेमें परिणमन कर रहे हैं,

यह हमारा पुत्र है मित्र है, यह भाव व्यर्थ ही हैं, ऐसे मिथ्या भाव ऐसे ठसाठस भरे हुए हैं कि निकल नहीं पाते। होना तो यह चाहिये कि आत्माको आत्माके ढंगसे देखनेमें ज्यादासे ज्यादा समय लगावें, क्योंकि परकी चिन्ता करनेमें समय नष्ट करके हम किसीका क्या कर देते हैं ? आपका विकल्प करनेसे उसका वैसा होता है यह बात नहीं, उनके वैसा होनेमें उन उनका पुण्य उदय निमित्त है। आप पापरूप कहो या पररूप कितना ही उपाय कीजिये उससे क्या होगा सिवा अहितके जिसे (सुखको) तुम चाहते हो उसका उपाय वह नहीं है। ज्ञानी पुण्य और पाप दोनोंको बराबर समझता है। यह तो कीचड़ है क्योंकि इससे स्वानुभूतिको समय नहीं मिलता। लोग धर्म आराधनके विषयमें यह कहते सुने जाते हैं कि हमें फुर्सत नहीं मिलती, तो भाई आगेका भी तो ध्यान करो 'इस फुर्सत नहीं मिलती'का फल क्या होगा ? फिर नरकोंमें घनोंकी चोट सहते सहते भी फुर्सत नही मिलेगी। अथवा फिर ऐसी फुर्सत मिलेगी कि फुरसत ही फुरसत रहेगी असंज्ञी अवस्था, निगोदकी अवस्था मिल जायगी जहां पुरुषार्थ करने योग्य संज्ञा ही नहीं, वहां कर्मफल भोगनेके लिये फुरसत ही फुरसत रहती है। थोड़ा प्रयत्न उपयोग लगाकर अपने लिये भी करो, दूसरा भार होनहारको सौंपदो, दिलको मजबूत बनाओ। कुछ न रहेगा तो हम तो रहेंगे हमारे गुणोंका जो सत् परिवार है वह तो रहेगा। वाह्य वस्तुओंके वियोग में घबड़ाना नहीं चाहिये क्योंकि संयोगमें भी तो वाह्य वस्तु तुमसे अलग है और उसकी तुम क्या चिन्ता करते वह तो स्वयं सुरक्षित है। चीजको कोई चुरा नहीं सकता। चीज क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर हो जाती है। सत्ताका विनाश कभी नहीं होता। सन् १८५७ का जब गदर पड़ा दिल्लीके एक जशरथराय जो कि जौहरी जैन था उसने अपने हीरा जवाहरात और सोना चांदी तिजोड़ियोंसे निकालकर बाहिर आंगनमें ढेर लगाकर रख दिये। लूटपाटवाले आये तो

उन्होंने उनसे ऐसा करनेका कारण पूछा। जशरथरायजी बोले भाई मैं जानता था आप लोग आवेंगे तब आपको संदूक खोलनेका कष्ट न उठाना पड़े इसलिये मैंने पहिलेसे ही निकालकर रख दिये हैं। डकैत लोग बड़े प्रभावित हुए और मालको छोड़ ही नहीं गये सुरक्षाकेलिये अपने आदमी पहरेपर रख दिये। जशरथरायजी ने अपना दिल मजबूत बनाया तभी भक्तोंसे रक्षा मिली यह तो मात्र व्यावहारिक बात है दुनियांके वैभवको नहीं देखो, दिलको मजबूत बनाओ। कुछ न रहेगा तो हमतो रहेंगे ही ऐसा निर्मल भाव रखनेसे धनभी आयगा। लेकिन ऐसा भाव रखकर पुण्य नहीं करना नहीं तो नहीं आवेगा, क्योंकि उस कल्पनामें पुण्यका ध्यान तो बना ही रहा। जिसने सोचा कि यहां भूत तो नहीं होगा, तो भूत वहां नहीं भी होनेपर उसके स्मरणने उसको हिला कर कमजोर या भयवान बना ही दिया। इसलिये कोइ भेद विकल्प न करके अभेद स्वभावको जानना ही निश्चयका प्रयोजन है, अब व्यवहारनयका वर्णन चलता है। क्योंकि पराश्रित भावोंको इसके बिना नहीं समझा जा सकता। अतः कहते हैं:—

॥ पराश्रितो व्यवहारः ॥ ॥

परके निमित्त रूप या उपयोगरूप आदि किसी भी प्रकारके अवलम्बन होनेपर जो भाव हो वह व्यवहार है व्यवहारनयके द्वारा अभूतार्थको अभूतार्थ रूपसे जानो उससे आत्मामें यह विवेक लगाना कि जो परपदार्थोंसे अपनेको शरणवाला मानता है वह असहायी है और जो अपनेको परसे असहायी मानता है वह सहाई है। लोक में कहा जाता है कि "विना मरे स्वर्ग नहीं मिलता" सो ठीक ही कहते हैं। आप स्वयं ही जिस कामको कर सकता यदि वह दूसरोंसे कराया जाता है तो उसमें गड़बड़ी आती है होता ही नहीं है। स्वाश्रित कार्य ही ठीक और पराश्रित विडंबनारूप होते हैं। नौकर आरामको रखते परन्तु उससे उतना सुख नहीं मिलता जितना कि

उसकी चिंता देखभाल डांट डपट आदिमें दुःख होता है। इस कारण व्यवहार में भी स्वाश्रित सुख पराश्रित करना ठीक नहीं।

'व्यवहरणं व्यवहारः' तोड़कर भेद करना और जोड़ देना सो व्यवहार है। आत्मा एक अखंड सत् है। उसमें ज्ञान आदि भेद तोड़ और रागादि भाव जोड़ है। यह जोड़ और तोड़ ठीक नहीं है। जो हलुआमें आटा, घी, शक्कर और पानीका अलग अलग विकल्प करते हुए जब तक खारहा है तब तक उसे आनन्द नहीं है, क्योंकि उस समय उसके एकरूप स्वादका आनन्द नहीं उसका विकल्प जो अलग चीजोंमें घूम रहा है इसलिये। जब उनका अलग अलग विकल्प छोड़कर एकरूपसे स्वादका अनुभव करता है तब आनन्द आता है यह लौकिक बात है। इसी तरह आत्माको ज्ञान, दर्शन, सुख शक्ति आदि गुणका जब तक अलग अलग विकल्प है तब तक आत्माका अनुभव नहीं। आत्माका जब अनुभव हो तब विकल्प नहीं रहते। आत्मानुभवके समय आत्माके ज्ञान दर्शन आदि गुण पर हैं। उनके आश्रयसे होने वाली कल्पनाएं पर हैं। पर्यायके आश्रय, गुणके आश्रय आत्मप्रदेशोंके आश्रय जो हैं वह व्यवहार है। व्यवहारकी खासियत है कि वह कहीं टिकता नहीं है, यों तो निश्चयनय भी नीचेकी अवस्थाओंमें टिकता नहीं है और आगे आगेके अभेद विकल्पों के समक्ष वह व्यवहार होता चला जाता है, किन्तु आखिरी निश्चयनयका विकल्प जिसके उत्तर क्षणमें अभेद अनुभूति होने वाली है वह उसमें स्थायित्व लाता है। अभेद अनुभूतिकी दृष्टिरूप निश्चयनय निश्चयनयके स्वरूपमें टिकने वाला होता है। बाकीकी परिस्थितियोंमें न निश्चयनय टिकता और न व्यवहारनय। आत्माको साध्य करनेके लिये जो प्रयत्न होता है वह सब व्यवहार है और जहां वह प्रयत्न साध्यरूपमें बदलने लगता है वह निश्चयनय है। विकल्पदृष्टिके अभाव रहित ज्ञान दर्शनमय-साध्य अवस्था है।

जीवोंको व्यवहारमें पड़ना पड़ता है, वृत्तिसे पृथक् कहां रहेंगे? व्रत, पूजादान, संयम, स्वाध्याय अथवा ध्यानमें नहीं रहेंगे तो क्या करेंगे? किस दशामें रहेंगे? व्यवहारमें रहना तो होता है परन्तु दृष्टि या हितका निशाना वह नहीं रहना चाहिये। निश्चयका विषयभूत अखण्ड स्वभाव ही ज्ञानीको अपनेमें मिलता है। इस स्वभावकी प्राप्तिका लाभ अशुभोपयोगके अनन्तर पश्चात् किसीको भी नहीं हुआ। जिसे यह लाभ हुआ उसे शुभोपयोगके अनन्तर ही हुआ। तथा जो जिस अवस्थामेंसे गुजरता है उसे उस अवस्थासे विरक्ति रहना अधिक आसान है, अपेक्षा उसके जोकि उस अवस्था का स्पर्श भी नहीं कर पाता। प्रायः जिनको अच्छा खाने पीनेकी सुविधा नहीं, उनके खाने पीनेकी लालसा विशेष रहा करती और जिनको उसकी सुविधाएं हैं उनकी इच्छाएं ज्यादा नहीं बढ़ती। इसी तरह, शुभउपयोग जिसको सुलभ होता है ऐसे शुद्धोपयोग वाले जीवका शुभोपयोगमें आदर नहीं होता। ऐसी प्रवृत्ति बनाना कठिन नहीं है। वह ज्ञानी जिसने अपना एक लक्ष्य बना लिया उसके लिये व्रत आदि भी आपत्ति ही है। क्योंकि उसकी दृष्टि तो इससे बहुत आगेकी हो गई है। लक्ष्य नहीं बनानेवालेका भ्रमण होता ही रहता है। इसलिये लक्ष्य बनाओ। नाव खेने लगे लेकिन लक्ष्य बनाया नहीं कि किस दशा में जाना है, कभी दक्षिणमें खेता है तो कभी पश्चिममें फिर उत्तर और पूर्व आदि दिशाओंमें अपनी नौका घुमाता रहता है परिश्रम खूब करता है लेकिन नाव कहां रहती है? वहींकी वहीं बीच समुद्रमें उसकी नौका बनी रहती है क्यों? लक्ष्यहीन होनेसे। यदि लक्ष्य पार होनेका होता तो कम परिश्रममें ही पार लग जाता। इसी तरह हमें अपने शुद्धात्म स्वरूपका लक्ष्य न होनेसे हम भी संसार समुद्रके पार नहीं पहुँच सकते। हमें वस्तुके स्वरूपको समझना चाहिये। व्यवहारकी चीजें

लक्ष्य हीन क्रियाएं हमें पार न लगावेंगी। इसलिये लक्ष्य बनाओ। वह कैसे हो ? भेद ज्ञान करके होगा। और भेद ज्ञान होगा यथार्थ पदार्थकी पहिचानसे ऐसी बुद्धि करनेपर ज्ञात हो जायगा कि हमको क्या करना है। निमित्तोंके आश्रयसे हटानेकी बुद्धि भी वैसी भावना करनेसे होगी। 'भावना भवनाशिनी' कहा जाता है सो ठीक ही है। और दूसरे संसारके कार्योंके समान एकांतमें इसका भी एक चित्तसे विचार करना चाहिये। सामायिक इसीके लिये होती है। भेदज्ञान करना. आत्मकल्याणका विचार करना भावना करना। किन्तु इन सबमें भेद विज्ञान मुख्य है और सामायिकका प्रधान स्वरूप समता भाव है। दुःखी तो अपने आप होते हैं, नहीं तो और कारण क्या है ? क्या दूसरे दुःखी करते ? नहीं। एक कथा प्रचलित है—एक बादशाह पशुओंकी बोली जानता था। एक दिन पशुशालामें गाय, बैल और घोड़े की बात सुनी, घोड़ा बैलसे कह रहा था कि तुम बेवकूफीसे खेतमें हमेशा जुतते हो, दुःखी होते हो बैल बोला कि तब हम क्या करें ? घोड़ा बोला पेट फुलाकर बीमारीका बहाना बनाकर पड़ रहो। राजाने घोड़ेकी यह बात सुनली। दूसरे दिन सेवकने बताया कि बैल तो आज बीमार है। राजाने तब घोड़ेको जोतनेकी आज्ञा दी। उसकी चालाकीके कारण दूसरे दिन खेतमें उसको ही जोता गया। दूसरे दिन घोड़ेने बैलसे कहा भाई अब बहाना ज्यादा दिनोंतक बनाना ठीक नहीं, कल जुतनेको चले जाना, नहीं तो कल मृत्यु कर दी जावेगी। यह बात भी बादशाहने सुन ली, उसकी उस चालाकीसे बादशाहको हंसी आगई। पासमें रानी बैठी थी, उसने हंसनेका कारण पूछा, राजाने घोड़ेकी चालाकी की बात कही। रानीको मनमें तीव्र उत्कन्ठा हुई पशुओंकी बोली सीखनेकी। बादशाहसे उसने हठ किया कि हमको भी पशुओंकी भाषा सिखाइये उसने कहा कि जिस गुरुसे हमने

यह सीखी है उसने कहा था कि किसीको नहीं सिखाना। यदि सिखाओगे तो उसी समय तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी। रानीने बादशाहकी मृत्युका भी ध्यान न कर पशुओंकी बोली सिखानेकी प्रेरणा की, बादशाहने ६ माहका समय दिया, कि इसके बाद सिखायेंगे। ६ माह बाद बादशाहकी मृत्यु हो जावेगी यह जानकर सारे कटुम्बके लोग प्रजा और पशु चिन्तामें रहने लगे एक दिन मुर्गा मुर्गी वहां खेल रहे थे, उनसे कहा कि रे कृतघ्नों! तुम्हें कोई चिंता नहीं खुशी मनाना शुरू कर दिया। राजाके मरनेका जरा भी शोक व ख्याल नहीं कि राजा तो मरने जा रहा है और तुम खेल रहे हो तुम कृतघ्नी हो, तुझे हमारी राजा की मृत्युका शोक नहीं। तब मुर्गा बोला कि मुझे राजाके मरनेकी खुशी नहीं है मुझे तो इस बात पर हंसी आती है कि वह अपनी ही मूर्खतासे स्वयं मर रहे हैं, यदि वह न मरना चाहें तो रानीको पशुभाषा सिखानेसे इन्कार कर दें, नहीं माने तो डांट फटकारकर दें नाराज होना होगी हो जायगी उसका क्या बिगड़ता, उसकी मृत्यु तो बच जायगी। इस बातको सुनकर बादशाहको अपने अविवेकपर लज्जा आई, और समझ आई, जान बच गई। मतलब यह कि संसारी प्राणी भी इसी तरहकी बेवकूफी कर रहा है, और अपने आप दुःखी हो रहा है, मर रहा है। ऐसे भोले दुखियोंको देखकर ज्ञानियोंको हंसी आती है। उनके दुःख पर नहीं उनके भोलेपनपर मिथ्याज्ञानपर। तुम दूसरेकी चिंता करके दुःखी क्यों होते हो वह बोझ व्यर्थ ही लिये रहते हो आखिरमें रहना कुछ नहीं है। अपने आप परको अपना मान रहे और बोझीले बन रहे हैं। इसमें आपकी इच्छा और बेवकूफी ही कारण है, उसे हटाएं और अपनेमें लीन होवें। सम्यग्ज्ञानका आदर करें तो मार्ग भी मिल सकता है, नहीं तो रुलाते रहेंगे यह दुर्वचन नहीं है ज्ञानियोंका यथार्थ कथन है।

एक मूर्ख था, उसको लोग मूर्ख राज कहा करते थे। उसे बड़ी खीज आती थी। एक दिन वह बाहिर चला गया, इसलिये कि अब मुझे कोई मूर्ख नहीं कहेगा। रास्तेमें एक जगह ठहरा और कुएके पाटपर कुएमें पैर लटकाकर बैठ गया. कोई कुएपर आया और कहने लगा कि मूर्खराज तुम यहां कैसे बैठे हो। उसने पूछा तुम्हें कैसे मालूम पड़ा कि मैं मूर्खराज हूँ, उसने कहा तुम्हारी करतूतोंसे। इसी तरह भगवान्ने हमको मोही कहा तो क्यों ? इसीलिये कि हम मोहमें फँसे हैं। भगवान् पूज्य और हम पूजक क्यों हैं ? इसी लिये कि उन्होंने अपने साध्यको सिद्ध कर लिया और हमें करना बाकी है। हम भगवानको तभी तक माथा रगड़ते जब तक राग द्वेष नहीं जाता, पर जितना पराश्रित है वह सब व्यवहार है। परन्तु निश्चयमें लगे नहीं और व्यवहारको छोड़ दिया, घरके प्रारंभ में फँस गये तो यह ठीक नहीं, हां पराश्रित बुद्धिको अवश्य छोड़ो और स्वाश्रित बुद्धि करो।

यह प्रकरण नयोंका चल रहा है। नयके २ भेद हैं १-निश्चय और २ व्यवहार। स्वाश्रित तो निश्चय है और पराश्रित व्यवहार।

अब यहां निश्चयके भेद बताते हैं।

॥ निश्चयस्त्रेधा ॥१०॥

अर्थ—निश्चयनयके ३ भेद हैं। १-अशुद्ध निश्चयनय २-शुद्ध निश्चयनय और ३-परमशुद्ध निश्चयनय। निश्चयनय उसे कहते हैं जो केवल एक द्रव्यको विषय करे। दूसरे द्रव्यको ग्रहण न करे। यदि एक द्रव्यका विषय करने वाला नय-अशुद्ध द्रव्यको विषय करे तो वह अशुद्ध निश्चय कहलाता है और यदि शुद्ध द्रव्यकी पर्यायका विषय कर रहा है तो शुद्ध निश्चयनय है और यदि अखंड अविनाशी अनादि अनन्त अहेतुक-सब पर्यायोंके समूहरूप और किसी भी पर्यायरूप नहीं ऐसे अभेद द्रव्यको विषय कर रहा है तो वह परम शुद्ध

निश्चयनय कहलाता है। अपने अपने स्थानपर तीनोंकी उपादानता है। शुद्ध निश्चयनयमें अरहंत और सिद्ध आते हैं, किन्तु परमशुद्ध निश्चयनयका विषय, अनादि अनन्त अहेतुक स्वतः सिद्ध ध्रुव असाधारण एकस्वभावी अभेदस्वरूप द्रव्य है।

जगतके जीव यदि धर्मकी बात लेकर चलते हैं तो अधिकसे अधिक अरहंत और सिद्ध पर्याय तक चलते हैं। उन्हें उनसे कुछ फायदा नहीं मिलता सो बात नहीं है, उन्हें उनके स्मरणसे अपने स्वभावकी प्राप्तिका बल मिलता है, निर्मोही वीतरागी बननेकी प्रेरणा मिलती है। किंतु उस उपयोगको ध्रुव-अवलंबन, स्वभाव अवलम्बन नहीं मिलता। वहां विशेष पुण्य बंध होता है, बड़े बड़े स्वर्गादिके वैभव मिलते हैं लेकिन मोक्षमार्ग नहीं चलता। मोक्ष मार्ग अनादिमुक्त निज सहज सिद्ध चैतन्य प्रभुकी दृष्टिसे प्रारम्भ होता है। सभी ईश्वरवादी यह कह रहे हैं कि भगवान् घट घटमें है वह इस प्रकार हैं देखो अपनेमें ही परमात्मा हैं तो वह परमात्मा कैसा है जो अपनेमें रहता है—यदि उसे मोहीके ढँगसे देखा जाय तो मोही है और यदि शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिसे देखा जाय वह शक्तिसे सिद्ध समान है और स्वभावदृष्टिसे देखा जावे तब जैसे मुनि अरहंत सिद्ध हैं ठीक ऐसे ही हम आप सब हैं। परमशुद्धनिश्चयनय किसकी भक्ति करायगा? निज आत्माकी। लोग यह भी कहते हैं कि परमात्मा एक है और वह सबमें है सबकी रचना करता है ऐसा कहने वालोंको यदि अनेकांत दृष्टिका लाभ हो गया होता तो अच्छा होता। वस्तु स्वरूपके अनुसार जो जिनेन्द्रने कहा अतः बना ऐसा नहीं है, किंतु जैसा वस्तुका स्वभाव है वैसा भगवान ने प्रणयन किया। आत्माके सामान्य स्वभावको देखो, वह परमात्मा शुद्ध तत्त्व है परम शुद्ध निश्चयनयका विषय। वह सामान्य तत्त्व विशेषका नाता नहीं रखता। विशेषको अत्यन्त गौण करके सामान्य परखा जाता है।

जिस सामान्यकी दृष्टिने विशेषकी दृष्टि तोड़दी उस सबमें रहने वाला जो सामान्य रह गया वह एक है या अनेक ? जब वह परमात्मा सामान्य देखा जा रहा है तब विशेष व्यक्तियां नहीं रहीं तब वह सामान्य सत्ता एक है यह ठीक ही है। इस समस्तकी रचना उस एकसे है, यह भी घटता है। मतलब यह कि परम शक्ति ऐसेको कहता जो अनेक नहीं व ध्रुव है। ध्रुवकी दृष्टि रखनेसे अपनी दशा शुद्ध सिद्ध दशा प्रकटेगी। उस अहेतुक, अनादि अनन्तकी भक्ति अद्वैतकी भक्ति है। अद्वैत वादियोंने जो सिद्धान्त बनाया वह बेईमानीसे बनाया, यह नहीं कह सकते किंतु मोहनीयका उदय होनेसे और ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम न होनेसे, इसीलिये अन्य दृष्टियोंका ज्ञान न होनेसे गलती हो गई। सब द्रव्योंमें अनादि अनन्त अहेतुक सामान्य रहने वाला पारिणामिक है वह सर्व द्रव्योंमें स्वलक्षणसे पाया जाता है। अतः जगत द्वैताद्वैत है। विशेष द्वैत और सामान्य अद्वैत है। परमशुद्धनिश्चयनय अद्वैतको और अशुद्धनिश्चयनय द्वैतको बतलाता है। हमको अपने जीवनमें किसकी भक्ति करना ? किसका ध्यान लगाना चाहिये ? परम शुद्धमें। यदि ऐसा है तो अरहंतकी भक्ति करना क्या ठीक है ? हां क्योंकि वह भी असत्य नहीं है। जिन्होंने इस परम शुद्धको देखा, अनुभव किया, समाधिके बल पर निर्मल पर्याय प्रकटकी उनमें मुमुक्षुकी भक्ति प्रकट हुए बिना नहीं रहती। ज्ञानीकी भक्ति उनमें पहुंचती ही है। कबतक ? जब तक वह शुद्ध पर्याय प्रकट नहीं कर लेता तब यह तो स्वार्थ हुआ ? नहीं भगवानका ऐसा ही उपदेश है। इसीलिये हम कहते हैं कि—

तवपादौ मम हृदये, ममहृदयं तव पदद्वये लीनं।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः ॥

अर्थात् हे जिनेन्द्र, आपके चरण हमारे हृदयमें तब तक लीन रहें जब तक कि निर्वाणकी प्राप्ति नहीं हुई।

जहांपर परमशुद्धनिश्चयनयकी विषयभूत ध्रुव तत्त्वकी दृष्टि प्रकट हो जाती है वहां अशुद्ध निश्चयनय व शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि नहीं रहती। भक्तिग्रन्थ और अध्यात्म में यही अन्तर है कि भक्ति-प्रधान भक्तिमें शुद्ध निश्चयनयकी मुख्यता है। ज्ञानी कहते हैं मैं शुद्ध हूँ निर्लेप हूं आदि। उनकी इस बातको सुनकर लोग कहते हैं कि इनका ज्ञान ठीक नहीं है, जब कि ये, परतन्त्र, अशुद्ध अवस्था में हैं, फिर भी ऐसा नहीं मानते। सो ऐसा सोचना उनका ठीक नहीं है। ज्ञानी उस लक्ष्यसे नहीं कहते जिस लक्ष्यसे वे पर्यायद्रष्टा विचारते हैं। ज्ञानीकी दृष्टि तो परम शुद्धपर है और इसीसे अपने को शुद्ध कहता है, किंतु सोचने वाले सोचते कि वह अपनेको सिद्ध-पर्यायरूप मानता है। भाव यह लेना चाहिये कि सिद्धके जैसा आत्मा है। स्वभाव उसका सिद्धके समान ही है। कोई यह सोचे कि सिद्धकी जैसी पर्याय है, वैसी हमारी आत्मा है तो गलती है, क्योंकि वर्तमान पर्याय तो हमारी सिद्धकी नहीं, संसारीकी है।

वस्तुके एक अंशको देखकर बात कही जा रही है उस ध्रौव्य सामान्यकी भक्तिमें रुचिमें पर्यायकी अपेक्षासे पर्याय भी शुद्ध होने लगती है। निर्विकल्पताके अर्थ निर्विकल्प लक्ष्य चाहिये।

जैनधर्म वैज्ञानिक धर्म है। आजका युग विज्ञानका युग है। जैनसिद्धान्त भी वैसा है, यही कारण है कि विज्ञानमें बढ़े हुए मनुष्य इसको अपनाने लगे हैं। आजके जैसे उपदेश चल रहे हैं, उनसे नहीं किंतु इसकी वैज्ञानिक सचाईसे ही विदेशके लोग इसे अपनाने लगे हैं। आत्मा एक ज्ञानवान् वस्तु है जो वस्तु है वह परिणमनशील होती ही है। जो परिणमती है वह कोई एक ही तो है, एकदम नया जो किसी भी शक्लमें पहिले न था वह होता ही

नहीं, तथा जो किसी भी शक्लमें है वह सर्वथा मिटता नहीं है। तब इन सब अवस्थाओंमें रहने वाला जो एक है उसकी दृष्टिसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ है वह निर्लेप है, निश्चल है अविकृत है यह स्वलक्षणसे पहिचानने योग्य है। इसका अनुभव ही पर्यायकी निर्लेपता, सादृश्यदृष्टिसे निश्चलता तथा अविकारता प्रकट होनेका मूल हेतु है। लोक में भी तो देखो—निबूका ध्यान होनेसे मुंहमें पानी आ जाता है, इसका यही मतलब है कि जैसा ध्यान करेंगे वैसे भाव बन जावेंगे। किसी शृङ्गारयुक्त सरागी चित्रको देखनेसे जैसे सरागी भाव हो जाते हैं और वीतरागी चित्र देखनेसे वीतराग भाव होते हैं, परिवारमें रहनेसे परिवारके भाव होते हैं और साधु संगतिमें साधुपनेके भाव होते हैं। इसी तरह ध्रौव्य स्वभावपर ध्यान दो तो तुम वैसे ही हो जावोगे। पहिले हमें किसकी भक्ति करनी ? ज्ञायकभावमय परमात्माकी जिससे अरहंत और सिद्ध पर्याय आते हैं। वे भी जिसकी वजहसे महान् हुए वह यही तो है वीतराग विज्ञानता। कहा भी है:—

मंगलमय मंगलकरन वीतराग विज्ञान।
नमों ताहि जाते भये अरहंतादि महान॥

जिनकी वजहसे वे अरहंतादि हुए वह है वीतरागता और विज्ञानता, भैया देखो परमशुद्धनिश्चयनयका विषयभूत निज सहजसिद्ध स्वभाव जिसके अवलम्बनमें वीतरागता व विज्ञानता प्रकट होती है। अरहंत और सिद्धदेव इसी वीतरागता व सकलज्ञानके परिणमनसे महान् माने गये हैं। ये कार्य परमात्मा सहजस्वभावको कारणपनेसे उपादान करके स्वयं केवल ज्ञानादि रूपसे परिणम रहे हैं। यह सब द्रव्यदृष्टिका प्रताप है। अब परमशुद्ध सदाशिव सहजसिद्ध परमात्मतत्त्वकी दिशाका परिचय पाकर शुद्ध निश्चयनयके विषयका कीर्तन करिये। शुद्धनिश्चयनयका विषय

क्या है ? जहां स्वीकृत द्रव्यस्वभाव गौण होगया है ऐसा शुद्धपर्याय अथवा शुद्ध द्रव्य । अहो देखो ना ! विपरीत स्वलक्षण होकर अविष्वग्भावको दर्शाता हुआ यह द्रव्य पर्यायका कैसा अनोखा संगम उपास्यकार्यपरमात्मामें हुआ है । इस संगमके दर्शनसे भक्तके कितना प्रमोद होता है भक्त ही अनुभव करता है । बोलना सरल है करना कठिन है, ऊपरी जानना सरल है और भीतरमें घटाना कठिन है। जिन्होंने अपनेको विषय कषायसे भिन्न जाना, उससे विरक्त हुए, द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रियसे प्रथक् अपने स्वरूपमें लीन रहने लगे उनका यह कार्य कितना महान् आदरणीय और पूज्य है ? ऐसे वीतराग भगवानकी भक्तिमें जो रहते हैं उनकी आराधना करते हैं वे कैसे हो जावेंगे ? उन्हीं के समान, ऐसी आराधना बहुत आवश्यक है। जिनके मानसमें अरहंत सिद्ध विराजमान नहीं हैं, साथ ही परिणामिक भाव नहीं हैं, उनका मनुष्य जन्म वृथा है । विषय कषायमें लगे हुए व्यक्ति अपनी क्या महत्ता पा सकते हैं ? जो औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिक भावोंसे रहित हैं, क्षायिक भावोंसे जिन्होंने पूर्णस्वरूपमें अपनेको पा लिया, ऐसे वीतरागियोंकी जिन्होंने भक्ति नहीं की उन्होंने क्या किया ? परको अपना बनाते रहे, विडम्बनामें पड़े रहे । और अपने स्वभावको नहीं पहिचाना उनसे अधिक दुःखी और कौन हैं ? जो वैभववालोंको सुखी और बड़प्पनसे देखते हैं, उन्हें ध्यानसे देखना चाहिये कि वे भी सब दुःखी हैं कीचड़में फँसे हैं। जिनको कल्याण करना है वे अपने आपपर दृष्टि करें । कल्याणकी बातोंमें रहना बड़ा कठिन क्यों लगरहा है ? अतः कि तुम्हारे रागद्वेष तुम्हें दूसरी जगह खींच रहा है। धन्य है वह घड़ी जिसमें स्वरूपका प्रतिभास होता है । संतान तो पशुके भी होती है । उससे आत्मामें क्या अतिशय आ जाता है ? उनमें दृष्टि जानेसे उनमें फंस ही जाते हैं। आत्मकल्याणी-

की दृष्टिसे यह बड़ा फसाव है। अपनी कमजोरीसे व्रतमें लीन नहीं रह सकते ब्रह्मचर्य नहीं पाल सकते, तब संतानादिका संयोग होता है, जो संयोग महान दुःखका कारण है। इसलिये संयोगकी चाह करना ठीक नहीं। आत्मतत्त्वमें रुचि लगाओ। परको अपना माननेसे सुखी न होगे। लोग कहते हैं कि हम बैरागी हैं, लेकिन परसंयोग छोड़ते नहीं, सो अपनी कमजोरीको छुपाना ठीक नहीं। अपनेको देखो। कोई स्त्रीके विधवा होनेपर लोग उसके दुःखको बढ़ाते हैं यह कहकर कि इसका भाग्य फूट गया। अरे सबसे ज्यादा भाग्य तो सिद्ध भगवानके फूटे हैं वे सब कर्मोदयसे रहित हो गये हैं लेकिन उन्हें हम सिर नवाते हैं। सो विचारो। पतिसंयोगसे उस स्त्रीको कितने पाप और कष्ट थे। अब तो वह कुशील आदि अनेक पापारँभसे छूट गई, आत्म कल्याणकी दृष्टिसे तो उसका अभी खोटा भाग फूटा, अच्छा नहीं। हां जिसके लिये संयोग अच्छा था उसका भाग्य फूटा (बुरा हुआ)। जो असंयोगी भावनावाला है उसका नहीं। लालसाको त्यागनेवालोंका कुछ नहीं बिगड़ा। इस तरह शुद्धनिश्चयनयकी भक्ति, स्वरूपकी भक्ति एवं शुद्ध निश्चयनय की भक्ति अरहंतकी भक्ति है। हमारी योग्यता क्या है ? क्या हम परमशुद्धनिश्चयनयके विषयमें स्थिरतासे रह सकते हैं ? सो अपने को देख लेना चाहिये। हम निजकी भक्तिमें नहीं रह सकते तो अरहंत सिद्धकी भक्तिमें लगें स्वरूप तो देखें अपनेमें इस बातको अच्छी तरह समझ लो कि संयोग दुःखकी और वियोग सुखकी चीज है। संयोगसे संसारी बनता है और वियोगसे सिद्ध होता है। भोगभूमिया मनुष्योंके संयोगोंकी भरमार रहती है, तो मरकर वे दूसरे स्वर्ग तक जा सकते हैं, लेकिन कर्मभूमिया मनुष्य जिनके वियोग लगा हुआ है, वे मोक्ष तकको पा सकते हैं। अतः वियोगको दुःख-का कारण नहीं संयोगको दुःखका कारण समझो। ऐसी दृष्टि जहां आ जायगी वहां स्वरूपकी प्राप्ति हो जायगी।

उस स्वरूपकी प्राप्तिकेलिये पहिले व्यवहारनयका अवलम्बन होना पड़ता है निश्चय ध्रुवतत्त्वकी प्रतीक्षारूपमें और कभी २ वह व्यवहारके अवलम्बनसे छूटकर परम शुद्ध निश्चयनयपर भी आ जाते हैं। यहांपर आशंका हो सकती है कि निश्चयनयके इन तीन प्रकारोंमें परमशुद्ध निश्चयनय व शुद्धनिश्चयनय तो उपादेयता-में आते हैं क्या अशुद्धनिश्चय भी कभी अवलम्बनके योग्य हैं ? उसका समाधान ! भूतार्थ दृष्टिकी शैलीको लेकर यदि अशुद्ध पर्याय भी जानी जाय तो वहां भी अशुद्ध पर्यायकी दृष्टि छूटकर परमशुद्धनिश्चयनयके विषयाकार उपयोग हो जाता है क्योंकि अशुद्धनिश्चयनय भी स्वाश्रित है। इस विषयकी विशदता एवं गन्तव्य अन्य विषयोंके परिज्ञानके अर्थ अब उन तीनोंमें से अशुद्ध-निश्चयनयका उदाहरण देते हैं यथा—

सूत्र—यथा स्वस्यैव परिणत्याऽशुद्धो जीव इत्यवलोक-नमशुद्धो निश्चयः ॥१२॥

जैसे—स्वकी परिणतिसे ही अशुद्ध जीव है ऐसा देखना अशुद्ध-निश्चयनय है। यद्यपि परनिमित्तको पाकर ही द्रव्य अशुद्ध होता है, फिर भी केवल उस अशुद्ध द्रव्यको ही देखे तो क्या समझमें नहीं आ सकता ? आ सकता। एकको जैसा है तैसा देखनेमें कोई विरोध नहीं। जैसे दर्पणमें वृक्षका प्रतिबिम्ब वृक्षको निमित्त पाकर हो, फिर भी दर्पणको प्रतिबिंब रूप बननेमें परकी सहायता नहीं है, अर्थात् प्रतिबिंबरूप तो केवल वही दर्पण परिणत हो रहा है, वृक्षका द्रव्य या गुण या पर्याय कुछ भी दर्पणमें नहीं गये फिर भी प्रतिबिंब उस वृक्षके आकारादि जैसा आकार रंग आदि वाला है। यहां कोई वृक्षादि निमित्तकी ओर दृष्टि न दे और केवल जैसा दर्पण परिणम रहा है वैसे परिणमते हुए दर्पणको देखे तो वह देख सकता

है, क्योंकि वह परिणति दर्पणके चतुष्टयकी ही पर्याय है, वह प्रतिबिम्ब वृक्षकी परिणति नहीं और न वृक्षसे हुए और न वृक्षमें हैं, तथा न वृक्षकेलिये है। अतः वृक्षकी परिणतिसे वह दर्पण हरारूप नहीं हुआ और भी देखिये कोई मनुष्य अपनी आंखका मल साफ करनेके लिये आंखको दर्पणसे देखता है. वहां दर्पणमें आंखका प्रतिबिम्ब है, यह व्यवहार कथन है, वस्तुतः आंखका निमित्तपाकर वह दर्पण ही इस रूप परिणाम रहा है। यदि वह बिम्ब आंखका होता तब मल पोंछनेके लिये दर्पणकी आंखको ही पोंछते, किन्तु द्रष्टाको विवेक है, इसलिये, दर्पणमें कोई चेष्टा न करके निजकी आंखमें ही चेष्टा करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक द्रव्यका परिणमन, दूसरे द्रव्यके निमित्तको पाकर होता है, यह प्रभाव व स्वभाव परिणम रहेद्रव्यका ही है निमित्तका नहीं। यदि कोई दर्पण को भी इस तरहका देखना चाहता है और जिसको निमित्त पाकर यह परिणमनहुआ है उसे दृष्टिसे ओझल रखना चाहता है तो क्या ऐसा किया नहीं जा सकता? किया जा सकता है। इसी तरह जीवमें राग द्वेष होते हैं वे जीवके चतुष्टयसे होते हैं, किन्तु वहां उदित कर्मरूप परद्रव्य निमित्त मात्र अवश्य है अन्यथा अर्थात् कर्मोदयको निमित्त मात्र किये बिना अत्यन्त अनाश्रय रूपसे रागादि होवें तो वे स्वभाव हो जावेंगे इस तरह रागादिक होते तो आत्मामें हैं परन्तु कर्मोदयको निमित्त मात्र करके होते हैं। वहां उदित कर्म निमित्त मात्र है। रागादिभाव की कर्मकी परिणतिसे नहीं हुआ और न कर्मसे कर्मके लिये और न कर्ममें हुआ। जो मिथ्यात्व अनादिसे परामपरा लिये हुए चला आ रहा है वह भी मिथ्यात्व कर्मकी परिणतिसे नहीं होता किन्तु उदित मिथ्यात्व प्रकृतिको निमित्त मात्र करके निज गुणकी विकृतिसे ही हुआ है। येमोहरागद्वेषादि विभाव आत्माके चरित्र गुणके विकार हैं। यदि कोई ऐसा मलिन

आत्मद्रव्यको ही देखना चाहता है और कर्म आदि समस्त पर द्रव्योंकी ओर दृष्टि न करना चाहे तो क्या वह ऐसी मलिन आत्मा को नहीं देख सकता ? स्वाश्रित दृष्टिको संकट मानने वाला भी कुछ बार तो देख ही सकता है। बस इस प्रकार पर द्रव्यके लक्ष्यको गौण करके और परद्रव्यको निमित्त मात्र पाकर होने वाली मलिन पर्याय सहित केवल आत्मद्रव्यको देखना अशुद्ध निश्चयनय है, कर्मकी साधकतमतासे रागादि नहीं होते, आत्मामें इस रूप विकार होता है वहां कर्मोदय केवल निमित्त ही है। कर्मकी कोई शक्ति आत्मामें नहीं गई। क्योंकि एककी परिणति दूसरेमें नहीं आ सकती। तब रागी आत्मा है या कर्म ? आत्मा। क्योंकि आत्मा अपनी परिणतिसे ही रागी हुआ है। तब केवल आत्मद्रव्यको देखकर कह सकते हैं कि आत्मा अशुद्ध, अपनी परिणतिसे है। ऐसा देखना सो अशुद्ध निश्चयनय है। एक व्यक्ति पहिले जुआ खेलना नहीं जानता था, कुसंगतिसे वह इसका व्यसनी बन गया। तब वह जो दुर्व्यसन की आदत बनी वह उसकी ही है लेकिन निमित्त वहां संगतिका अवश्य है। उसकी मां उसको उलाहना देती है कि मेरा लड़का जुआरी नहीं था, अमुक संगतिसे वह ऐसा बन गया है। उसमें ही जुआके व्यसनकी आदत बनी, लेकिन कुसंगतिके निमित्तसे यहां निमित्तको बताते हुए नैमित्तिक बात कहना व्यवहार है और उस संगतिके निमित्तको गौण करते हुए वह अपने ही आप स्वयं दुर्व्यसनी हुआ यह दृष्टि रखना अशुद्धनिश्चयकी है, उसका यह उदाहरण है।

अशुद्ध निश्चयनयके तीनों पदोंकी अपनी अपनी सार्थकता है। निश्चय इसलिये है कि उसमें निमित्तकी प्रधानता न लेकर केवल उसी पदार्थको देखा जाता है जिसपर विचार करना है। अशुद्ध इसलिये कि वह अशुद्ध पर्यायको ग्रहण करता है और नय इसलिये

कि वस्तुके एक अंश एक अभिप्रायको प्रकट करता सर्वांशको नहीं। इसको समझनेके लिये एक और उदाहरण लीजिये—एक लड़का एक दूसरे लड़केसे २० हाथ दूर खड़ा है और उसे अंगुली हिला हिला कर उसे चिढ़ा रहा है वह उसके निमित्तसे चिढ़ रहा है तो क्या उसका चिढ़ना उसकी अंगुली मटकानेसे होता है ? नहीं एककी अंगुली अपनी जगहपर है और उसकी हरकत उसमें है लड़का अपनी जगह है और उसकी क्रिया भी अपनी अपनेमें है। फिरभी चिढ़ानेके लिये दूसरा लड़का निमित्त अवश्य है। किन्तु कोई चिढ़ानेवालेको न देख सके या न देखे तो भी चिढ़ने वालेको देख सकता है कि यह चिढ़ रहा है। इसी तरह कर्मोदयसे ऐसा हो रहा है कोई ऐसा देखता है, किन्तु कोई कर्मकी तरह ध्यान न देकर केवल उसके उदयको भी देख सकता है कि यह ऐसा हो रहा है क्या यह नहीं देख सकता ? अवश्य देख सकता है। इस तरह देखना अशुद्ध निश्चयनय कहलाता है। पदार्थोंके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी ऐसी ही विशेषता है। फिर भी एक एकको निरखना अनुपम उपयोग बना देता है।

यहां प्रश्न होता है कि अशुद्ध निश्चयनयके विचारमें कुछ फायदा भी है क्या ? हां उसके विचारमें भी लाभ निकलेगा। वह किस तरह ? एक ज्ञानी केवल एक द्रव्यपर दृष्टि रख रहा है, लेकिन उस द्रव्यकी अशुद्ध पर्यायपर उसकी दृष्टि है, वह अनुभव कर रहा है कि मोह राग द्वेष मेरे हैं, अहितकर हैं इस तरह परकी तरफ ध्यान न जानेसे वह अपनी अशुद्ध पर्यायमें कब तक रहेगा ? थोड़े समय तक तब, पीछे वह परमशुद्धनिश्चयनयपर भी आ सकता है। इस तरह परका लक्ष्य छोड़ अशुद्ध निश्चयनयका अवलम्बन भी छूटकर परमशुद्ध निश्चयका कारण बनता है। अनादि कालसे जीवने परका (कर्मका) निमित्त छोड़ अशुद्ध निश्चयनयसे भी

अपनेको नहीं देखा उसने अपनेको परके कर्ता भोक्ता रूपसे अपनेमें परका प्रवेश परमें अपना प्रवेश, इस रूपसे देखा। परका कर्तत्व भी कतृत्व अपनेपर घटाया यह अज्ञानता (पर्याय बुद्धि) उसके लगी रही लेकिन अशुद्धनिश्चयनयवाला ऐसा अज्ञानी पर्यायबुद्धि परकतृत्व बुद्धिवाला नहीं है, अतः मोक्ष मार्गमें इसका उपाय भी प्रथमकार्यकारी होता है। इसीलिये कहते हैं कि एकको देखो। उस एकमें अशुद्ध पर्यायको देखोगे तो और शुद्ध पर्यायको देखोगे तो यदि आश्रित स्वको देखोगे तो बाह्य विषय न रहनेसे यथाशीघ्र परमशुद्धको देख लेगा। दोनोंकी दृष्टि निश्चय स्वके आश्रित है। अतएव निश्चय के दो अथवा तीन भेद हैं। जैसे जीवके भेद १ मुक्त और २ संसारी हैं। वहां चैतन्य लक्षण दोनोंमें पाया जाता है। निश्चयका लक्षण स्वाश्रित है वह तीनों तरहके निश्चयनयोंमें पाया जाता है। हां अशुद्ध द्रव्यकी मुख्यतामें विषय अशुद्ध निश्चयनयका कर जायगा।

सूत्र-स्वस्यैव शुद्धपरिणत्या शुद्ध इति शुद्धनिश्चयः ॥१३॥

अपनी ही शुद्ध परिणतिसे वह शुद्ध है, ऐसा देखना शुद्ध निश्चयनय है। पर पदार्थकी दृष्टि न रखी, शुद्ध पर्याय, निर्मलरूपसे जीवको देखा तो यह शुद्ध निश्चयनय कहलाया। अरहंतादिकी भक्ति में शुद्ध निश्चयनयका सहारा होता है और समाधि-चैतन्य स्वरूप में परमशुद्धनिश्चयनयका सहारा होता है। अशुद्ध निश्चयनयमें परद्रव्यका निमित्त सद्भाव रूपसे है और शुद्ध निश्चयनयमें पर पुद्गल द्रव्यका अभाव रूपसे निमित्त है और पुनः केवल कालमात्र। परमशुद्धनिश्चयनयके विषयमें दोनों के निमित्तकी किसी भी प्रकार की दृष्टिका अभाव है। इस तरह यहां तीन दृष्टियोंको लगाना चाहिये। १-स्वभावसे विरुद्ध परिणमनकी दृष्टि २-अपने स्वभावके अनुरूप परिणतिकी दृष्टि और ३-समस्त पर्यायोंमें रहने वाले एक स्वभावकी दृष्टि। परमशुद्धनिश्चयनयमें अभेदस्वरूप सहज

बीतरागताकी भक्ति होती है। ऐसी भक्तिमें भक्तके विषय कषायका उपयोग नहीं रहता।

समयसारमें मुख्यतासे परमशुद्धनिश्चयनयका विषय है। सम्पूर्ण आत्माएं शुद्ध हैं, अबद्ध, कर्मोंसे अलिप्त हैं आदिके वर्णन से कई लोगोंको उसमें एकांतका भ्रम हो जाता है। क्योंकि रागकी पर्यायोंका उसमें निषेध सामालूमपड़ता है। किन्तु समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थोंके पठन पाठनमें पहिले यह बात निर्धारित कर लेना चाहिये कि यह वर्णन परमशुद्धनिश्चयनयकी प्रधानता को लेकर है। बीचमें और नयोंका वर्णन होनेपर भी इसकी मुख्यता है। समयसारकी सृष्टिकी दृष्टि पा लेनेपर फिर कहीं भी अटापटापन मालूम नहीं होगा। समयसारमें परमशुद्धनिश्चयके अतिरिक्त अशुद्ध निश्चयनयका वर्णन है, तब शुद्ध निश्चयनयका वर्णन नहीं होनेके बराबर है, इसका क्या कारण है ? उसका कारण यह है कि यह ग्रन्थ अशुद्ध जीवोंके उपकारके लिये बनाया गया है, उनकी गल्तियोंको हटानेके लिये अशुद्धनिश्चयनयका अवलम्बन लेकर बोध कराया गया है तथा लक्ष्य परमशुद्धनिश्चयनयका है अतः उसका वर्णन किया। उसमें अरहंतको नमस्कार न कर शुद्ध जीव आत्मतत्त्वको नमस्कार किया है। परमशुद्धनिश्चयनयकी दृष्टि प्रधान होनेसे जो स्वभावके पूर्ण अनुरूप है इसको समझनेके लिये अरहंतके बारेमें कुछ विचार करना चाहिये। समवशरणके अवलंबन की भक्ति क्या निश्चयनयका विषय है ? नहीं। वह तो व्यवहारका विषय है। निश्चयका नहीं। अरहंतका परम औदारिक शरीरके अवलम्बनकी भक्ति किस नयका विषय है ? क्या निश्चयका ? नहीं। क्या अतिशय विशिष्ट निरक्षरी भगवानकी दिव्य ध्वनिका अवलम्बन निश्चयका विषय हो सकता है ? नहीं। यह भी व्यवहारसे हो सकता है। इसी तरह और भी बाह्य पदार्थके अवलंबनसे की गई

भक्ति निश्चयका विषय नहीं हो सकती और यदि इन बाह्य निमित्तों के आश्रयसे नैमित्तिक अरहंतकी भक्तिमें आत्माका अवलम्बन लक्ष्य न हो तो वह व्यवहार भी नहीं है, व्यवहाराभास है। वस्तुतः उपचार है। समयसारमें अनादि अनन्त अहेतुक चेतन द्रव्यकी जो भक्ति है उसमें सिद्धके अतिरिक्त अरहंतका भी ग्रहण होता है। वीतरागता की भक्तिमें अरहंतकी भक्तिका अन्तर्भाव हो जाता है। अरहंत जिस पर्यायमें रह रहे हैं, उसमें भी उनकी शुद्ध आत्मा परमशुद्ध निश्चयनयका विषय होनेसे सिद्धके समान अरहंत भक्तिका भी अंतर्भाव है, इसलिये। अनादि अनन्त अहेतुक आत्माका चित्स्वभाव होनेसे उसके स्मरणमें हमारी सबकी आत्माओंका भी ग्रहण होता है। इस तरह व्यापक ज्ञानके स्वभावमें पहुंचना सो परमशुद्ध निश्चयकी पहुँच है। अशुद्ध निश्चयनयके अवलम्बनके पश्चात् भी हम परम शुद्धमें पहुंच सकते हैं किन्तु अशुद्ध पर्याय स्वभावके अनुरूप नहीं है अतः अशुद्धनिश्चयके पश्चात् परमशुद्धमें पहुंचना कुछ कठिन है तथा प्रतिकूलताके कारण धर्मानुराग भी नहीं है। इसी कारण भक्ति दो तरहकी है? अरहंत, सिद्धकी और अपनी। हम अपनी भक्तिके प्रयत्नके पहिले अरहंतकी भक्ति किस कारणसे करते हैं? भगवान अरहंतकी जो पर्याय प्रकट हुई है वह आत्मस्वभावसे मेल खाती है, लेकिन हमारी आत्मामें वर्तमान जो पर्याय है उसका मेल नहीं खाता। अरहंत आत्माका अवलम्बन लेनेसे परमशुद्धनिश्चयनयमें जानेके लिये सरलता होती है। निश्चयनय उत्तम है यह तो सब समझते हैं। सो उसे उत्तम क्यों समझते हैं? इससे समझिये कि उसका आश्रय लेकर बड़े बड़े अपना कल्याण करते हैं। बिना उसका आश्रय लिये लोकमें बड़ा कहलानेवाला या छोटा कहलानेवाला कोई भी कल्याण नहीं कर सकता।

कोई भी पर्याय हो उसमें, कुछ न कुछ निमित्त-सद्भाव या अभाव रूप से हुआ ही करता है। जैसे—अरहंतके अघातिया कर्म और औदारिक शरीर आदि का निमित्त तथा घातिकर्मोंका अभाव उनकी पर्यायमें कारण है (व्यवहारसे) उसी तरह अरहंतसे सिद्धपर्याय होने के क्षणमें कर्ममें, तो कर्मका अभाव कारण है। तथा आगे और अनन्त काल तक उनकी जो शुद्ध पर्यायें होती रहती हैं उनमें कालादि द्रव्य निमित्त कारण है। अब दोनों नयोंके विषयभूत परिणतियोंमें एक स्वभावसे रहने वाले अर्थका प्ररूपण करते हैं:—

सूत्र—पर्यायगुणनिरपेक्षतया सामान्यभावेन द्रव्यदृष्टिः परमशुद्धनिश्चयनयः ॥१३६

अशुद्ध निश्चयनय और शुद्ध निश्चयनयके बाद यह परमशुद्ध निश्चयनयका विषय चलरहा है। उस विषयको पर्यायोंको अत्यन्त करके ही समझा जा सकता है अनादिसे अनन्तकाल तक पर्यायोंकी जो परम्परा चलती रहती है उनपर ध्यान न देकर उन सब पर्यायों में रहने वाला जो ध्रौव्य है उसको देखें तब वह समझा जा सकता है। सम्याज्ञानी इसका अभ्यासी होजाता है, उसको पदार्थकी बाहिरी पर्याय दिखतेहुए भी वह उसे नहीं देखता, उसकी द्रव्यता-पर ही उसका ध्यान जाता है। इसलिये सम्यग्ज्ञानीको तत्त्वकौतु-हली कहते हैं। वह हर पदार्थकी हर हालतमें उसके तत्त्वस्वरूपसे विलग नहीं होता। जैसे व्यायामकुशल व्यक्ति अपने अंगोंको इस तरह मोड़ता है, इस तरह फुर्ती और शक्तिके काम दिखाता है। कि देखने वाले अवाक् रहजाते हैं। दर्शकोंको ऐसा करना बड़ा कठिन मालूम होता है जब कि उस कार्यमें कुशल व्यक्तिके लिये केवल कौतूहल है, क्रीड़ा है, इसी तरह जो वस्तुके ध्रुव स्वभावको पहुंचा है, वस्तुकी वस्तुताको परख चुका है, प्रतिक्षण वह अचल

रूप जिसके ध्यानमें आता रहता है, उसके लिये, वह कार्य कुतूहल-मात्र है। यह तत्त्वदृष्टिका प्रताप है कि पर्यायको देखकर भी उसकी द्रव्यतापर ही दृष्टि पहुँचती है, उसकी दृष्टि जाकर वहां पर ही टिकती है। वह सामने वाले भीतको देखता है तो यह स्थूल स्कंध रूप उसके ज्ञानमें स्थायी नहीं होता, उसकी दृष्टि उन परमाणुओं पर पहुंचती है, जिनसे भित्ति रूप वह स्कंध बना है। वह मनुष्य स्त्री, पशु, पक्षी और कीट पतंगे इन सबको देखकर इनके ज्ञानात्मक कार्योंको देखकर, उसकी दृष्टि उन उन पर्यायोंमें नहीं टिकती, वह तो चटसे मूल चीजपर अपना कब्जा करती है, और सामान्य होकर अपनी अनुभूति करती है। शरीरके पुद्गल परमाणुओंको उनके रूप, रस, गंध और स्पर्शसे युक्त और उसमें भी द्रव्य सामान्य सत्तारूपमें तथा की जीवको उसके चेतनागुणसे विशिष्ट, त्रैकालिक पर्यायोंके पिन्ड रूपमें देखता है, इसके आगे भी अन्य द्रव्योंको स्पर्श न करके अपने आपकी परिणतिमें पहुंच जाता है।

सामने दिखने वाले इन सब पदार्थोंको हम जानते हैं लेकिन हमारा उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे—चौकीको जाना, तो वह चौकीका ज्ञान चौकीमें प्रविष्ट नहीं हो गया, और न चौकीके रूप रसादि गुण वा उसकी आकृति वा चौकीकी परिणति ज्ञानमें आ गई, दोनों स्वतन्त्र अपने अपने रूपसे परिणम रहे हैं। अपने अपने गुण और पर्यायें अपने अपने द्रव्यमें है, ऐसा अनुभव होना पदार्थ-के यथार्थ तत्त्वज्ञानका प्रताप है। सुख इसी तत्त्वज्ञानमें है। धन वैभवमें तो माना हुआ झूठा सुख है। जगत्का अणु अणु, एक एक प्रदेश अपने अपने चतुष्टयमें है। पुण्यके उदयसे, या कहिये पुण्यके नाशसे (उदयका जैसा मतलब पहिले बता चुके हैं) जो धन संपदा मिलती है वह आत्मकल्याणके लिये कोई कार्यकारी नहीं होती। जगतमें पाप और पुण्यका खेल होता रहता है, यह तो माया

है। ढूंढनेपर एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो लगातार १-२ घंटेभी सुखी रहता हो, प्रत्येक संसारी, जीवको पर सम्बन्धके विकल्प, भाव, अभिलाषाएं और चिन्ताए जीवको शांत और सुखी नहीं रहने देती। कषाय का जो आदर भाव जीवके हृदय में बैठा हुआ है और उसी तरहकी जो परिणति चलती हैं वह उसके दुःखका कारण हैं। किंतु जो इससे भिन्न बीतराग परिणतिमें आदर करता है, उसीमें चलनेका प्रयत्न करता है उसे दुःख नहीं हैं। ज्ञानी जानता हैं कि जिन पदार्थोंको मैं जानता हूं वे मुझसे भिन्न हैं, मैं उनसे भिन्न हूँ। पदार्थके अंश मेरे ज्ञान में नहीं हैं, और न मेरा ज्ञानउनमें। तब अमूर्तज्ञानस्वाभावी आत्मा पदार्थोंको जानता है यह केवल औपचारिक कथन रह है। वस्तुतः वह पदार्थोंको न जानकर अपनेको ही जानता है, ज्ञान ज्ञानको जानता है। जैसे दर्पणमें लड़कोंका प्रतिबिंब पड़रहा है, उस प्रतिबिंबको देखनेवाला लड़कोंको देख रहा है यह उपचारसे कहा जाता है वस्तुतः वह दर्पणको देख जान रहा है। लड़कोंका द्रव्य गुण पर्याय दर्पणमें नहीं है, जिसे वह देखरहा है। लेकिन लड़कोंके निमित्तसे दर्पणकी वह प्रतिबिम्बित पर्याय अवश्य है। पदार्थोंके निमित्तसे जो पदार्थग्रहण होता है उनको उपचारसे जानता हुआ भी सिवा अपनी आत्माके वह किसीको नहीं जानता। यह आत्मा पदार्थोंसे ज्ञानके मामलेमें भी इतना प्रथक् है। फिर अन्य पदार्थोंके प्रथक्त्वको तो पूछना ही क्या। जिन पदार्थोंको हम देखते जानते हैं वे प्रकट प्रथक् मालूम पड़ रहे हैं। आपका जो ज्ञान गुण है वह किसमें है? आत्मामें है। ज्ञान गुणकी परिणति देह प्रमाण आत्मामें रहेगी, बाहिर नहीं। आपके ज्ञान गुणकी परिणति आपके आत्मद्रव्य में होगी, दूसरे जीवके ज्ञान गुणकी परिणति उसके आत्मद्रव्य

में होगी। किसी भी द्रव्यकी परिणति उससे बाहिर नहीं रहती। ज्ञान की परिणति जानना है। जानना और ज्ञान गुणकी परिणति एकही बात है। दर्पणको देखकर उसमें जिन पदार्थोंका प्रतिबिंब पड़ रहा है उनको न देखते हुए भी उनका ज्ञान होता है। तो बाह्य पदार्थको न जानकर अपने आपको जानने से बाह्यका जानना कहलाता हैं। ज्ञेयाकार परिणतिका मतलब है कि ज्ञेय जो पदार्थ हैं उनके आकार सदृश बोधमें अपनेको ज्ञान ग्रहण करता है। यह आकार नष्ट होजाता है लेकिन ग्रहण करने वाला नष्ट नहीं होता। क्योंकि ज्ञान ग्रहण अध्रुव है और ग्रहण करने वाला ध्रुव है। इस पर दृष्टि दे तो वह परम शुद्ध निश्चय नय होगा। जिसमें कि अखंड अहेतुकका प्रतिभास है। जो कि न अशुद्ध निश्चयनयका विषय ही पड़ता है और न शुद्ध निश्चयनयका। वह तो परम शुद्ध निश्चयनयका ही विषय है। क्योंकि न उसमें शुद्धको कल्पना है और न अशुद्ध की। लौकिक-जनोंकी समझमें यह जल्दी नहीं आता। समझमें कुछ देर बाद आओ लेकिन उस यथार्थ तत्त्वज्ञानके प्रति एक महान आदरका जो भाव हो जाता है वह भी प्राणीके लिये बड़े भारी महत्त्वकी बात है। ऐसी रुचि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें कारण होती है। अध्यात्मशास्त्रोंमें इसका वर्णन बहुलतासे होता है। उसके चिन्तनसे निर्मलता आती है। ज्ञानीको पदार्थ देखनेकी यह शैली होती है कि प्रत्येक व्यवहारमें एकत्वको दृष्टिको बनाये रखता। सुख शांतिका यही मार्ग है। बारह भावनाओंमें से एकत्वभावना की खास विशेषता है। ग्यारह भावनाओंमें से अनित्यभावनामें पदार्थोंकी अनित्य पर्यायोंका विचार होना, अशरणमें यह भावना होती कि जगतके कोई पदार्थ शरण नहीं हैं, यहां भी बुद्धि जगत के अन्य पदार्थोंके विचारमें काम करती है। उसी तरह संसार

और लोक भावना में संसार की असारता और तीनों लोकों की रचना आदिका विचार होता है। अन्यत्व भावनामें अपनेसे भिन्न अन्य पदार्थोंका विचार होता है और अशुचि भावना में पौद्गलिक शरीरकी अपवित्रतापर ध्यान रहता है। आश्रव, संवर और निर्जरा में भी पर्यायको आश्रय लेकर भावना रहती हैं। सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है, और सम्यक दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म जीवकेलिये हितकारी है इस तरहके विचारोंमें आत्माकी पर्यायपर ही दृष्टि रहती है, किन्तु एकत्वभावनामें अन्य द्रव्य या उनकी पर्याय तथा आत्मद्रव्यकी पर्यायपर दृष्टि न रह आत्माके एकत्व स्वरूपकी भावना रहती है। उसमें केवल ध्रुव अपनेको देखना होता है। इस तरह बारह भावनाओंमें एकत्व भावना अपनी खास महत्त्व रखती है।

समयसारमें श्रीकुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि अपने सारे आत्म वैभवको दिखाकर-एकत्वस्वरूपको दिखाऊंगा। वहां श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं कि भ०कुंदकुंदस्वामीसमस्त शास्त्रोंके पारगामी कुतर्कोंको खंडन करनेके लिये महान् तर्कणाशील, तथा गुरुपरंपरा से पाया है तत्त्वज्ञानका प्रसाद जिन्होंने ऐसे थे। श्रीमत्कुंदकुंदस्वामी ने विनयके द्वारा गुरु सेवाके प्रसादरूपमें उच्च, तत्त्वज्ञानको प्राप्त किया था तथा इतना ही नहीं, उन्होंने निरंतर झरते हुये आत्मीय आनंदमयज्ञानका अनुभव किया है। समयसारमें उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार आत्मवैभवको प्रकट करके दिखाया है। ऐसे निज समयसारका जो आदर न करें वह अपना आदर नहीं करता यह समझना चाहिये। यदि अनंतानंत जीव धर्मका अनादर करने वाले पाये जाते हैं, तो कुछ जीव (असंख्यात वा संख्यात) उसका आदर करनेवाले भी हैं। जगतके मोही जीवोंने यदि अपने स्वभावका-छुपे परमात्माका आदर नहीं किया तो क्या हुआ!

ज्ञानी तो उसका आदर करते ही हैं, इसका आदर करनेसे वे सम्यग्दृष्टि होते हैं।

आगमके यथार्थज्ञानमें ये चार विशेषताएं होती हैं, कि वह पूर्वाचार्यकी परम्परासे अनुस्यूत होता है, युक्तियोंसे पूर्ण और आचार्य से प्राप्त किया गया एवं प्रत्यक्षादिबाधासे रहित होता है। इन चारमेंसे एककी भी कमी से उसकी प्रमाणता नहीं होती। यदि उस तत्त्वोपदेशमें युक्ति और गुरुप्रसाद होकर भी आगमकी अनुसरणता न हो तो वह अप्रमाणीक है। इसी तरह आगम और गुरुप्रसादसे प्राप्त किया हो लेकिन स्व-अनुभवकी युक्तियां न हों तो भी प्रमाणतामें कमी पड़ती है, इसी तरह और भी बातें होकर भी गुरुप्रसाद न प्राप्त किया गया हो तो भी तत्त्वज्ञान में अपूर्णता रह जाती है। कुंदकुंद स्वामी के समयसारमें उक्त सब विशेषताएं रहते हुएभी और विशेषताभी है वह यह कि गुरुदेव ने स्व-अनुभूत आत्मानंदका वैभव प्रकट किया है। अपने में जो अनेक पर-का समावेश हो रहा है उसको अलगकर केवल अपनेको दिखाया है। घरके चोरों से घर नष्ट होता है, बाहिर के चोरोंसे तो बचाव करना सरल होता है। हमारी आत्मामें राग द्वेषादि घरू चोर आत्मधनकी 'चोरी कर रहे हैं, उनको निकालनेमें भीतरी उपाय ही कारगर हो सकते हैं। बताया है—

ज्ञान दीप तेल भर घर शोधे भ्रम छोर।
या विधि विन निकसे नहीं पैठे पूरब चोर॥

अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी दीपकको प्रकाशित किया जाय तब उसके प्रकाशमें राग द्वेषादि चोरोंका ठहरना कठिनहो जाता है, और वे पलायमान होने लगते हैं। ज्ञानस्वभावकी ओर दृष्टि देनेसे रागादि छूटते हैं- ऐसा जानकर परमशुद्ध निश्चय नयका अवलंबन लो। लोकमें भी निश्चयनयका आदर होता है।

कहते हैं भाई यहतो व्यवहारसे है निश्चयसे यह बात नहीं है। सो उस निश्चय में क्या खूबी है? उसमें खूबी परम शुद्धताकी है। आत्माको समझनेके लिये आत्माके साथ कोई सा भी विशेषण लगाया लाय लेकिन उससे विवेक करना चाहिये कि उसमें कौनसा बाहिरी है और कौन सा भीतरी। जैसे आत्माको शुद्ध निरंजन कहा तो मैं कर्मरूपी मैलसे प्रथक हूँ, उस मैलको हटानेके लिये जो प्रयत्न जो आचरण होते हैं उनसे भी मैं प्रथक् हूं, और उन प्रयत्नोंके फलसे भी मैं प्रथक् हूं, मैं कर्म की निमित्ततासे रहित अहेतुक द्रव्य हूं, इस तरह आत्माके स्वभाव भावकी ओर दृष्टि देना धर्मका या मोक्षका पहिला कदम है। इसके होनेपर ही संवर और निर्जरा होती है। यह स्वभावका कथन हैं। कोई सोचे कि इससे तो व्यवहारका खंडन हो जायगा तो थोड़े समयके लिये यही विचार करलो कि उसका खंडन हो गया। व्यवहारको तो अनादि कालसे पकड़े आरहे हो, उसीमें हमेशा रहरहे हो कुछ क्षणोंके लिये व्यवहारसे अगम्य, निश्चयका ही आश्रय लेलो घबड़ावो नहीं निश्चयके अवलंवनभी व्यवहार नहीं छूटेगा। इस तरहकी दृष्टि कुछ क्षणोंके लिये आने दो। आत्मा का भला भी इसीसे होगा। समस्त परद्रव्योंसे रहित आत्म स्वभाव की दृष्टि रखते हुए तो मरण करना उत्तम है भैया! परभावोंकी चिंता करते करते तो अनंत बार मरण किया अब एक बार आत्म-भावोंके लक्ष्य पूर्वक मरनेका अभ्यास करलो। अपने वैभवको देखो पौद्‌गलिक वैभवमें क्या रखा है? केवल बिडंबना, अशांति और दुःखके सिवाय अन्य कुछ नहीं। सच्चा सुखकारी वैभव तो आत्माका ही हैं, उसे चर्मचक्षुओंको मुद्रित करके ज्ञान नेत्रसे देखो।

परम शुद्ध निश्चयनयके विषय भूत अनादि, अनंत, अहेतुक

ज्ञान स्वभावका अनुभव करनेवाला जीव- बारह भावनाओंके विकल्पमें आनेपर कैसा चिंतवन करता है सो दिखाते हैं–

अनित्य भावना में-विचार होता है कि प्रत्येक पदार्थ क्षणस्थायी है। क्षणविध्वंसी हैं, उनकी इस क्षणवर्ती पर्यायको देखते हुए भी, जो उनमें रहने वाली-आवान्तर सत्ता है, ज्ञानी आत्मा उसको भी साथ साथ जानता है पदार्थको देखते हुए भी पदार्थकी पदार्थता द्रव्यता उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होती। कितने ही लोगोंकी दृष्टि अनित्य भावनारूप विचार करते हुए बाह्य पदार्थोंपर ही बनी रहती है। वे सोचते हैं सब चीजें सब मनुष्य और जीवजन्तु नष्ट हो जानेवाले हैं किन्तु विनाशी पर्यायके साथ द्रव्यको द्रव्यरूप से देखकर अविनाशीपनका भाव हृदयमें नहीं आता। उन द्रव्यों में भी अपने अविनाशी स्वभावको नहीं देखते किंतु इसका देखना आवश्यक है। केवल बाह्यको देखनेका फलतो बाह्यमें ही होगा। बाह्य पदार्थोंके पर्यायकी मुख्यताका बिचार तो बाह्यही है। यह बात नहीं है कि बाह्यका विचार अनित्यादिभावनाओंमें उठता ही नहीं, या उठना ही नहीं चाहिये। बाह्यका विचार करके फिर अन्तरङ्गका, द्रव्यका, चित्स्वभावका भाव जागृत होना चाहिये, भावनाओंकी यही प्रयोजकता है। बाह्य पदार्थोंके विचारसे उनमें जैसे विरक्तता जगती है, उसी तरह मनको निर्विकिल्प दशामें पहुँचानेके लिये, बाह्यसे मनको हटाकर अंतस्तत्त्वमें लीनता लाने केलिये, सत् चिद्रूपकाभी ध्यान रहना आवश्यक है, जिससे कि बाह्य पदार्थोंकी विरक्तता यथार्थ विरक्तता नाम पाती है। यह समागम शरीर, धन पैसा, गृहकुटुम्ब आदि अनित्य है, उनकी क्षण स्थायी पर्यायें उनमें हैं, वे हमारी पर्यायमें, हेर-फेर करनेवाले नहीं हो सकते। उनका सुख उनमें है। हमारा सुख हममें। वे हमारे सुखके कारण नहीं हो सकते, हमारा त्रिकाल ध्रुवस्वभावी आत्मा

हमारे सुखका स्थान है, वह आनन्दमय है, विकल्पातीत चित् स्वभावमय है। इत्यादि अनित्यत्वके साथ जहां नित्यत्वका ध्यान रहता है, वहां वह भावना परम शुद्धिकी कारण होती।

अशरण भावना-में विचार करना कि कोईभी बाह्य पदार्थ मेरे लिये शरण नहीं है यह व्यवहार दृष्टि है। उस दृष्टिसे अपनेको अशरण देखता हुआ भी स्वसे शरणरूप भी देखता है। बाह्य पदार्थों की अशरणताओंके साथ ज्ञानीकी यह धारणा रहती है कि मैं स्वयं अपनेलिये अशरणरूप नहीं हूं। वास्तविक कारण तो मेरा मुझमें बना ही हुआ है, जो त्रिकाल सत्रूप रहता है, जो अविनाशी और अबाध है। बाह्य में जहां वह अशरणताका विचार रखता है वहां भीतर ही भीतर वह चित् परिणतिकी शरणतासे ओत-प्रोत रहता है, यह सतत उसकी दृष्टिमें रहता है कि मैं स्वयं स्वयंकेलिये शरणरूप हूँ। इस प्रकारका अवलोकन अशरण भावनामें तत्त्वज्ञानीके होता है। इसके विपरीत अज्ञानी बाह्य दृष्टि वाला केवल बाह्य पदार्थोंको अशरण मानकर रह जाता है, वह उस स्थूल बाह्यसे हर सूक्ष्म स्वमें पहुंच जाय ऐसी कला, उसे नहीं मिल पाई इस कारण सत्पथ दर्शक ज्ञानी जीव अपनेको परसे असहाय और अपने सहाय सर्वदा समझता है ज्ञानीआत्मा विचरता है कि जिनकोतू शरणरूप मानता था अपना जीवन और सुख परसे मानता था वह तेरा भ्रम था। जब पर की परिणति तुझमें आ नहीं सकती तो इन्हें अपना कैसे माना जासकता है। अपना जीवन, सुख और दुःख जो दूसरेसे देखते वा दूसरोंका अपनेसे देखते हैं, वे अंधकारमें है। दुनिया कैसे भी प्रवर्त्तो आप अपनेमें सुखी हो तो सुखी है। मिथ्यात्वी जीवके जो कषाय चल रही है, वह नहीं जानेसे निमित्तोंको कितने भी अदल बदलकर लेने पर भी दुःख उसका पीछा नहीं छोड़ता। क्योंकि

दुःखका कारण तो स्वयं उसके कषाय भाव है, वे रहेंगे तो दुःख भी चलेंगे, और वे जायेंगे तो दुःख भी चला जायगा किन्तु अज्ञानीकी दृष्टि बाह्य निमित्तोंपर होती है अपनेको अपने कषाय भावोंको वह नहीं देखता दुःखके कारण अपने कषायभावोंको नहीं मानता वह तो बाह्य पदार्थोंको उसका कारण मानता है। लेकिन बाह्यमें जहां अशरणता है वहां भीतरसे सशरणता भी साथ-साथ है। जहां परद्रव्यसे अशरणकी बात है वहां स्वयंसे शरण की बात है। यह तत्त्वकौतूहली ज्ञानीकी बात है। भैया बालकों को जैसे बारह भावना रटाते हैं जिनके दूधके दांत भी नहीं गिरे, बुड्ढे रटना सीखे तथा अब इस प्रौढ़ अवस्था में भी वह केवल रहने की बात नहीं रही। अब तो उसमें विवेकको पूरा बल मिलना चाहिये। जितने वर्ष आयुके बीत गये उतनी आयु थोड़ी हो गई, प्राणी जन्म लेतेके साथ मृत्युके समीप पहुँचता रहता है, फिर भी मोही प्राणी, अपनी इस पर्यायको चिरस्थायी सी मानकर चलता है। ऐसे विचार और कार्योंको करता है मानो उसे हमेशा इसी पर्याय में रहना है। ज्ञानकी आंख खोलो परसे अपनेको अशरण और स्वयं से स्वयंको सशरण समझो।

संसार भावना-जहां दुःख नहीं वही सुख है। यहां तो माने हुये सुखाभासके प्रवर्तनमें भी आकुलता दुख चले ही जारहे हैं संसारमें भ्रमण करते हुए कदाचित् मनुष्य पर्याय पाईतो क्या हुआ यदि आत्मतत्त्वमें न पहुँचसका। मनुष्य होकर कुछ भी मनमाना कर लिया जावे अन्त में तो फैसला भावानुकूल होगा ही। देखो भैया! निमित्तनैमित्तकभावकी कैसी प्राकृतिक व्यवस्था है, कहो अभी मनुष्य है वह मायाचार में रहे तो मरकर एकदम पशु पशु हो जाय, सरल होतो वह मनुष्य बन जाय हमें भावकी सम्हालमें विशेष सावधान रहना चाहिये।

जैसे किसी राज्यमें राज्यशासनकी ऐसी व्यवस्था हो जहां प्रतिवर्ष राजा नया बनाया जाता हो और १ वर्ष राज्य करनेके बाद उसे हमेशा वनवास दिया जाता हो। तब यदि कोई बुद्धिमान् राजा हो तो ऐसाकर सकता है कि जिस जंगलमें उसे १ वर्ष बाद जाना है उसे जंगल ही न रहनेदे, नगर रूपकरदे तो वह आगे भी सुखी रहेगा। उन उन मूर्ख राजाओं सरीखा दुःखी न होगा जो अपने १ वर्षके राज्य-कालमें ऐसे लिप्त हुये कि आगेका दुःख भूल ही गये। इसी तरह जब तक मनुष्य जीवन है तबतक हमारे हाथमें सब कुछ करनेको साधन हैं। इतने समयके लिये हम राजा हैं, स्वतन्त्र हैं। बुद्धिमानी इसमें है कि दुर्गतिके दुःख रूप जंगलको अथवा रागद्वेषादि रूप दुःखके जंगलको सुगति रूप सुखमें अथवा अविकारी परिणति रूप सुखमें बदलदें। इस समय उन विषयभोगोंमें, विषयभोगोंके साधनोंमें उलझे रहे तो सिवा दुःखके आगे क्याहै? इन विषयभोगों के साधनों के उपार्जन, संरक्षण और वियोगमें दुःखही दुःख है। इनकी नाना तरह की चिन्तायें प्राणीको चैन नहीं लेने देतीं। प्रकट रूपमें दिखरहा कि संसारके सारे प्राणी कोई न कोई दुःखसे दुःखी होरहे हैं। जिन धनिकोंको निर्धन पुरुष सुखी समझते हैं वे भी अधिक अधिक तृष्णा के कारण, अथवा प्राप्त सम्पदामें कोई कमी न होजाय इस चिन्ताके कारण, तथा और भी आधिव्याधि और उपाधियोंसे दुःखी होरहे हैं। वह हमारे भीतर ही बैठा है, वह है रागद्वेष और मोहभाव। ये विकारीभाव सर्वथा निःसार हैं, किन्तु सारस्वरूप चेतन परिणति सब आत्माओंमें मौजूद है चाहे वे उसे समझें या न समझें, अपनावें या न अपनावें। तत्त्वज्ञानी वह सारभूत निज तत्त्व भी जानता है।

एकत्व भावना-में विचार आता कि ये बन्धु मित्र आदि सुख देने वाले नहीं हैं ये तो हमारा अहित करनेवाले हैं अर्थात् रागादिमें ही निमित्त होसकते हैं। इनसे सुखकी इच्छा करना दुःखको निमन्त्रण देनाहै। अतः समस्त बाह्यविषयिक वांछा त्याज्य है। ज्ञानी

विचारता है कि तेरा सुख तुझ मेंही भरा हुआहै। तू अपने ज्ञानानन्दको छोड़कर उसे बाहिरमें ढूंढता है, यही विपदा है। उससे दृष्टि हटाकर वह अपने एकत्व भावमें अपनेको देखनेकी चेष्टा करता रहता है। कोई कहे ग्रहस्थियोंके लिये यह कठिन है, सो यह बताओ कि करना कठिन है या विचारना? करना कठिन हो सकता है, लेकिन विचारनेमें क्या कठिनाई है? पहिले विचारको दृढ़ बनावो फिर करना भी सरल हो जायगा फिर कोई कहे कि यह तो कपट हुआ कि विचारते कुछ हैं और करते कुछ और हैं। सो यह बात नहीं हैं। कपट कषायवृत्ति है लोभादि कषायको पुष्ट करने केलिये की जाती है, लेकिन, तत्त्वज्ञानका विचार न तो कषाय रूप है और न कषायको पुष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तो इसका (कषायका) घातक ही है। सम्यग्ज्ञानका उदय रागद्वेषादि कषायोंका क्षय करनेकेलिये ही होता है। फिर भी उसका नाम कपट हो तो ऐसा कपट बुरा नहीं अच्छा ही है। अर्थात् उसका नाम कपट नहीं, अशक्ति है और शक्तिका विकास आंशिक है। अपने आपको सम्हालने में सुख और परको अपनानेमें दुःख है, एकत्वभावनाका यह विचार स्थूल विचार है, कि अकेला ही जन्मता है मरता है सुख दुःख पाता हैं आदि जबकि आत्माके शुद्ध चेतन एकत्व के विचार परम-शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत सूक्ष्ममनन है। अपने एकत्वको देखो।

अन्यत्व भावनाजब यह शरीर छोड़कर जीव जाता है तो यह शरीरयही पड़ा रहजाता है। जब (अतिसंयोगी) यह तेरा शरीरही तेरे साथ नहीं जातातो सारे संसारके पदार्थ तेरा कब तक साथ देंगे? यह सोच ले। ये तो सब पर हैं तू इनके उन्मुख हो रहा है, यह तेरी नादानी है। पदार्थके विषयमें ज्ञानी की भावना है कि परसे तू भिन्न है, इसकी दृष्टि परसे भिन्न अपने पर विशेष टिकती है जब कि अज्ञानीकी दृष्टि, अपनेसे भिन्न परमें

विशेष टिकती है। ज्ञानी सहज ही स्वभावमें अपनेमें अपनेको हमेशा अनुभूत करता रहता है। इस भावनाका उद्देश्य परविभक्त निजतत्त्वमें रचना है। अशुचि भावना-जहां खून, मांस, आदिपूर्ण शरीर की अशुचिता, और उससे रतित्याग सम्बन्धी भावना होती है वहां ज्ञानीके पवित्र ज्ञानशरीरी आत्मापर भी दृष्टि रहती है। नहींतो केवल ग्लानिमय शरीरपर विचारटिके रहनेसे ग्लानि ही हाथ आवेगी। यों तो संसारके कोईभी पदार्थ अपवित्र नहीं हैं। अपवित्र तो रागी द्वेषी आत्मा है, यह मलिनता आत्मामें न हो तो शरीर मल भी उसपर क्यों लगेगा। ज्ञानी विचारता है कि अशुचिमय शरीर को ग्रहण करनेवाला अशुचितो आत्मा है फिर भी वह उसका स्वभाव नही है, वह स्वभावसे शुद्ध है, जिसका आश्रय पर्यायको भी शुद्ध करता है इस तरह अशुचिके साथ शुचिकाभी ध्यान ज्ञानी को होता है। देखो भैया सब शुद्ध है आत्मा अपनी जगह शुद्ध है पुद्गल अपनी जगह शुद्ध है आत्मा अपने स्वभावको छोड़ता है तो अशुद्ध रागी द्वेषी मलिन होता है और यह मलिन आत्मा जिन नोकर्मवर्गणाओंको अधिष्ठित करता है वे वर्गणायें खून पीव मल मूत्रादिरूप होजाते हैं। सो देखलो जबतक इस अशुद्ध आत्माने उन वर्गणावोंको नहीं छुवा था वे अशुचि नहीं हुए किन्तु जब अशुचि आत्माने उन्हें छुवा तो वे वर्गणायें भी अशुचि होगईं तब बतावो अपवित्र मलिन आत्मा है कि शरीर। लोकमें भी तो जिसके छूनेसे दूसरा अशुचि माना जाता है वह अधिक अशुद्ध माना जाता है। तब पर-देहको अशुचि जाननेके बजाय वर्तमान अशुद्ध आत्मपरिणतिको अशुचि देखो और उससे हटकर शुचि ज्ञानभावमें स्थिर रहो। आस्रवभावना-मन, वचन और कायके चंचल होते ही यह अविचल ज्योति चंचल हो जाती है। यही चंचलता कर्मोंके आनेका द्वार है। जो विचल जाता है, भयभीतहो जाता है शत्रु

उसीपर धावा करते हैं, बंदरघुड़कीसे डरनेपर हमला होता है। अतः कर्मशत्रुओंके हमलोंसे बचनेकेलिये अविचल, ज्ञान दृष्टि रखना चाहिये। पर्यायको छोड़कर ज्ञानस्वभावी द्रव्यको देखो। इस भावनामें जहां कर्मोंके आनेका ख्याल है उससे अधिक कर्म नहीं आने योग्य अविचल दृष्टिपर भी ध्यान है। ज्ञानी हर हालत में अपने भावको नहीं छोड़ता। जैसे-पतंग उड़ानेवालेकी दृष्टि पतंगपर भी जावे तबभी डोरी हस्तगत रखनेकी रहती ही है। वैसे हीं ज्ञानीकी दृष्टि एकत्वपर रहती है।

संवर भावना—कर्मोंके रुकनेसे आत्माका कार्य बनताहै। यह कार्य निज शुद्ध आत्माको देखनेसे होताहै। सर्व पर्यायोंमें रहनेवाला जो शुद्ध द्रव्य है उसे देखनेसे यह कार्य होताहै। शास्त्रों का सार इसीमें है। शास्त्रोंको पढ़नेके बाद उन विकल्पोंका भी त्याग करना पड़ेगा। तब शास्त्रोंके पढ़नेका श्रम व्यर्थ हुआ ? ऐसा सोचना ठीक नहीं। क्योंकि निर्विकल्प दशा पानेकेलिये तत्त्वज्ञान के विकल्प होनेकी योग्यता पहिले आवश्यक है। अविवेकीके विकल्पों से, निर्विकल्प दशा प्रकट न होगी। पहिले तत्त्वनिर्णयके विकल्प बनाने पड़ते हैं तब उनसे निर्विकल्पका स्वरूप जाननेपर विकल्पसे हटकर स्वभावमें पहुंचनेपर निर्विकल्प दशा प्रकट होती है।

निर्जरा भावना—जैसे-जैसे विषयकी चाह मिटेगी वैसे वैसे सुख प्राप्त होगा। विषयकी चाह मिटेगी निर्विषय तत्त्वको देखने से। ऐसा निर्विषय जो इन्द्रियोंके विषयसे रहित, स्वविषयको ग्रहण करनेवाला हो। विकारी भावोंको गौण करके स्वभावको देखना निर्विषय कहनेका मतलब है। ऐसे स्वभाव के आश्रयसे ही अविपाक-निर्जरा होती है। संवर और निर्जरा भावनामेंभी अज्ञानीकी दृष्टि उनके बाह्य कारणोंपर रहती है, जबकि ज्ञानीकी दृष्टि स्वभावकी ओर रहती है। इसीलिये अज्ञानी संवर और निर्जराका पात्र नहीं, उसका पात्र तो सम्यग्ज्ञानी ही होता है।

लोक भावना—लोकमें प्रत्येक जीवने पांच परिवर्तन किये है, उसमें कोई जीव ऐसेभी हैं जिन्होंने स्वक्षेत्र भाव व भाव परिवर्तन नहीं किये हों, परन्तुपर क्षेत्रकालसे तो परिवर्तन सबने किया है, करते रहते । इस लोकमें लोकके अन्य पदार्थोंको अपना माननेसे दुःखी और आत्मलोकके सिवा अन्य सबको पर मानकर उपेक्षा-स्वभावमें रहनेसे जीव सुखी होताहै। लोकमें रागकी नीद सोये हुए प्राणियोंको जगानेके लिये विपदा होती है। ज्ञानी विपत्तिसे घबराता नहीं, बल्कि उसका स्वागत करताहै। जबकि अज्ञानी हमेशा असंतुष्ट रहता और खेद तो इसका अधिक है कि संपत्ति सम्बन्धी व भोगविषयक आकुलतामें संतुष्ट रहताहै। इसीलिये लोकमें अज्ञानसे अनंतजीव दुःखी हालतमें पड़ हुए हैं, उनका ८४ लाख योनियोंमें परिभ्रमण होता रहताहै। और दुःखका अंत नहीं आता। किंतु ज्ञानी सुखी हैं, जिनके अवशिष्ट दुःख भी शीघ्र छूट जानेवाले होतेहैं। ज्ञानीकी दृष्टि लोकके स्वरूप पर रहते हुए भी स्वपर दृष्टि रहतीहै।

बोधिदुर्लभ भावना--लोकमें सब सुलभ है लेकिन ज्ञान (आत्म-ज्ञान) होना दुर्लभ हो रहा है, जो कि जीवका निजगुण है। क्योंकि वह अपनी अक्षयनिधिको न देखकर ही संसारके वैभवमें ललचाया करता है। व्यवहार धर्मके मार्गमें लगता है तो उसका फल स्वर्गादि की विभूतिको चाहता है। वह चाहना ऐसी ही है, जैसे किसी रत्नमें लाखों रुपया मुनाफा होनेवाला हो और वह हजार रुपया चाहे, उसको विश्वास ही नहीं होता कि लाख रुपये मिल भी सकते हैं। क्योंकि अपनी भारी दरिद्रताकी दशामें ऐसी भारी प्राप्तिकी वह आशा भी नहीं करता। ठीक इसी तरह आत्मधनके दरिद्री अज्ञानीको भी मोक्ष जैसी महान चीजपर विश्वास नहीं होता तब वह स्वर्गादिकी चाह करता। अथवा वह व्यक्ति जिसे लाखों रुपयों

का सुख वा वैभव (काल्पनिक) मालूम नहीं, उसने हजार रुपयेके वैभवको ही देखा है और उसेही लाख रु० के वैभवसे भी बड़ा माना तब वह लाख न चाहकर हजारही चाहताहै, ठीक इसी तरह अज्ञानी, सम्यग्ज्ञानादि-आत्मविभूतिकी महत्ताको न समझ संसार की विभूतिमें ही बड़प्पनका ख्याल कर उसे चाहताहै, और उसी की चाहमें, दाह पैदा करताहै और फिर उस दाहमें जलता रहता है। जलता रहताहै फिरभी शीतलता प्राप्त करनेकी आशा रखता है लेकिन, वह शीतलता विषयोंकी चाहमें कहां रक्खी? उसके लिये तो सम्यग्ज्ञानही एक कारण हो सकता है। जैसाकि कहा है— विषयचाह दव दाह जगत जन अरनि दझावे।
तास उपाय न आन ज्ञान घन घान बुझावे॥ अर्थात्

विषयोंकी चाह रूपी दाहमें संसारका प्राणी समूहरूप जंगल जल रहा है, उसे शांत करनेके लिये ज्ञानरूपी मेघ ही कारण हो सकता है, अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञानके प्राप्तिकी वांछा निकटभव्योंको ही होती है, जो कि उसके एवजमें संसारका चक्रवर्ती और इन्द्रका वैभव अति तुच्छ, धूल और तिनकेसे भी तुच्छ समझतेहैं। ऐसी प्रबल उत्कंठा ज्ञानके प्रति एक विशेष रुचि उत्पन्न करती है जो कि अनादि कालसे कभी भी नहीं हुईथी, इस रुचिसे मनका विषय संसारकी तरफसे खिचकर आत्माके प्रति होने लगताहै, और कालान्तरमें उसे वह दिव्य ज्ञान आत्मज्ञान प्रकट होता है जोकि अनंत पदार्थोंकी अनंत शक्तियों सहित-द्रव्यत्वको विषयकर, फिर उनसे भी, प्रथक अखंड, अविनाशी परमात्माके दर्शन करताहै। यह दर्शन उसे उसमें अत्यन्त आदर बुद्धि करनेसे होताहै। ऐसी आदर बुद्धि जिसके एवजमें वह तीनों लोकोंकी भौतिक संपदा लेना स्वीकार नहीं करता। इतना ही नहीं यदि तीन

लोकके बजाय, अनंत लोक भी हो जायेंतो उनकाभी वैभव सम्यग्ज्ञान के एक अनंतवें अंशसे सौदा पटानेको तैयार नहीं होता। क्योंकि सम्यग्ज्ञानकी महानता और और दुर्लभताको उसने पहिचान लिया होताहै। सम्यग्ज्ञानका ऐसा आदर करने वालोंको नियमसे केवल ज्ञान प्राप्त होताहै, उसको सर्वज्ञपना प्राप्त होताहै। और यही तभी जब कि उसकी रुचि, सम्यग्ज्ञानके प्रति अत्यन्त तीव्रतासे हो जातीहै।

संदेह नहीं कि ऐसी रुचि ऐसा चिद्ज्ञान महान दुर्लभ है जिसका आदर मुमुक्षु ही करताहै, उसमें ही वास्तविक आदर करनेकी योग्यता होतीहै। तत्त्वज्ञानी, ज्ञानी बननेके बाद भी उस आदरको कम नहीं करता, बल्कि उस चेतनानुभूतिमें लीन रहनेकी चेष्टामें रहताहै। बोधिके स्रोत रूप एकत्वस्वरूपी चैतन्यभावकी दृष्टि लीनता अत्यन्त दुर्लभ है परन्तु स्वभावसन्मुखतामें अत्यंत सरल है।

धर्म भावना—धर्मकी अवस्था राग द्वेषादि कल्पनाओं से रहित है। मोह और राग द्वेष जहां नहीं ऐसी वह निर्मल दशा ज्ञानस्वभावमय• परमात्मीय दशा होती है। जिसमें चैतन्यका ही विकास होताहै। निश्चयधर्म तो स्वभावको कहतेहैं और व्यवहारधर्म धर्मके विकासको कहतेहैं। व्यवहारधर्म निश्चय धर्मकी दृष्टिसे प्रकट होता है।

ज्ञानी जीव हर हालतमें अपनेको देखता रहताहै। दुःखसे छुटकारा चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्तव्य है कि वह इस परमशुद्धनिश्चयनयको जानकर उसके विषयभूत चित्, अनुभूति की परिणतिमें अपनेको ले जाय। संसार दुःखदाहमें जलतेहुए जीवोंको धर्मकी दृष्टि ही शरण है। अनादि अनंत अहेतुक निज चैतन्यधर्मकी दृष्टिके दृढ़ प्रयोगसे होने वाले स्वभाव के निर्विकल्प अनुभव से ज्ञान और आनन्दकी विशुद्धता प्रकट होती है और

अन्तमें केवल ज्ञानमय उत्कष्ट व्यवहारधर्म प्रकट होताहै। पर्याय व्यवहार है और द्रव्य निश्चय है अथवा द्रव्यस्वभाव निश्चय है। अतः ज्ञातृस्वभाव तो निश्चयदृष्टिका विषय है और केवलज्ञान व्यवहारदृष्टिका विषय है। निश्चयभावके दृष्टाके ऐसाही व्यवहार प्रकट होताहै। केवल ज्ञान सकलज्ञान है ज्ञानका स्वभाव जानन है। जानन उतना होता है जितना जानन में ग्रहणआकार है। यह ज्ञेयाकार उतना है जितना सर्व कुछ ज्ञेय है। समस्त ज्ञेयोंको जाननेका यह स्वभाव ज्ञेयके परतन्त्र रंचभी नहीं है। तथा न ऐसा है कि ज्ञेयोंके होने से वह जानता है। ज्ञानका स्वभाव जानना है। जो कुछ भी है वह सब इसके जाननमें आताहै। जो है नहीं वह केवलज्ञानमें नहीं। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है जब कोई कर्म प्रकृति ज्ञानकी बाधक रही ही नहीं तब ज्ञानके कार्यमें सीमा कौन करे। अतः यह निर्विवाद फलित हुआ कि केवलज्ञानमें जोजाना जाता है वही सत् है। जो नहीं आता वह सत नहीं है। ज्ञानका स्वभाव जानना है। भगवान होनेपर केवली केवलज्ञानद्वारा सब लोक अलोकको जानते हैं। उनकी त्रैकालिक समस्त पर्यायों सहित लोक अलोकको केवलज्ञान जानता। उस जाननेमें क्रम नहीं है, भूत भविष्य, वर्तमानका उस ज्ञानमें भेद नहीं है। पदार्थ त्रिकाल में जैसे होता वैसा एक समयमेंक्रमविकल्परहित केवलज्ञान जानताहै। भगवानके इस जाननेका ढंग समझमें आवे तो सम्यग्-ज्ञान होसकता है। क्योंकि उस अक्रमवर्ती ज्ञानको जाननेसे स्वरूपपर दृष्टि जातीहै। अब प्रश्न होताहै कि कालक्रमरहित ज्ञान कैसा होता होगा? सो ऐसा क्रमरहित ज्ञान हम श्रुतज्ञानी छद्मस्थोंके नहीं होता इसलिये क्रमवर्ती ज्ञानका अनुभव हम नहीं कर सकते इस लिये वह कैसा होता है? यह बताना भी सरल संभव नहीं है। ऐसा जानना विलक्षण जानना है। जिसमें कि

सारे पदार्थ, उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित एक साथ प्रतिभासित होतीहैं। केवलज्ञान होनेपर जिस प्रथम क्षण में जैसा अक्रमज्ञान हुआ था वैसाही एकरूपसे अनन्त कालतक होता रहताहै। ऐसा नहीं है कि जिसे भूतरूपसे जानतेथे उसे फिर वर्तमानरूपसे जानने लगतेहैं। प्रश्न-तो क्या सब वर्तमानरूप ही प्रतिभास होताहै? उत्तर ही भूत, भविष्यतका क्रम नहीं झलकता। तीनों कालोंकी पर्यायोंका प्रतिभास उसी रूपमें हमेशा होताहै। इसे उदाहरणसे समझिये एक बालक है, वह क्रमसे रखीहुई बहुतसी चीजोंका ज्ञान कररहा है, लेकिन उस क्रमका विकल्प उसके नहीं है, फिरभी उसका ज्ञान उसे होरहा है, यह उदाहरण स्थूल है बालक का ज्ञान क्रमवर्ती होकरभी क्रमसे रखीहुई चीजोंका ज्ञान होकरभी उस क्रमविकल्पसे रहित है, लेकिन केवलीका ज्ञान क्रमवर्ती नहींतथा युगपद् भूत, भविष्यत् आदिके क्रमविकल्पसे रहित होताहै। उनके ज्ञानमें भूत, भविष्यत् वर्तमानरूप कल्पना नहीं होती केवली भगवान में जो उत्पादव्यय होताहै वह उनके स्वभावसे होताहै, पदार्थोंके जाननेसे नहीं। भूत भविष्यत् और वर्तमानकी सर्व पर्यायें भगवान के ज्ञानमें वर्तमान है। जो पर्यायें आजतक नहीं हुई और जो पर्यायें नष्ट हो चुकी है, जो पर्यायें असद्भूत हैं वे सब केवलज्ञान में सद्भूत हैं। जो नहीं है, विलय गईं वे सब असद्भूत पर्यायें ज्ञानकी प्रत्यक्षता से अनुभूत सद्भूतरूप ही होतीहैं। भगवानके ज्ञानमें पर्यायें जैसी की तैसी आई, फिरभी उसमें क्रमपना नहीं है। ज्ञानकी कल्पना से भगवानमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं है। वहतो उनके स्वभावसे है। उनकाज्ञान इतना विचित्र है कि सब पर्यायें उनके ज्ञानमें वर्तमान हैं।

जैसे भगवान निश्चयसे अपनी पर्यायको जानते हैं जो कि परम आनन्दमय और पूर्णप्रतिभासमय है ऐसी पर्यायको। और व्यवहार

से पर द्रव्यको जानता है। जैसे किसीसे पूछा कि क्याकर रहे हो ? तो बाह्य पदार्थका निमित्त लेकर कहा जाता है कि पुस्तक पढ़रहे हैं आदि। किंतु निश्चयसे उसके ज्ञानमें जो पर्याय आई उसे कर रहा है। व्यवहारके बिना निश्चयका प्रतिपादन नहीं होता, इस लिये व्यवहार कार्यकारी है। लेकिन अनुभवके कालमें व्यवहार नहीं होता। जिस अविनाशी अखंड सत का प्रतिभास होताहै वह निश्चय रूप है। इस तरह भगवान क्या जान रहे हैं ? इसके उत्तरमें यथार्थता सोचते सोचते भक्तिवश यह कह बैठें कि कुछ नहीं जानरहे हैं तब उनके ज्ञानको समझनेकी शैली आई समझो। भगवान के उपयोगमें भूत, भविष्यत वर्तमान नहीं है। तो क्या इतना हलका उनका ज्ञान है ? नहीं, उस महान ज्ञानका ऐसा स्वभावही है। जैसे जंबूद्वीप १ लाख योजनका है, लवणोदधि २ लाख योजन का है, इत्यादि विकल्परूपसे भगवान काज्ञान नहीं होता। कल्पनाएं तो श्रुतज्ञानमें ही होती हैं। द्वीप, समुद्र या और पदार्थोंका माप आदि विकल्परूपज्ञान भगवानका नहीं होता, वहतो निर्विकल्परूपसे पदार्थ जैसा है वैसा होता है। इस तरह अरहंत सिद्धोंका ज्ञान निर्विकल्प है। श्रुतकेवलियोंके श्रुतज्ञानमें यह वर्णन पाया जाता है। भगवानकी भाषा निरक्षरी होती। निः + अक्षरी अर्थात् अक्षर रहित अथवा सम्पूर्ण अक्षरोंवाली। जिसको सब अपनी भाषामें समझें। ऐसी दिव्यध्वनिको निमित्त पाकर श्रुतकेवलियोंने सब बतलाया है।

केवलियोंमें कल्पना नहीं है तभी वे सुखी और शांत है। और उनका महत्त्व बड़ा है। उनके ज्ञानमें असद्भूत पर्यायें सद्भूत रूपसे रहती हैं। कोई प्रश्न करे कि भगवानने क्या जाना ? तो उत्तर होगा अपने परिणमनको जाना। बाह्यको नहीं। ऐसा जाननेमें अपना जिसने उपयोग लगाया उसने क्या जाना ? उसने भगवानके उस परिणमनको जाना। और उस परिणमनने किसको जाना ? उस

परिणमनने अपने संवेदनको जाना। भगवानने अपनेको जाना और छद्मस्थने अपनेको। भगवानके ज्ञानकी भावना करनेवाले हमने जो संवेदन किया उसने (उस संवेदनज्ञानने) अपनी उस संवेदन पर्यायको जाना। तो क्या जाना? व्यवहार से, भगवानको जाना यह कहा जाता है। जैसे-

दर्पणमें बालकोंका प्रतिबिंब पड़रहा है, दर्पण देखनेपर दर्पण को जानरहे हैं। फिर प्रश्न हो कैसे दर्पणको तो? उत्तर होगा लड़कोंवाले दर्पणको-जिसमें लड़कोंका प्रतिबिंब है ऐसे दर्पणको दृष्टान्तमें वास्तवमें ज्ञान दर्पणका है, दर्पणमें न लड़के हैं और न उनका ग्रहण। लेकिन बाह्यका अवलंबन लेकर व्यवहारमें बताना पड़ता है। राग द्वेष कहां करता? अपने में लेकिन व्यवहारमें यही कहाजाता कि अमुक-अमुकपर राग करता और अमुकपर द्वेष आदि, राग क्रोध आदिका निमित्त कुछभी मिलो लेकिन उसकी क्रिया बाह्यमें नहीं अपनेमें (आत्मा में) होतीहै। यदि इसकाज्ञान न हो तो प्राणी दुःखी होता है। क्योंकि भीतरकी चीजको बाहिर माना निमित्तको उपादान माना, अपनेको पर माना, परको अपना माना, तो फिर निमित्तोंको बनाने, बिगाड़ने और सुधारनेमें वह पुरुषार्थ क्रिया करता है, और दुःखसे पिंड छुड़ाना चाहता है लेकिन जहां से दुःख पैदा होताहै उसकी तरफ लक्ष्य न करनेसे वह कैसे छूटेगा जहांकी चीज हो वहांही उसे देखना चाहिये। नहींतो भ्रमसे लाभ के बदले हानि होनेकी ही पूरी संभावना समझना चाहिये। अपने भीतर कषायको जाने देखे और उसे दूर करनेका उपाय करे, तभी दुःख दूर हो सकता है। बाह्यवस्तुसे परतन्त्रता व भाग्यका विधान नहीं है। जैसे—एक वेश्याका शव जारहा था, स्मशानमें दाह करनेकेलिये सो शृगाल उस शवको देखकर सोचताहै यदि यह मेरे हाथ लगे तो कई दिनोंका भोजन चले। कामी सोचता है यदि

जीवित होते तो भोग भोगते। साधु सोचताहै कैसा मनुष्यभव और सुन्दर शरीर पाया यदि तप तपा होता तो आत्माका कैसा कल्याण होता, तो अपनी अपनी योग्यताके अनुसार विचार होते हैं कल्पनाएं होती हैं, और उन्हींके अनुसार उनका फल होता है। जो शांत पुरुष होते हैं उनसे यदि परोपकार न हो तो भी दुनियां उनकी ओर झुकती है। और परोपकार करे लेकिन स्वभाव क्रोधी हो तो दुनियाको आकर्षण नहीं होता। शांति अपने लिये और दुनिया के लिये सुखका कारण होती है। परम शांतिपरमशुद्धनिश्चय नयके अवलम्बनके पश्चात् होती है। शुद्धनिश्चयनयका विषय भूत ज्ञान केवली भगवानके हमेशा वर्तमान रूपसे रहता है। भगवान के जैसा ज्ञान होता है पदार्थोंका परिणमनभी वैसाही होता है। इसलिये भी वे सुखी है। इसलिये नहीं कि उनके इच्छानुसार कार्य लेने से उन्हें सुख हो जाता बल्कि इसलिये कि रागी छद्मस्थका ज्ञान अल्प था, तब पदार्थोंको जाननेकी आकुलता रहा करती थी और जितना जानना चाहता उतना सब नहीं जान सकनेसे दुःख होता था लेकिन केवलज्ञान होनेपर वह अल्पज्ञता और वह आकुलता खतम हो जाती है, जिससे सुख प्रकट होता है। दूसरी बात यहभी है कि वे सब जानतेहुएभी निरिच्छुक हैं और हम जो जानते उसीके पीछे राग द्वेष लगा लेतेहैं इसलिये दुःखी होते हैं। केवली भगवान के समान रागादिविकार रहित पदार्थको जाननेका तरीका हासिल करो उस माफिक चलो तो दुःख दूर हो।

भगवानका ज्ञान अपने आपको निश्चयसे जानता है, और व्यवहारसे कहा जाता कि सारे संसारको जानता। हमभी अपने ज्ञानसे अपनेको जाननेका अभ्यास करें, पर, में ही पर रहने दें स्वको स्वमें लीन होने दें। फिर दुःख क्यों रहेगा, क्यों वह पीछा न छोड़ेगा सुख क्य न आवेगा? सो विचारें। तत्त्वकी यथार्थताको जानें।

केवली भगवानको जानना चाहते हैं तो उनके केवलज्ञानको जाने उसकी जातिको पहिचानें अपने ज्ञान और उनके ज्ञानका अन्तर विचारें, क्या है ? क्यों है ? यह अन्तर कैसे दूर होसकता है ? इतना प्रयत्न हम करेंगे तो कोई वजह नहीं कि जड़ कर्म हमारा पीछा न छोड़ें। हमारे पूर्ण ज्ञानको जबरदस्ती ढके रहें। हमारी शक्तिको प्रकट न होने दे हमारे सच्चे सुखमें बाधाडालते रहें यह कभी संभव नहीं हो सकता। सो वैसा करनेकी ठानकर चलें, तभी मनुष्य जन्म की सफलता है। यह निजके एकत्वके निश्चयको प्राप्त होजानेकी सब करामात है। निश्चयनयोंके प्रकरणमें यह परमशुद्धनिश्चय नय चलरहा है। पर्यायकी अपेक्षा न रख शुद्ध द्रव्यकी दृष्टि रखना यह परम शुद्ध निश्चयनय है। जिस तरह पर्यायकी दृष्टि व्यवहार कहलाता है, उसी तरह गुणोंका विचार भी व्यवहार है। क्योंकि द्रव्य तो इन दोनोंका त्रिकाल गुण और पर्यायोंका समुदायात्मक अभेदरूप है। लोकमें सामान्य शब्दका दरजा कम और विशेषका बड़ा दरजा माना जाता है। लेकिन अध्यात्ममें विशेष मान्य नहीं, सामान्य मान्य है। जीवोंके भेद संसारी और मुक्त पर्यायसे हैं, इसका कथन आचार्योंने हम व्यवहारियोंको व्यवहारसे कहा है। क्योंकि व्यवहारसे ऐसा कहकर न बतावें तो हमको उसका ज्ञान केवल निश्चयके कथनसे नहीं होता। जैसे–जीवका लक्षण बतलाया 'उपयोग'। यह लक्षण व्यवहारसे है। निश्चयसे, जीवका लक्षण, चैतन्य है। उसका व्यहार के बिना विवरण नहीं होता, फिरभी शुद्ध निश्चयनयपर दृष्टि पहुँचनेसे, सरलतया परमशुद्धनिश्चयनय होता द्रव्य केवल अशुद्धनिश्चयनय व शुद्धनिश्चयनयके पर्यायरूप नहीं है। व्यवहारका समुदायरूप भी द्रव्य है नहीं। परम शुद्धनिश्चयनयमेंतो सामान्यकी मुख्यता है इस सामान्यस्वभाव अथवा स्वभाववान ध्रुव द्रव्यका अथवा परमपारिणामिकभावका ज्ञान होना परमशुद्ध-

निश्चयनय है। इस प्रकार निश्चयनयोंके प्रकरणमें पहिले अशुद्ध निश्चयनय व शुद्ध-निश्चयनयका वर्णन करके अब परमशुद्ध निश्चयनयका वर्णन किया। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि निश्चयकी तो बात एक ही होना चाहिए ये तीन भेद और इनके भी विविध विषय ये सब कैसे हो सकते हैं? इतने नाना प्रकार तो व्यवहार ही कहे जाना चाहिए। तो इसके उत्तर स्वरूप सूत्र कहते हैं।

उत्तरान्तर्दृष्ट्यां पूर्वनिश्चयो व्यवहारः ।१४।।

उत्तरोत्तर अन्तरङ्गकी दृष्टी होनेपर पूर्व पूर्वका निश्चय व्यवहार बनाता जाता है। निश्चयनयका लक्षण है 'स्वाश्रितो निश्चयः, अर्थात् जहां केवल एक ही द्रव्यको देखा जाय वहां जो आशय बनता है वह निश्चयनय है। इस लक्षणके अनुसार एक द्रव्यको ही देखकर उसके नाना परिणमन भी जाने जावें अथवा भेद अभेद जाना जावे वे सब निश्चयनय है। निश्चयनयके विषय नाना बननेमें कोई आपत्ति नहीं है, हां निमित आदिपर भी दृष्टी देकर परिणमन जानना व्यवहार हो जावेगा एवं अन्यपदार्थ पर भी दृष्टि न देकर विवक्षित पदार्थके सामर्थ्य व परिणमनोंको भेद करके उन अनेकोंका व उनमेंसे छाटते हुए एकतकका भी ग्रहण करना व्यवहार हो जावेगा। अतः अन्य पदार्थपर व भेदनपर दृष्टि नहीं होना चाहिए। इस प्रकार निश्चयनय के विषय अनेक होते हैं तथापि निश्चयनयके किसी भी विषयसे अधिक अभेद अथवा अन्तरङ्ग दृष्टिके प्राप्त होते ही इस नवीन दृष्टि के समक्ष पूर्व निश्चयका विषय व्यवहार हो जाता है। इसका उदाहरण लीजिए —जैसे किसी विवेकीने निम्नप्रकार की दृष्टियों से आत्माको परखा—१—आत्मा रागादि भावकर्मका कर्ता है। २— आत्मा रागादि भावकर्मका भोक्ता है। ३— आत्मा रागादि भावकर्मका त्याग करनेवाला है ४— रागादि भाव आत्माका है। ५— मिथ्याज्ञान आत्माका है। ६— मतिश्रुत ज्ञान आत्माके हैं। ७ — अवधि मनः पर्ययज्ञान आत्माके हैं। ८— केवलज्ञान आत्माका है। — ज्ञान

निजज्ञेयाकारको जानता है १०— आत्माका स्वरूप ज्ञान दर्शन चा रित्रादि शक्ति है। ११— आत्मा ज्ञायकभावस्वरूप है। इत्यादि ये सब निश्चयनय के विषय हैं, परन्तु अगली दृष्टिके प्राप्त होते ही पूर्व दृष्टि व्यवहाररूप बन जाती है। फिर भी वह व्यवहार पर पदार्थके आश्रित नहीं है किन्तु भेदकृत होने और वहिरंग विषय बन जानेसे व्यवहार हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि स्वाश्रित तत्त्व भी यहां व्यवहार बन गये परन्तु उनमें व्यवहारका लक्षण तो नहीं जाता, क्योंकि व्यवहार का लक्षण तो यही कहा है कि 'पराश्रितो व्यवहारः। उक्त तत्त्वोंमें तो यह लक्षण घटित नहीं होता। उत्तर-पराश्रितो व्यवहारः इसका-अर्थ तो इतनाही है कि जो परके आश्रयसे है वह व्यवहार है। अब वह पर अन्य पदार्थ भी होताहै और निज एकमें भेद हो जानेपर विवक्षित स्व और अविवक्षित पर हो जाता है, तथा अभेद स्वबभेद पर हो जाता है। इस प्रकार पूर्व पूर्व विषयों में अविवक्षित, बहिरंग या भेद का आश्रय हो जानेसे वे पराश्रित-व्यवहार कहलाते हैं। यह परत्व सूक्ष्म दृष्टिसे जानने पर ही स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार ये निश्चय किसी भी एक पद पर टिक नहीं पाते; हां उत्तर अन्तर्दृष्टि न मिलने तक तो ये टिके रहते हैं किन्तु अन्तर्दृष्टिके प्राप्त होते ही ये व्यवहार हो जाते हैं। इस विषयके घटानेकी सीधी शैली यह है कि दो दृष्टियां मुकाबिलेमें रखली जावें। और उनमें यह खोजा जावे कि इनमें कौन तो निश्चयकथन है और कौन व्यवहार कथन है। प्रश्न—इस प्रकार तो निश्चयनय भी घुटालेमें पड़ गया वह भी न टिक सकने से निश्चयत्वसे हीन हो गया फिर निश्चयनय शब्द ही निरर्थक हुआ ? उत्तर—निश्चय तो स्वाश्रितत्वकी दृष्टिसे है इसमें पर द्रव्यकी अपेक्षा नहीं है और फिर यद्यपि उत्तर अन्तर्दृष्टि के प्राप्त होते ही पूर्व पूर्व विषय व्यवहार हो जाते हैं तथापि

अन्तिम एक निश्चय ऐसा भी होता है जिसके बाद अन्य ज्ञानांश की दृष्टि नहीं होती है, वह निश्चयनयका ही विषय है इसही वर्णन में सूत्र कहते हैं।

सर्वभेदप्रतिषेधगम्यो निश्चय एव ॥१५॥

समस्त भेदोंके प्रतिषेध करिके गम्य-ज्ञात वस्तु निश्चय ही है अर्थात् निश्चयनयका विषय है। वस्तु यथार्थतः कैसी है?? इसका परिज्ञान किसी भी विधिसे नहीं होता क्योंकि विधि करनेमें वस्तुका भेद होना ही पड़ता है अखंड एक वस्तुको किसी भी प्रकार कहो वह अखंड वस्तु उसका विषय नहीं बन सकता। निश्चयनय सत् में किसी प्रकारका भेद किये बिना ही सत् को सामान्यरूपसे ग्रहण करता है, उसको यदि विधिमुखसे कहा जाय तो विधि तो किसी धर्मविशेषका अवलम्बन लेकर ही होगा उस धर्मविशेषकी मुख्यतासेवस्तु में भेद हो गया, वस्तु उतने मात्र है नहीं। अत; धर्मविशेष के अवलम्बन से विधि करना व्यवहारनयका काम है। निश्चयनय तो प्रतिषेधक है, इस नयका कोई उदाहरण नहीं मिलता, जो भी उदाहरण दिया जायगा वह भेदक होनेसे प्रतिषेध्य -व्यवहार बन जावेगा। जैसे यदि यह कहा जावे कि जीव ज्ञानवान है तो इसमें गुणी से गुण पृथक् किया अतः, तथा ज्ञान भी एक शक्ति है अन्य शक्तियोंसे रहित केवल इतने मात्र जीव नहीं है अतः यह उदाहरण व्यवहाररूप है, निश्चयनयका नहीं। यदि कहा जावे कि "जीव ज्ञानात्मक है" तो इसमें विशेषण विशेष्यका भेद हुआ अतः तथा एक इस विशिष्ट सत् को दो प्रकारका प्रसंग होता अतः यह उदाहरण भेदक होनेसे व्यवहारनयका उदाहरण रहा। यदि कुछ विशेषण भी न कहकर मात्र "जीव" इतना ही निश्चयनयका उदाहरण बनाया जावे सो यह भी नहीं बनता क्योंकि जो जीवे जीवन क्रिया करे सो जीव है इस अर्थसे यह स्वयं विशेषण बन गया और

विशेष्य वक्तव्य ही न हो सका अतः, तथा इतने मात्र वह पदार्थ नहीं है अतः यह निश्चयनयका उदाहरण नहीं बन सकता। अब बताओ भैया! इससे आगे और क्या कहोगे? बस अब तो यही बात बतने की रह गई कि 'न' 'न' करते जावो और अखंड सत को देखते जावो। ऐसा होनेपर भी निश्चयमें निषेध रूप विकल्प रहेगा ही और इसका वाच्य भी रहेगा, परन्तु उसको विधिमुखेन न बताकर 'नेति' प्रक्रियासे कहा जावेगा। यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यह निश्चयनय अंतिम बताया जा रहा है जिसके बाद कोई भी उत्तर दृष्टि नहीं मिलती, अतएव च वह कभी व्यवहारका सूक्ष्मतररूपसे भी विषय नहीं बन सकता। यह तो विधि मुख से कहा भी नहीं जा सकता। निश्चयनयका गम्य तो वह हो सकता जो व्यवहारनयका वाच्य है किन्तु उन सब विकल्पोंका अभाव होने पर भी जो शेष रहता है इस दृष्टिरूपसे ही वह गम्य है। यह निश्चयनय स्वानुभव के समीप है तथापि स्वानुभवसे रहित है, क्योंकि विकल्पमात्र नय है इसमें भी निषेधरूपसे विकल्प है और जहां विकल्प है वहां स्वात्मानुभव नहीं है। ऐसा होते हुए भी व्यवहार पथमें ढुलकनेवालोंको यह निश्चयनय ग्राह्य है क्योंकि जिस निर्विकल्प अखंड सत् का अनुभव साध्य है उसका ज्ञापक यह निश्चयनय है। स्वानुभव होनेपर तो यह निश्चयनय भी छूट जाता है। अनुभव में भी अद्वैत विषय है और निश्चयनयका भी अद्वैत विषय है परन्तु अनुभवमें तो निर्विकल्प अनुभव रूप से है और निश्चयनय विकल्प द्वारा ज्ञापकरूपसे है। हां निश्चयनयका विषय एक ही है अतः स्वानुभवका प्रयोजन हो सकता है। प्रश्न—निश्चयनयका विषय एक ही क्यों है? उत्तर—निश्चयनयका लक्षण नेति है अतः व्यवहारनयके विकल्प अनेक हैं जिनसे कि निवृत्त होना है तथापि निवृत्तिका स्वरूप एक ही है, निषेध एक ही है, जैसे कि एक सोना है उसमें कई

मिलावट है तो मिलावटके विकल्प तो नाना हैं इसमें चांदी मिली तांबा मिला, जस्ता मिला आदि परन्तु चांदीकी निवृत्ति अथवा तांबे की निवृत्ति आदि सारी निवृत्तियां एकरूप हैं अर्थात् चांदीरूप उपाधि से स्वर्णपना जैसे भिन्न है वैसे ही तांबे रूप उपाधिसे स्वर्णपना भिन्न है इस विभक्तत्वमें विविधता नहीं। हां यह बात पुनः स्मरणीय कीजिये कि यह उस नयका वर्णन है जिसके आगे अभेद या अन्तरंग अन्य दृष्टि नहीं होती, यदि आगे वह ध्याता बढ़े तो स्वानुभव ही एक पद मिलता है।

देखो भैया ! इस निश्चयनयके विषयके समक्ष पूर्वमें जितने भी नय कह आये हैं वे सब व्यवहार हैं तथापि अपने अपने स्थानपर वे सब अपने संक्षिप्त प्रयोजनको लिये हुये हैं और उनमेंसे जो अनेक पदार्थपर दृष्टि रखते हैं उन्हें व्यवहार कहा है तथा जो एक ही पदार्थ पर दृष्टि रखते हैं उन्हें निश्चय कहा है, वस्तुतः जो भी अखंड अवक्तव्य सत्का भेदक हो वह व्यवहार है और जो भेदक न हो और नेति विकल्प से ज्ञापक हो वह निश्चयनय है। इस तरह नयके दो ही भेद ठहरते हैं १ निश्चयनय २ व्यवहारनय। निश्चयनयका प्रयोजन सामान्यमात्र वस्तुपर पहुंचाना है और स्वानुभव इसका फल है। जगतके प्राणियोंने अब तक स्वस्वरूप से च्युत रह रहकर विकल्पद्वारा परका अनुभव ही माना है किन्तु स्वयं सहज स्वरूपसे स्वतंत्र सर्वकलंकसे रहित जैसा स्वभाव है उस रूप अनुभवन नहीं किया, यदि एकबार भी यह अनुभव करले तो सर्व-क्लेशोंका अभाव होना सुनिश्चित ही है। हे परमपारिणामिकभावस्वभाव निजतत्त्व ! जयवन्त होहु, प्रकट होहु, दर्शनपथस्थ होहु। इस प्रकार निश्चयनयका वर्णन करके अब सर्वभेदप्रतिषेधरूप निश्चयद्वारा गम्य जो तत्त्व है उसके अनुभवके सम्बन्धमें संकेत करते हैं।

निर्विकल्पतया स्वस्यानुभवनमर्थानुभवः ॥१७॥

निर्विकल्परूपसे स्वका अनुभवन होना अर्थानुभव है। यद्यपि अर्थानुभव शब्दका अर्थ अर्थका अनुभव है और वह अर्थ चाहे स्व हो या परपदार्थ तथापि अर्थ शब्दका जहां अर्थ ही निराला है उसको दृष्टि से देखो तो परपदार्थसम्बन्धी ज्ञान अर्थरूपसे होनेपर वह ज्ञान व्यक्तिमें नहीं टिकता सामान्यस्वरूप बन जाता है, और सामान्यस्वरूप निजात्मपरिणमनरूप हो जाता है। दूसरी बात यह है कि इसी रहस्यको दृढतम करनेकेलिये सूत्र में 'निर्विकल्पतया' यह शब्द भी पड़ा है। जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि निर्विकल्परूपसे स्वका अनुभवन होना अर्थानुभव है। अर्थ शब्दका अर्थ है अर्यते निश्चीयते यः स-अर्थः, जो निश्चित किया जाय वह अर्थ है अथवा जो जाना जाय वह अर्थ है। लोकदृष्टिसे यद्यपि इसका वाच्य सकल पदार्थ है परन्तु वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टिसे आत्मा केवल अपने आप को ही जानता है निश्चित करता है। अस्तु। इस विषयकी स्पष्टताके अर्थ हमें इन चार प्रकारके तत्त्वोंसे समझने का यत्न करना चाहिये।

१ अर्थ २ द्रव्य ३ गुण और ४ पर्याय।

१:—द्रव्य, गुण और पर्याय में रहने वाला वस्तु।

२:—अर्थ तो द्रव्य गुण और पर्याय में रहने वाला एक आश्रय है

३:—पर्याय वस्तुका प्रतिसमयका परिणमन। वह वह शक्ति है

४:— गुण जिस शक्तिके वे परिणामन हों।

प्रवचनसार में बताया कि पर्यायके बिना अर्थ नहीं, और अर्थ के बिना पर्याय नहीं। अर्थमें, द्रव्य, गुण, पर्याय ये तीनों अन्तर्निहित हैं। पर्याय और गुणदृष्टि व्यवहार है। और द्रव्यदृष्टि निश्चय है। और अर्थ इन तीनोंमें व्यवस्थित है। निर्विकल्प है। इसके लिये पहिले हलवा का दृष्टान्त दे आये हैं। जब तक हलवा को, आटा, घी पानी आदि चीजोंका अलग अलग ख्याल होगा तब तक उसके

स्वाद का यथार्थ अनुभव नहीं होता। पिंड रूप हलवाका अन्य विकल्प नक के स्वाद लेनेपर उसके स्वादिष्टपने का स्वाद आता है। क्योंकि उस पिंड रुप सविकल्प अनुभव में भी भेद करते हैं। क्योंकि समस्त चीजों के पिंड रूप हलुवा पर दृष्टि रखने से भी पूर्णस्वाद नहीं होता, अर्थात निर्विकल्प जैसा अनुभव नहीं होता। निर्विकल्प जैसेअनुभवमें पिंड रूप हलुवा का बोध नहीं होता। परमशुद्ध निश्चयनयमें द्रव्य सामान्य।। ग्रहण होता है वहां परभी निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। लेकिन अर्थानुभवमें, व्यवहारनय या निश्चय नयका विषयभूत कोई भी विकल्प नहीं होता वहां तो केवल अनुभव रूपता है निर्विकल्प रूप से। अपनेमें दो तत्त्व या दो अंश मौजूद हैं। १ सामान्य अंश और दूसरा विशेष अंश। पहिला सामान्य अंश नित्य है और दूसरा विशेष अंश अनित्य है। यह दोनों स्वतंत्र सत् नहीं हैं। केवल स्वरूप दो है एक ही सत् के दो पहलू हैं। ये दोनों अंश अन्वय और व्यतिरेक से चले ही जाया करते हैं।

आत्मा है, और उसमें ज्ञानकी परिणति चला ही करती है। जिस आत्माका परिणमन होता ही रहता है वह क्या है ? विचारना चाहिये। व्यवहारसे उसे मनुष्यादिपर्याय रूप कह देते हैं। लेकिन यह तो असत्यार्थ है, मनुष्यादि का शरीर जड़ पौद्गलिक है। शरीर तो आत्मा नही है, शरीर तो जड़ है। जबकि आत्मा, आत्मा चैतन्यमय है। ज्ञानवान् है। ज्ञान आत्माका ही गुण है जड़ पुद्गलका नहीं। तब शरीरसे पृथक, आत्मद्रव्य निश्चित हुआ। वह आत्मा कैसा है उपयोगवान है, उपयोगवान माने जानने देखने वाला, वह, अशुद्धनिश्चयनय से काम क्रोध आदि विकार वाला हैं लेकिन स्वरूपसे शक्तिसे वह निर्विकारी शुद्ध परिणति वाला है, तब उसकी शुद्ध परिणति कैसी है ? जैसा कि वह नाना तरहकेपदार्थों को जाननेके विकल्प करता है, क्या ऐसा विकल्पवान् है ? नहीं,

विकल्प उठना उसके स्वभावमें नहीं है, तब वह, अपने गुण पर्याय या द्रव्यरूप है ? नहीं, ये भेद भी उसके व्यवहारको ही कहते हैं। वह अभेद रूप एक स्वरूप है उसमें विकल्पोंका नानात्व नहीं है, वह निर्विकल्प सत्स्वरूप है। वह निर्विकल्प है, सत्स्वरूप है यह सामान्य दृष्टि है। लेकिन ऐसा देखना—विचारना भी एक विकल्प हुआ, तब यह विकल्प भी उसके स्वरूपमें न होने से ऐसा विकल्प भी निर्विकल्प होनेकेलिये निरर्थक हुआ। देखो भैया ! अखंड निर्विकल्प स्वरूपकी उपलब्धिके लिये पर्याय व भेदसे अछूती दृष्टि चाहिये और यदि ऐसा कठिन जचे तो ऐसे खण्ड करिये कि फिर खण्ड करने को ही न रहे। इस शैलीसे उस निर्विकल्प दशाको पाने के लिये ऋजुसूत्र नयका आश्रय लो समय समयकी परिणतिको विचारो लेकिन वह समय समयपर होने वाली परिणति रागी जीवोंकी समझमें नहीं आती—या कहिये अनुभवमें नहीं आती। फिरभी कषायकी मंदताकी अवस्थामें, स्थूल पर्यायका भाग करते करते, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम पर लानेका प्रयत्न करें। और यहां तक कि एकसमयवर्ती पर्याय तक पहुंचावें तो पश्चात् पर्याय दृष्टि न रहकर एक सामान्य अंश प्रकट होगा। और उसके बाद फिर अर्थानुभव होगा।

ऋजुसूत्रनयका विषय पर्यायका होनेपर भी अखंड होनेसे वह निश्चयनय है अखंडके दो अर्थ होतेहैं; एक तो बड़े से बड़ा विभाग रहित अनादि अनन्त द्रव्य और दूसरा छोटेसे छोटा जिसका दूसरा खंड नहीं हो सकता ऐसी अनादि अनंत पर्याय अर्थात जिसका वही आदि है वही अँत है। निर्विकल्प अर्थपर पहुँचनेकेलिये पूर्व ऐसी दृष्टि बनाइये जिससे अखंड तत्त्व पर पहुंचे उसका उपाय एक तो नैगमनय है और दूसरा सूक्ष्म ऋजुसूत्र है। इन शुद्ध दृष्टियों द्वारा जब अखंड तत्त्व दिखे तब आगे पद निर्विकल्पका आता है इस तरह अर्थानुभव

निर्विकल्प अनुभव है। वह द्रव्यदृष्टिरूप भी अनुभव नहीं है। द्रव्यदृष्टि परम शुद्धनिश्चयनयका विषय है। तत्त्वोंको जाननेके लिये नयनिरूपण जानना जरूरी है। उसके बिना तत्त्वका निर्णय नहीं होता। यदि नयोंकी शाखाएं फैलाई जावें तो उनका विस्तार बहुत ज्यादा है, इनना ज्यादा कि हम उसकी गिनती भी न कर सकेगें। बतलाया है कि लोकमें जितने भी वचन कहे जाते हैं वे सब कोई न कोई नयके विषय हैं लेकिन यथा विधि-सापेक्ष दृष्टि-कोणसे जो कहे जाते हैं वे तो सुनय कहलाते हैं, और इसके विपरीत हैं कुनय। जितने भी मत, मतान्तर हैं, उनमें यदि सापेक्ष दृष्टि-कोण हो तो वेही सत्य-अर्थको बतानेवाले सुनयके अन्तर्गत होंगे। जैसे कल्पना करो एक जगह कई व्यक्ति ऐसे बैठे हैं जो अनेकान्त के फलितार्थके वर्णन होनेपर भी अपनी कोई एक दृष्टिसे पदार्थको जानते हैं। जैसे पर्यायको गौण करके और गुण तथा द्रव्यको भी गौण करके अर्थ की प्रधानता से आत्माको जाननेकी बात चल रही हो, तो उस अर्थानुभवके विषय के लिये जो कल्पनाएं आतीं, वे सब विलीन होतीं जाती क्योंकि अर्थानुभव कल्पनाओंका अविषय है तब कल्पना आती क्या वह जड़ सा है? अथवा वह कुछ है ही नहीं? इसीविचारके आधारपर तत्त्वोंदप्लववादका सिद्धान्त बन जाता है, जोकि कुनयकी कोटिमें चला जाता क्योंकि निर्विकल्प अनुभवकी पहुंच न होने से हार मानकर पदार्थको निर्विकल्परूप मानने के लिये एक कल्पना गढ़ली कि जो कुछ दिखता वह कुछ है ही नहीं। फिर इसके आगे कोई कहता कि नहीं कुछ न कुछ पदार्थका प्रतिभास तो होता है। इसी विचारके आधारपर प्रतिभासवाद चल गया। फिर आगे बढ़कर कोई कहता कि नहीं, ज्ञानसे प्रतिभास होता है इसलिये प्रतिभास ज्ञान रूप है, जो दिखता है, वह वास्तवमें कुछ नहीं, किन्तु भान

के द्वारा प्रतिभास अवश्य होता है अतः जो कुछ है वह ज्ञान रूप है, ज्ञान न होनेसे कुछ नहीं जाना जाता, इस आधारपर ज्ञानाद्वैत चला । फिर उस ज्ञानका कोई न कोई आधार तो अवश्य होना चाहिये । ज्ञानका अधिष्ठान जो है वह ब्रह्म है । इस विचारसे ब्रह्मद्वैत चला, इसी तरह नाना कल्पनाओंके आधारपर चित्राद्वैत आदि अद्वैतवाद चलते गये, और उनसे भिन्न द्वित्वकी कल्पनाके आधार पर अनेक द्वैतवाद चल निकले, इस तरह, दृष्टिकोणकी अपेक्षा न लगाने से, नय कुनय हो जाया करते हैं, वही कुनय दृष्टिकोणकी अपेक्षासे सुनय होता है ।

अरहंत आप्तने अनेकान्त पद्धतिसे इस नयविभागको पूर्णरूपसे दिखा दिया है । तब यह अनेकान्त धर्म संसारमें, अधिक प्रचलित क्यों नहीं ? इसका उत्तर है १ कलिकालके दोष प्रभावसे २ श्रोताओं का हृदय कलुषित होनेसे और वक्ताओंको नयज्ञान न होनेसे । इसमें कलिकालका दोष कहना उपचारसे है । अनेकांत धर्म की अपरिज्ञानता, और कलुषित हृदय ये दो कारण अतरंगसे हैं । इन कारणोंको हटाकर, अनेकान्तका आश्रय लेना चाहिये । उससे तत्त्वज्ञान होगा, तब उपाय भी यथार्थ किया जायगा जिससे हमारा विकार धुलकर, हम पूर्ण सुखी, परमात्मा विशुद्ध होंगे ।

धर्म तो एक चित्प्रतिभास रूप ही है । भेदसे अधर्ममें पड़े होनेके कारण उन अधर्मोंसे बचनेका मार्ग दिखानेको धर्मके भेद कर डालने पड़े । अनादि, अनंत अहेतुक असाधारण निज चित्स्वभाव की दृष्टि और उसकोही कारण रूपसे ग्रहण करके होने वाली परिणति आत्माका हितरूप है । भैया अन्य सब तो अपने लिये विपदा है । जो समागम मिला है उसमें रहकर भी आत्महित करनेका प्रोग्राम बना डालो । आत्महित अनाकुलता है । अनाकुलता ज्ञाता द्रष्टाकी स्थितिमें है । ज्ञातृत्वस्थिति स्वभावदृष्टिसे होती है स्वभावदृष्टि स्वभाव

विभावके भेदविज्ञानसे होगी। स्वभाव निरुपाधि भावहै । स्वयं निरुपाधि है स्वतन्त्र है । द्रव्यका परिणमन भी स्वतंत्रतासे-अपनी शक्तिसे होता है । स्वयं परिणमते हुएको अन्यनिमित्त-आश्रयमात्र है, कहीं तो विषय मात्रही है कोई पदार्थ किसी पदार्थको परिणमाता नहीं है । हां परिणमने वाला द्रव्य परको निमित्त करके अपना असर प्रकट कर लेता है इतने निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे जगतके प्राणियोंको भ्रमका स्थान मिल गया है । प्राणियोंने मोहवश बाह्य पदार्थको विषयकरके बहिर्मुखी दृष्टिमें अपना काल बिता डाला और क्लेशही क्लेशका पात्र रहा मित्रो अब तो अपने निरपेक्षमित्रको और पहिचानो सातादिपरिणामरूप ठगियोंको धोखा जानकर अपने उपेक्षास्वभावमें रहो। सर्व ओरसे दृष्टि हटाकर अपने विश्रमको पा ।

यदि सारभूत और हितरूप कोई वस्तु है तो वह है निरुपाधि स्थिति (स्वाभाविक दशा), वह मिलती कैसे है ? दृष्टिको उस ओर करनेसे । उसकेलिये बाहिर कुछ नहीं करना है, भीतरकी मिथ्यादृष्टि को बदल सम्यक करनेकी केवल जरूरत है । इसकेलिये चिरकालीन मिथ्या संस्कारोंको बदलनेकेलिये व्रत संयम आदि पालनेकी भी आवश्यकता है । वह संयम पालने नहीं पड़ता पलजाता है; जब असयमसे निवृत्तिरूप परिणाम हो जाते हैं तब संयमरूपप्रवृत्ति स्वयमेव होजाती है । जब अशुद्ध भोजन करनेसे निवृत्तिरूप परिणाम हुए तो शुद्धभोजन करनेरूप प्रवृति होती ही है । इस बाह्य शुभप्रवृतिको लोग जो धर्म मान लेते हैं वह उनका बिल्कुल ऊपरी ख्याल है, धर्मकी परख भीतरसे होती है । बाह्य क्रिया-देखकर भीतर का अनुमान तो अवश्य लगाया जा सकता है । हां तो जो साधने योग्य निरुपाधि दृष्टि है वह होगी स्वभाव और विभावको जाननेसे । यह निजहै यह पर है इसको जाननेसे स्वभाव और विभाव जाना जायेगा । उसमें यह भी जाना जयगा कि यह हेय है, यह उपादेय है । ऐसा

हेयोपादेयका विवेक करनेसे, स्वभाव विभावका पता पड़ जायेगा। हेयोपादेयका ज्ञान वस्तुका स्वरूप जाननेसे होगा। वस्तु स्वरूपका ज्ञान वस्तुकी परीक्षा करनेसे होगा। परीक्षा प्रमाणसे होती है। प्रमाण के २ अंश हैं १ निश्चय और २ व्यवहार। व्यवहार भेद करके पदार्थ को जाननेमें केवल सहकारी है इतनीही उसकी सार्थकता है, लेकिन वह दोपर या दोके सँयोगसे होनेवाली दशापर दृष्टि रखता है इसलिये वह भला नहीं है, उसकी उपादेयता इतनी ही है कि उससे समझ लिया कि यह पदार्थ संयोगी अवस्थामें, विकारी अवस्थामें ऐसा है, फिर इसके आगे पदार्थ असंयोगी है। केवल उस पदार्थ की लक्ष्मीको जाननेके लिये वह समर्थ नहीं सो हेय है। उस एकको दिखानेवाला निश्चयनय है, उसके भी ३ भेद हैं जिसमें १ भेद तो अशुद्धनिश्चयनय है वह भी विकारी दशाका ज्ञान करता है, लेकिन उसकी दृष्टि दोकी न रहकर एक उसी पदार्थकी रहती है। जैसे आत्मामें राग द्वेष कर्मके निमित्तसे हैं यह व्यवहारकी दृष्टि है क्योंकि उसमें वैभाविकदशाप्राप्त वस्तुकी और आत्माकी विभाव दशा करनेमें निमित्त कर्म इन दोनोंके ऊपर उसको ध्यान है। लेकिन जब संयोगी कर्मका विचार न हो केवल आत्माकी अशुद्ध अवस्थाके विचार हो वहां १ को विषय करनेमें वह अशुद्ध निश्चयनय कहलायेगा। निश्चयनयका जो दूसरा भेद शुद्ध निश्चयनय है, वह पदार्थकी शुद्ध अवस्थाको मुख्यकर उसके भावपर दृष्टि डालता है। जैसे सिद्धप्रभु अनंत ज्ञानमय हैं। और परमशुद्ध निश्चयनयमें स्वभावकी दशाका भी ध्यान छूटकर द्रव्यको मुख्यतासे जानता रहता है। इस परमशुद्ध निश्चयनयको भी गौणकरके जीव जब अर्थानुभवमें पहुंच जाता है तब उसको निराकुल आत्माका अनुभव होता है। वही निराकुल दशा वास्तविक शांतिकी दशा है और वही सुख भी है। इस तरह निश्चयनयों के द्वारा पदार्थका स्वरूप दिखाया गया है, अब व्यवहार नयको

दिखाते हैं।

व्यवहारश्चैकादशधा ॥१८॥

व्यवहारनय ११ प्रकारसे है। प्रथम तो प्रकार ही व्यवहार है। निश्चयका विवरण भी व्यवहारसे ही होता है। अतः विभाव पर-सम्बन्ध, भेद व विवरणकी अपेक्षासे ये सब प्रकार हो जाते हैं। वे ग्यारह प्रकार ये हैं

आश्रयनिमित्तोभयसम्बन्धका उपचरितानुपचरितासद्भूत-सद्भूतव्यवहाराः अशुद्धशुद्धपरमशुद्धनिरपेक्षशुद्धनिरूपकाश्चेति ॥१९॥

व्यवहारके ११ प्रकार हैं:—१आश्रय सम्बन्धी व्यवहार २ निमित्तवाला व्यवहार ३ उभयसम्बन्धवाला व्यवहार ४ उपचरित असद्भूत व्यवहारनय ५ अनुपचरितअसद्भूत व्यवहारनय ६ उपचरितसद्भूत व्यवहारनय ७ अनुपचरितसद्भूत व्यवहारनय ८ अशुद्धनिश्चयनय निरूपक व्यवहारनय ९ शुद्धनिश्चयनयनिरूपक व्यवहारनय १० परम शुद्धनिश्चयनयनिरूपक व्यवहारनय और ११ निरपेक्षशुद्धनिरूपक व्यवहार

अब आश्रयसम्बन्धक व्यवहार को कहते हैं,

धनगृहचित्रादयो रागादेराश्रयाः ॥२०॥

आश्रयसम्बन्धी व्यवहारनय वह है जो कार्यको सिद्धिमें आश्रय-रूप कारणको कहे, किन्तु उस आश्रयभूत पदार्थका कार्यनिष्पत्तिमें कोई अन्वय व्यक्तिके नहीं घटता हो जैसे:—पुत्र, स्त्री घर और धनादि को रागादिका कारण कहना। धन गृह परिवार आदि अचेतन पदार्थों में ऐसा नियम नहीं है कि इस अमुक वस्तुके होनेपर ही राग हो न होनेपर न हो। किन्तु रागोत्पत्तिमें कर्म निमित्त है सो कर्मको निमित्तमात्र पाकर होनेवाले रागको अपने स्वरूपके निर्माणमें किसी भी

पर वस्तुका लक्ष्य आवश्यक है वहां जो लक्ष्य या ध्येय हो जाता है वही आश्रय हो जाता है। उसका कोई प्रकारका सम्बन्ध माना जा-सकता है तो मात्र आश्रयसम्बन्धव्यवहार। आश्रयसम्बन्धव्यवहार अत्यन्ताभाववाले भिन्न पदार्थोंमें ही होता है उसे इस सम्बन्धमें भिन्न ही बताया गया है। यहां यह फलितबात जानना कि बाह्य पदार्थके होते हुए क्रोधादि होंभी और न भी हों। बाह्य पदार्थका देखना हमारे क्रोध उत्पन्न होनेमें नियामक नहीं है अतः बाह्य पदार्थ राग द्वेषदिके लिये सब मात्र आश्रय है, हां इतनी बात अवश्य है कि यदि क्रोधादि होंगे तो वे कुछ न कुछ आश्रयको लेकर अर्थात् किसी भी बाह्यकी दृष्टि रहनेपर होंगे। रागादिका कोई विषय अवश्य पड़ेगा। जैसे मैं चौकी पर बैठा हूं, तो मेरे बैठनेमें चौकी निमित्त नहीं आश्रय है, क्योंकि' उसपर मेरे बैठनेकी नियामकता सिद्ध नहीं होती इसी तरह पुत्र पिताके मोहका आश्रय है क्योंकि पुत्रके रहते हुए भी पिता मोह न करे तो मोह नहीं होगा यदि करे तो हो भी सकता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि चीज सामने न हो और उसका स्मरण हो जाय, उस स्मरणसे यह भी हो सकता है कि राग द्वेषादि हो जावे, जैसे इस समय आपके सामने दुकान-दारीकी कोई चीज सामने नहीं है फिर भी उसका स्मरण होनेसे उसमें रागादि हो सकते हैं। अतः अपनेसे भिन्न जो पदार्थ हैं वे सब कोई आश्रय हैं रूप हैं और कोई निमित्तरूप, निमित्तरूप तो मात्र एक क्षेत्रावगाही कर्म हैं। जैसे एक आदमी अपने घरसे बाहिर धन कमानेको गया, उसीं समय उसके घर पुत्रोत्पत्ति हुई। उस व्यक्तिको परदेशमें गये १४ वर्ष हो गये यहां उसका लड़का भी १४ का हो गया। मां ने लड़केसे कहा कि बेटा जहां तेरे पिताजी हैं वहां तू स्वयं जा और उन्हें लेआ। मांकी आज्ञानुसार पुत्र पिताको लिवाने के लिये रवाना हो गया। उधर उसके पिताने भी सोचा कि १४

वर्षका बहुत लम्बा समय परदेशमें हो गया है अब घर चलना चाहिये ऐसा विचार वह भी घरके लिये रवाना हुआ। रास्तेमें एक जगह धर्मशालामें वह ठहरा और पुत्र भी आकर वहीं ठहरा हुआ था। पुत्र को कै और दस्त लगने लगे, पिताने उससे घृणा की और धर्मशालाके प्रबन्धकसे उसे धर्मशालासे हटा देनेकी कोशिश की क्योंकि उसे नहीं मालूम थाकि यह मेरा लड़का है, चूंकि उसके जन्मकालसे ही वह बाहिर निकला हुआ था, अतः पुत्र भी सूरतसे पिताको नहीं पहचान सका। आखिरमें पुत्रका वहां देहान्त हो गया। पिता जब घरमें आया तब उसकी स्त्रीने पूंछा बेटा नहीं मिला रास्तेमें, तुम्हारे लेने के लिये भेजा था उसे ? उसने उत्तर दिया नहीं। तब पिता उसको खोजने के लिये निकला। रास्तेकी उसी धर्मशालामें तलाश किया तो मालूम हुआ कि अमुक स्थानका एक लड़का यहाँ ठहरा था। तब पिता पूंछता है फिर वह कहां गया ? उत्तरमें मालूम होता है, उसे हैजाका रोग हो गया, उसकी दवा दारू नहीं होसकी यहां तक कि उसके पासमें एक आदमी ठहरा था उसने उससे घृणा की और उसने उसे अन्यत्र हटानेकी कोशिश की अंतमें उसका देहान्त हो गया। मरनेका नाम सुनते ही वह बेहोश हो गया अब विचारिये उसे वह लड़का पहिले मिला भी था और अब तो केवल उसका स्मरण ही है। उस समय उसकेप्रति अनुराग या दया नहीं आई और अब राग चरम सीमापर है, देखो पुत्र दोनों समयमें है पहिले तो वह अर्थपुत्र था परन्तु सेठजी ने उसे आश्रयरूप नहीं बनाया था। अब अर्थपुत्र तो नहीं है परन्तु ज्ञानपुत्र अर्थात् ज्ञानमें आया हुआ पुत्र है उसका ध्यान-ख्याल मात्र है यहां पुत्र आश्रय बन गया अतः वह आश्रय कहलाया। इससे स्पष्ट शिक्षा मिलती है कि जगतके प्राणी आश्रयभूत पदार्थोंपर अपना झुकाव न डालें तो उनके उन सम्बन्धी राग द्वेषादि विकल्प न होंगे। जगतके जितने भी पदार्थ तथा काका मामा आदि सम्बन्धित पदार्थ

हैं वे सब जीवके लिये आश्रय हैं उनके होनेपरभी प्राणी रागद्वेषादि करे या न करे कोई नियमकी बात नहीं है। इस तरह वह व्यवहारका जो पहिला भेद है उस आश्रय सम्बन्धि व्यवहारका निरुपण हुआ। जो इनको अपने विभावोंका आश्रय बनाता है उसका संसार बढ़ता है। अब व्यवहारके द्वितीय प्रकारको कहते हैं।

द्रव्यकर्म निमित्तम् ॥२१॥

व्यवहारका दूसरा भेद निमित्त सम्बन्धरूप व्यवहार है। वह द्रव्य कर्मरूप है, उसके उदयमें जीवके परिणाम उस तरहके हो जाते हैं, उसके अनुदयमें वैसे परिणाम नहीं होते। अथवा भावकर्म भी निमित्तसम्बन्धी व्यवहार है क्योंकि उसके होनेपर द्रव्यकर्मोंका आश्रव अवश्यंभावी लेता है। अतः जिनके मिलनेपर दूसरे पदार्थ में उस प्रकारका परिणमन होजाता है उसका सम्बन्ध बताना निमित्त सम्बन्धी व्यवहार हैं। नैमित्तिक भाव भी व्यवहारनयका विषय है।

यह निमित्तसम्बन्धक व्यवहार भी अत्यन्तभाववाले भिन्न पदार्थमें है, किन्तु यह आत्माके प्रदेशोंके क्षेत्रमें अपने क्षेत्रसे रहरहा है। जब कर्मका विपाककाल होता है तब यह आत्मा अपनी योग्यतासे विभावरूप परिणमता है। कहीं कर्म अपनी परिणतिसे आत्माको नहीं परिणमाता, और न आत्मा अपनी परिणतिसे कर्म वर्गणावोंको परिणमाता, मात्र ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जब आत्मामें कषायभाव होता है तबही कर्मस्कन्धों का कर्मरुप परिणमन होता है तथा उन बद्ध कर्मोके उदयकालमें आत्माका कषायरूप परिणमन होता है। यहां इतना विशेष जानना कि कषायभावके काल में कर्मपरिणमन होता है परन्तु कर्मोदयके कालमें उसके अनुरूप आत्मा कदाचित् कषायभावको नहीं भी करता है और ऐसे प्रसंगोंमें वह उदय अथवा उदीरण उदयाभावी क्षय तथा निर्जराके नामसे प्रसिद्ध है। यह सब सम्यग्ज्ञानके अनुभवका प्रसाद है। यहां फलित बात

यह जानना कि निमित्तसम्बन्धक व्यवहार भी अत्यन्ताभाववाले परद्रव्य के साथ अनुमन है। इस प्रकार निमित्तसम्बन्धक व्यवहारका संक्षेपमें विवरण हुआ। अब उभय सम्बन्धकव्यवहारके विषयमें कहते हैं।

नोकर्मोभयम् ॥२२॥

३ उभयसम्बन्धक व्यवहारनय वह है जो कथंचित् आश्रय और कथंचित् निमित्तरूप व्यवहारका विषय करे। जैसे शरीर नोकर्म। यहां नो कर्ममें केवल शरीरका ग्रहण किया है। क्योंकि विभाव पैदा होनेमें अन्य पर वस्तुओंकी अपेक्षा शरीर विशेष कारण है इसलिये निमित्तरूप है और आश्रय इसलिये कहा जा सकता है कि विभाव पैदा होनेमें द्रव्यकर्म जैसा अन्वय व्यतिरेक इसमें नहीं घटता। जैसे:—एक स्त्री का चित्र है, और एक स्वयं स्त्री है। चित्रमें केवल स्त्रीकी आकृति है उसमें बोलने, चालने और हाव भाव दिखानेकी हरकत नहीं है लेकिन साक्षात् स्त्रीमें आकृतिके साथ हरकत भी है उसी तरह अन्य परपदार्थ विभाव पैदा होनेमें अति उदासीनरूप कारण है, जबकि शरीर विभाव पैदा होनेमें विशेष कारणरूप है। यों तो निमित्त अपनी परिणतिमें रहता और नैमितिक अपनी परिणतिमें किन्तु एक दूसरेमें कार्यकारणपना भी व्यवहारसे कहा जा सकता है। निमित्त की प्रधानताकी विवक्षासे। यह शरीर ४ प्रकारका है १ औदारिक २ वैक्रियक, ३ आहारक, ४ तैजस। इनमें तैजस शरीर तो विद्युत् के समान आश्रयस्थ है व आहारक शरीर अदृश्य है। जीवोंको अहं-प्रत्ययका भ्रमरूप आश्रयभूत औदारिक और वैक्रियक शरीर है। ये विभावके आश्रय अन्यपदार्थोंसे विशेष है। अन्य आश्रयोंमें आत्मा एक क्षेत्रावगाही नहीं है, किन्तु शरीरमें आत्मा जीवनकालमें बद्ध है, एक-क्षेत्रावगाही है। तथापि शरीर आहारवर्गणाओंका पुञ्ज जड़ पौद्गलिक है और आत्मा चैतन्यात्मक सारभूत समय तत्त्व है। शरीर भी आश्रय निमित्तोंकी भांति आत्मासे पृथक् अत्यन्ताभाववाला विजातीय

द्रव्य है, इसे अपना मानना मिथ्यात्व है । शरीर दृष्टिका मिथ्यात्व तो स्थूल ही है उस दृष्टिमें तो स्वरूपलीनताका तो कोई अवसर ही नहीं, परंच आत्माकी भी किसी परिणति या दृष्टि रखनेमें भी स्वरूप निश्चलता होती नहीं है । किसी भी पर और परभाव अथवा परिणतिमात्रपर किया हुआ लक्ष्य शांतिका उपाय नहीं है । अतः आश्रयभूत निमित्तभूत अथवा कथंचित् उभयरूप समस्त परपदार्थोंमें हित एवं आत्मीयबुद्धिको छोड़कर समस्त इतर पदार्थोंसे पृथक् निजके एकत्वरूप ध्रुव स्वमें आस्था कर निजको निज परको पर जान । यही अब शान्तिका उपाय बनेगा

अब क्रमप्राप्त उपचरित असद्भूतका कुछ वर्णन करते हैं:—

बुद्धिगा रागादय उपचरितासद्भूताः ॥२३॥

बुद्धिमें आये हुये राग आदिक उपचरित असद्भूत व्यवहारनयके विषय हैं राग द्वेषादि आत्माके स्वभाव नहीं हैं, इसलिये असद्भूत हैं, और वे आत्माके स्वभावमें न होकर पर निमित्तसे होनेपर भी उनको आत्माके कहे जा रहे हैं इसलिये उपचरित है । उप-समीपे चरतीति—उपचारः । अर्थात जो समीपमें चले उसे उपचार कहते हैं, उपचार को जो प्राप्त हो सो उपचरित है । व्यवहार इसलिये है कि कर्मके निमित्तसे उनका कथन है ।

कहीं कहीं घीका घड़ा कहना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय कहा है, लेकिन कहीं कहीं इसको व्यवहाराभास भी कहा है । क्योंकि ऐसा कथन सर्वथा उपचरित है, आध्यात्मिक चर्चामें ऐसा कथन किसी भी व्यवहारनयमें शामिल नहीं किया जा सकता । वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका भी विषय नहीं है तो फिर आगेके भेदोंमें तो उसको कैसा लिया जा सकता है ? क्योंकि पदार्थ अत्यन्त स्थूल दृष्टिसे कहनेवाला यही उपचरित असद्भूत व्यवहारनय, है इसके आगे अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय, उपचरित

सद्भूत व्यवहारनय और अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय अधिक अधिक सूक्ष्मतासे पदार्थको विषय करने वाले व्यवहारनय हैं

उपचरित असद्भूत व्यवहारनयके दृष्टान्तमें तीनों शब्दोंकी सार्थकता इस प्रकार है जैसे क्रोधादिक केवल जीवके स्वभावमें नहीं है पौद्गलिक कर्मके विपाकज हैं अतः उसे जीवमें बताना असद्भूत है जीवका कहना व्यवहार है। कर्मविपाकके निमित्तसे होकर भी जीवके साथ व्यवहार किया गया यह उपचरितपना है। सारांश यह है कि परके निमित्तसे होनेवाले भावोंको किसी वस्तुके बताना उपचरित असद्भूत व्यवहार है।

तेऽन्य अनुपचरितासद्भूताः ।२४॥

वे ही रागादिक जो अन्य हैं अर्थात बुद्धिपूर्वकसे विपरीत हैं अबुद्धिपूर्वक हैं वे अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयके विषय हैं। प्रश्न- वे ही रागादिक और पहिलेसे विपरीत इन दोनोंमें परस्पर विरोध है, यदि वे ही हैं तो विपरीत कैसे? उत्तरः—जातिकी अपेक्षा रागादिक "वे ही" इस शब्दसे कहे गये हैं अर्थात् रागादिभाव जो बुद्धिगम्य नहीं है उसे यहां विषय किया गया है। वस्तुतः तो रागादि विभाव- पर्यायोंमें वे ही कहना अयुक्त ही है क्योंकि रागादि क्षणिकपर्याय है। कहीं ऐसा नहीं है कि जो बुद्धिपूर्वक रागादि थे वे ही यहां अबुद्धि- पूर्वक हैं। सारांश यह है कि अनुपरित असद्भूत व्यवहारनय— पदार्थकी जो विकारी पर्याय बुद्धिपूर्वक न हो अबुद्धिपूर्वक हो उसे उस द्रव्यका कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे अबुद्धि- गम्य रागादि परिणामोंको आत्माके कहना। रागादि आत्माके स्वभाव भाव नहीं इसलिये तो असद्भूत है, और उपचारके लिये बुद्धिग्राह्य नहीं इसलिये अनुपचरित हैं अतः अबुद्धिपूर्वकदशामें होनेवाले रागादिको आत्माके जानना सो अनुपचरित असद्भूतव्यवहार- नय है।

मतिज्ञानादय उपचरितसद्भूताः ॥२५॥

मतिज्ञान आदि उपचरितसद्भूतव्यवहारनयके विषय हैं। अर्थात् आत्मा तो त्रैकालिक अखन्ड है उसके अपेक्षावोंसे व पर्यायोंसे यहां भेद करनेसे यहां यथार्थ वस्तुका प्रतिपादन नहीं होता है। फिरभी इनके स्रातकी कुछ दिशा मिलती है। अथवा उपचरित सद्भूतव्यवहानय—परके निमित्तसे पदार्थमें अंशरुप कल्पना करना, उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है। जैसे:—जीवके, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञान कहना यहां केवलज्ञान भी इस नयका विषय होता है क्योंकि वह भी भेद है। यद्यपि मतिज्ञानादि जीवके हैं इसलिये सद्भुन हैं, फिर भी कर्मके क्षयोपशमरुप निमित्तसे पूर्ण ज्ञानमें अंशरुप उपचार किया इसलिये उपचरित हैं। (ज्ञान स्वयं विभावरुप नहीं होता वह मिथ्या-त्वके कारणसे मिथ्याज्ञान नाम पाता है) और भेदरुप कथन होनेसे अथवा स्वस्वामी सम्बन्धसे व्यवहार है अतः मतिज्ञानादि जीवके कहना उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय है। केवल ज्ञान कर्मके क्षय से उत्पन्न हुआ और उससे पूर्ण आत्माको बताया जा रहा है यह उपचरित है तथा स्वाभाविक विकास है सो सद्भूत है किन्तु पर्याय अपेक्षासे भेद किया सो व्यवहार है।

ज्ञानं गुण इत्यादिरनुपचरितसद्भूतः ॥२६॥

ज्ञान गुण है इत्यादिरुपसे शक्ति प्रदर्शन करना अनुपचरित-सद्भूत व्यवहारनय है। अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय—जो नय उपचाररहित पदार्थकी सद्भूत पर्यायको ग्रहण करे उसे कहते हैं अथवा जिस पदार्थमें जो गुण है उसे विशेषकी अपेक्षा रहित सामान्य रीतिसे उसीका कहना अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है। जैसे:—ज्ञानगुण आत्माका है, या केवलज्ञान आत्माका है। ऐसा कहना। ज्ञानगुण आत्माका स्वभाव है, इसलिये सद्भूत है और उसमें उपचार नहीं है इसलिये अनुपचरित है फिर भी भेदरुप कथन करनेसे व्यवहार है

इसलिये ज्ञान गुण आत्माका है। ऐसा कहना अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनयका विषय है। अब अशुद्धनिश्चयप्ररूपक आदि व्यवहारनयों को कहते हैं।

उक्तानामशुद्धनिश्चयादीनां प्ररूपणाश्च व्यवहाराः ॥२७॥

पहले निश्चयके प्रकरणमें कहे गये अशुद्धनिश्चय आदिकी प्ररूपणा करना तत्तद्विषयक व्यवहार है। प्रश्न—निरपेक्षशुद्धनिश्चयनयका वर्णन तो हुआ नहीं है फिर उसकी प्ररूपणा रुप व्यवहार कैसे होगा? उत्तर—निरपेक्षशुद्धनयका यद्यपि पृथक्से वर्णन नहीं किया है तथापि परमशुद्धनिश्चयनयही जब अपना लक्ष्यगौण छोड़ देता है और अनुभवात्मक होता है तब वही निरपेक्ष शुद्धनिश्चयनय कहलाता है इसका विषय परमशुद्धनिश्चयनयसे पृथक् नहीं है किन्तु भाव शैली का अन्तर है अतः निश्चयनयके प्रकरणमें इसे पृथक् नहीं कहा किन्तु इसका वर्णन अशक्य होनेपर भी संक्षिप्त शब्द तो कहनेमें आते ही हैं इसलिये निरपेक्षशुद्धनिश्चयनयनिरुपक व्यवहारका यहां प्रकार बताया है। अब इन चारों निरुपक व्यवहारोंका क्रमशः संकेत करते हैं अशुद्धनिश्चयनय प्ररुपक व्यवहारनय—अशुद्ध निश्चयनयका प्ररुपण करने को कहते हैं। शुद्धनिश्चयनय प्ररुपक व्यवहानय—शुद्धनिश्चयनयका प्ररुपण करनेको कहते हैं परमशुद्धनिश्चयनयनिरुपकव्यवहानय परमशुद्ध-निश्चयनयके विषयभूत पदार्थका निरुपण करनेको कहते हैं। निरपेक्ष-शुद्धप्ररुपकव्यवहारनय—निर्विकल्प वस्तुके शुद्धस्वरुपको अपेक्षावोंके निषेधपूर्वक कहनेको कहते हैं अब और भी प्रकारसे नयोंका संकेत करते हैं

सूत्रः—अन्याश्च यावत्यो दृष्टयस्तावन्तो नयाः ॥२८॥

नयके इतने ही भेद नहीं किन्तु जितनी दृष्टियां हैं वा बचन हैं, वे सब कोई न कोई नयके विषयभूत होनेसे नय हैं। इस तरह नयोंकी

संख्या अपार है और यहां तक कि संख्यातीत नय हैं। क्योंकि दृष्टि और वचन भी संख्यातीत हैं। यहां पर निरपेक्षशुद्धप्ररूपकव्यवहारनय का कुछ पुनः स्पष्टीकरण करते हैं —

आत्माके बाह्य अत्यन्ताभावरूप पदार्थों या पर्यायोंसे तथा अन्योन्याभावरूप पदार्थ पर्यायोंसे भिन्न आत्माके शुद्धनिर्विकल्प अनुभवको विषय करनेका निरूपण—निरपेक्ष शुद्धनिरूपकव्यवहारमें होता है। वह क्रमसे आत्माके, रागादिभावोंको, मतिज्ञानादिको, केवलज्ञानादिको जोकि क्रमशः अशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय के विषय हैं, उनका निषेध करता हुआ आत्माके शुद्ध सामान्य निर्विकल्परूप अनुभवका प्ररूपण करता है यद्यपि यह तत्त्व अवक्तव्य है तथापि अवक्तव्यके बारे में भी तो कोई शब्द संकेत करते ही हैं। नयोंके विषयमें स्पष्टीकरण केलिये और भी कुछ यहां दुहराया जाता है।

णीञ् प्रापणे 'धातुसे' नयती तिनीयः अर्थात् जो ले जाय सो नय, यहां एक दृष्टिसे दूसरी दृष्टिको लेजानेकी विवक्षा है अतः जो अन्य दृष्टिके संस्कार रहते हुए (गौण) दूसरी दृष्टिका ज्ञान करावे उसे नय कहते हैं। अथवा जो प्रमाण स्वरूप वस्तुतक ले जाय। (अंश कल्पनाके ज्ञानसे) उसे नय कहते हैं नयोंके आशय विभिन्न हैं। एक जगह टिकनेवाला नय निषेधात्मक निश्चयनय है। अन्य प्रकारसे निश्चयनय तो अधिक अन्तरंगदृष्टि मिलनेपर व्यवहार हो जाता है वहां अपूर्व दृष्टि प्रधान होनेपर दूसरी दृष्टि गौण हो जाती है। उपर्युक्त ११ प्रकारके व्यवहारनयोंमें ७ तो व्यवहार ही हैं और ४ निश्चयका वर्णन करनेसे व्यवहार बने हैं। इस अपेक्षासे व्यवहारनयके २ भेद हुए। १ भेदरूप ज्ञान करानेवाला और २ निश्चयनयका वर्णन करनेवाला निश्चयनयका जब वर्णन किया जाता है, तो वह प्ररूपण, भेदरूपसे वर्णन करनेवाला होनेसे व्यवहारनयका विषय हो जाता है। उसको क्रमशः विचारिये। जैसे—कहा गया कि यह राग अन्य आश्रयके शरीर

के आश्रयसे हुआ; है, यह व्यवहारसे कहना हुआ क्योंकि परके आश्रय से रागादिका होना कहा गया है किन्तु परसे हुए नहीं हैं। तो फिर सोचें कि क्या कर्मके निमित्तसे हुए ? सो भी नहीं। कर्म और जीव विजातीय वस्तुएं हैं, दोनोंको एक मेलमें थोपना ठीक नहीं। तब रागादि अपनी विभाव परिणतिसे स्वय उसमें हुए ऐसा कहा जाय सो भी नहीं, वह विभाव है उसीका है फिर भी परसंयोग अथवा निमित्त आश्रय पाये बिना होने वाला नहीं है। तब क्या मतिज्ञानादि आत्माके हैं सो भी नहीं क्योंकिवेजीवके स्वभावभाव होनेपर भी क्षणिक हैं, पर्याय हैं, कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षासे हैं। अतः मतिज्ञानादिरूप भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। इतने आपेक्षिकभावोंसे निवृत्त होने के बाद अब प्रश्न होता है कि फिर क्या आत्मा केवल ज्ञानादि पूर्ण स्वभावविकासरूप है ? उत्तर—नहीं क्योंकि आत्मा अनादि अनन्त ध्रुव एकत्वगत है, केवलज्ञान स्थूलतया सादि अनन्त और यथार्थतया प्रति क्षणवर्ती पर्याय है। हां यह बात अवश्य है कि वह विकासस्वभाव के अनुरूप है। तो क्या सामान्य ज्ञानगुणको आत्मा कहा जाय ? नहीं, जिस तरह जोड़ व्यवहार है उसी तरह तोड़ भी व्यवहार है। केवल एक ज्ञानघनकी दृष्टि भी सामान्यसत् में विकल्प करके भेद करता है, इसलिये वह व्यवहार है भूतार्थ नहीं। उस ज्ञान गुणके विकल्पको छोड़कर समग्र द्रव्यपर दृष्टिपात करो। वह द्रव्य चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध पर्यायपर इस भावमें दृष्टि नहीं। अतः इस प्रकरणमें पर्याय कल्पनामात्र ही अशुद्धि है इस प्रकारकी सर्व अशुद्धिको दूर कर तथा गुणभेदरूप अशुद्धिको भी हटाकर शुद्ध द्रव्य देखो। ऐसे शुद्ध द्रव्यको देखना परम शुद्धनिश्चयनय हुआ। तब कहते हैं यह भीविकल्प है उस सामान्य—चित् सत्की भी कल्पना छोड़कर निर्विकल्प—चिद् अनुभव करना निरपेक्ष शुद्ध विषय होता है लेकिन उसके प्ररूपणमें विधिरूप विकल्प होनेसे वह व्यवहार होगा और

तत्त्व निषेधरूपसे प्राप्त होगा ! सत्यनयके आश्रयभूत उत्तरोत्तर सब विधि विवक्षाओंका निषेध करते करते जो अनुभव होता है वस्तुतः वह निरपेक्ष निश्चयनय है। यहां निरपेक्ष शुद्धकी संगति अनुभवसे है। नयसे नहीं तब फिर करना क्या चाहिये ? उपयोगमें एक चित् स्वभावका अनुभव करना चाचिये। जब उस चिद्नुभवकी दशासे च्युत हो जाय व्यवहार, गृह कुटुम्बादिके संरक्षणमें लगाना पड़े तो उसमें उदासीन रहे, उनको अपने व अपने हितके कार्य न माने। सम्बन्धको सम्बन्ध माने, सम्बन्ध अर्थात् अच्छी तरहसे बांधनेवाले जकड़नेवाले समझें। संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, पतिपत्नीके, पितापुत्रके बन्धुमित्रके; धन, धनवानके और शरीर शरीरआदिके वे सारे सम्बन्ध आत्माको जकड़ने वाले हैं क्योंकि वे निमित्त अध्यवसानके हैं। भगवानकी सभा में द्वादशांगवाणीका तत्त्वलाभ हो रहा है, वहां भी वह सम्बन्ध आत्मा के स्वानुभावकार्यमें, उस समय बाधकरूप है। तब फिर संसारके अन्य सम्बन्धोंकी तो चर्चाही क्या ? ऐसा जानकर आत्माकी परिणति-को उत्तरोत्तर—निर्विकल्प—वीतराग विज्ञानरूप आत्माके अनुभवमें लगावे, ऐसे अनुभवके बलपर रागद्वेषादिका सँसारछूट पूर्ण शुद्ध सिद्धदशा प्रगट होगी।

यह दशा प्रगट करनेकेलिये प्रमाण और उनके अंश रुप नयोंका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है। क्योंकि नयोंके जाने बिना प्रमाण और प्रमाणके जाने बिना वस्तुको नहीं समझा जासकता। नयको समझनेकेलिसे यह बात ध्यान में खूब अच्छी तरह जमा लेना चाहिये कि जिस नयका जिस समय वर्णन हो अन्य दृष्टियोंको (नयोंको) गौण कर प्रधानतासे उसीको देखे। साथ साथ उस विवक्षित दृष्टिकोणको घटित करनेका पूरा ध्यान होना चाहिये। जैसे-जब निश्चयके द्वारा पदार्थको जान रहे हो उस समय व्यवहारके छूट जानेका भय मत करो। उस समय विचारो कि अभी हम निश्चयकी दृष्टिसे विचार कर

रहे हैं। और जब व्यवहारको दृष्टिसे विचार रहे हों तो सोचो कि निश्चय क्या कहता है इसको पीछे विचारेंगे अभी इस दृष्टिकोणसे पदार्थ कैसा है इसे विचार लें। इस तरहका अभ्यास जब पक्का हो जायगा, तब निश्चयके साथ व्यवहार और व्यवहारके साथ निश्चय का ध्यान आना उचित है फिर विकल्पोंको भी पार कर निश्चय की ही प्रधानतासे पदार्थको देखो और फिर निश्चयनयके पक्षका भी त्याग करके सर्वांशग्राहक प्रमाणरुप ज्ञानके द्वारा वस्तुको देखो। पुनः उस विकल्पसे भी हटकर अर्थानुभवकी दशामें पहुंचने की चेष्टा करो, चेष्टा क्या करो वह होवेगा स्वयं सहज। इस तरह प्रमाण नयोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञात होनेवाला उपादेय तत्त्व प्राप्त होगा। अनन्तकालसे चली आ रही विभाव परिणति दूर हो स्वभाव दशा-पूर्णशुद्ध दशा प्राप्त होगी। नयोंकी विवेचना अनेक प्रकारसे है नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय समभिरुढ, एवंभूत इस प्रकार सात नय हैं। इन्हींमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक मिला देनेसे ९ नय होते हैं। अथवा द्रव्यार्थिकके १० भेद और पर्यायार्थिकके ६ भेद इस तरह १६ नय हैं वे इस प्रकार हैं–१ उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक, २ उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक, ३ भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक, ४ उपाधिसापेक्ष-अशुद्धद्रव्यार्थिक, ५ उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक, ६ भेदकल्पना-सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक, ७ अन्वयद्रव्यार्थिक, ८ स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक, ९ परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक, १० परमभावग्राहकद्रव्यार्थिक, ११ अनादिनित्यपर्यायार्थिक, १२ सादिनित्यपर्यायार्थिक, १३ सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक पर्यायार्थिक, १४ सत्तासापेक्ष नित्याशुद्धपर्यायार्थिक, १५ उपाधिनिरपेक्ष नित्यशुद्ध पर्यायार्थिक, १६ उपाधिसापेक्ष अनित्याशुद्ध पर्यायार्थिक।

नैगमादि ७ नयोंके मूलसान्निपातिक प्रकार २१ होते हैं–जैसे

नैगमके संग्रहादि ६ के साथ ६ । संग्रहके व्यवहारादि ५के साथ ५। व्यवहारके ऋजुसूत्रादि ४ के साथ ४। ऋजुसूत्रके शब्दादिके ३ के साथ ३। शब्दनयके शेष २के साथ २ समभिरूढएवंभूत १। नैगमनयके ६, संग्रहके २, व्यवहारके २, ऋजुसूत्रके २, व शेष ६-१-१ इस तरह उत्तर भेद २३ होते हैं इनके सान्निपातिकभंग १२६+२४+२०+१४+१२+१=१९७ कुल होते हैं। इनके अतिरिक्त उपनय ३ होते हैं -सद्भूतव्यवहार असद्भूतव्यवहार व उपचरित असद्भूतव्यवहार। जिनके भेद क्रमशः-२-३-३ होते हैं १ शुद्धसद्भूतव्यवहार २ अशुद्धसद्भूतव्यवहार। १ स्वजात्यसद्भूतव्यवहार, २ विजात्यसद्भूतव्यवहार, ३ स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार। १ स्वजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार, २ विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार ३ स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार। इन उपनयोंमें कुछ तो व्यवहारनय है और शेष नयाभास हैं.। उक्त सब नयोंका यथासंभव निश्चय व्यवहारनयमें समन्वय घटा लेना चाहिये।

अब नयके प्रकरणको समाप्त करनेके पहिले ॐमें उक्त व्याख्या को घटित करते हैं।

ॐके लिखनेमें ५ विभाग की आकृतियां हैं पहिली दो घुंडी वाली आकृति जो व्यवहार नयकी प्रतीक है और २- शून्य निश्चय नयका प्रतीक। शून्य जैसे आदि मध्य और अंत रहित होता निश्चय भी पदार्थ को आदि मध्य और अंतकी कल्पनारहित-जानता है। ३-दोनों आकृतियोंको डांटने वाला डंडा (सीधी लाइन) प्रमाणको बताता है, प्रमाण भी दोनों नयोंको डांटता है। नहीं तो (प्रमाणके बिना) निश्चय कहीं पड़ा रहे और व्यवहार कहीं रहे। व्यवहारसे ढड़ककर निश्चयकी चर्चामें रुकजाय तो स्वच्छन्द पापाचारी और पतित होजाय। और निश्चय से ढुड़ककर व्यवहार में पड़ जाय तो केवल क्रिया कांडमें धर्म मानकर अपनेको कृतकृत्य मानले और अपना अहित करता रहे। अन्यनिरपेक्ष सर्वथा एकान्तदृष्टि मिथ्याज्ञान है सो दोनों नयोंको सापेक्षकर

जाननेवाला प्रमाण है यहां तक ॐ इस आकृतिका अर्थ हुआ निश्चयनय, व्यवहारनय और प्रमाणसे ऊपर परे अनुभव कला है जो कि अर्द्धचन्द्राकारके प्रतीकमें है। इस अनुभवमें इस अनुभवके प्रसादसे ध्याताकी स्थिति शून्य अर्थात रागद्वेषादिसे शून्य परमात्मारूप हो जाती है। इस प्रकार नयोंके उपायसे पश्चात् अनुभवकालमें पहुंचकर परमआनन्दका परिणमन हो जाता है जो कि परमज्ञानानन्दमय अवस्था है।

अतः सर्वपर व परभावोंकी दृष्टि छोड़कर निज ध्रुवस्वभावमें लीन होऊं और अपनेमें अपनेलिये अपने आप सुखी होऊं।

— ॐ शान्ति —

इति अध्यात्मयोगी न्याय तीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी।

" श्री मत्सहजानन्द " महाराज के

लार्डगंज जबलपुरमें हुए प्रवचनोंमें प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय

इस अध्यायमें उपादान और निमित्तका वर्णन है। इनका भी परिज्ञान आवश्यक है, नहीं तो निश्चय और व्यवहारका ज्ञान संभव न होगा। इस उपादान और निमित्तके वर्णनमें पहिले भूमिका स्वरूप जीवादि द्रव्योंका कुछ वर्णन है, सो कहते हैं—

जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकाला द्रव्याणि ॥१॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये ६ द्रव्यें हैं। द्रव्य किसे कहते हैं? जिसमें १ अस्तित्व २ वस्तुत्व ३ द्रव्यत्व ४ अगुरुलघुत्व ५ प्रदेशत्व और ६ प्रमेयत्त्व ये ६ असाधारण गुण हों उसे द्रव्य कहते हैं। ये ६ असाधारण गुण प्रत्येक द्रव्यमें नियमसे पाये जाते हैं। और इनको जिस क्रमसे कहा गया है, उत्तरोत्तर उसकी सार्थकता भी है। जैसे—१ हरएक वस्तुके ज्ञानका प्रारम्भ अस्तित्व गुणसे होता है जिसका अस्तित्व ही नहीं वह चीज ही क्या? वह शून्यरूप असत् होगी। २ लेकिन केवल पदार्थका अस्तित्व ही मानकर रह जाय तो उसे जिसने जैसा माना हो वैसा पदार्थ कहलावे, किंतु वह ऐसा नहीं है। तब दूसरावस्तुत्व गुण स्वीकार करना पड़ता है। इस गुणके ग्रहण करने से इष्टका ग्रहण और अनिष्टका परिहार होता है। वस्तुत्वमें, अपनेपनका सद्भाव होता है, और दूसरेका अभाव। जैसे आपके घरमें आप ही रहें आपका ही अधिकार हो, दूसरा न रहे दूसरेका अधिकार न हो तभी आपका कहलायेगा। इसी तरह प्रत्येक द्रव्यमें अपना वस्तुत्व है कहा भी है जैसे स्वपरोपादानहानानिष्पाद्यं हि वस्तुत्वम्। ३—इतने गुण माननेपर भी यदि द्रव्यमें परिणमन न हो तो वस्तु ही क्या? परिणमन उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप है,

वह वस्तुमें चाहिये ही चाहिये, सर्वदा ध्रौव्य गुणसे सहित द्रव्य पर्याय रूप ही रहता है द्रव्यकी पर्याय उत्पाद और व्ययरूप है। द्रव्यमें यह उत्पाद और व्यय सदासे है और सदा रहेगा, अतः वस्तुका द्रव्यत्व स्वीकार किये बिना काम नहीं चलता क्योंकि जो न परिणमे वह आकाशकुसुमवत् है। ४–फिर एक द्रव्य दूसरे रूप नहीं होता एकका गुण दूसरेमें नहीं जाता यह साधारण धर्म वस्तुमें न हो तो किसी एक द्रव्यकी स्थिति नहीं रहती, या तो सब मिलके एक हो जाएं अथवा सबकी सम्मिश्रित अवस्थारूप एक विचित्र द्रव्य तैयार हो जाय जिसको हम अलग अलग किसी भी एक नामसे न कह सकेंगे। लेकिन प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंसे ६ द्रव्योंकी सत्ता अपनी अपनी अपने व्यक्तित्वसे बराबर देखी जाती है अतः अगुरुलघुत्व गुण भी वस्तु में सिद्ध हैं। इस अगुरुलघुत्वगुणके कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता और न एक द्रव्यके ही अनेक गुणोंमें कोई गुण किसी गुणरूप नहीं होता न पर्याय अन्य पर्यायरूप होती है। द्रव्यत्व गुण तो परिणमनेकी बात कहता है वह किसीको किसीरूप परिणमादे परन्तु ऐसा है नहीं, यह अगुरुलघुत्वगुणका प्रताप है। ५–इतनेपर भी द्रव्यमें आकार प्रकार न हो तो उसका सद्भाव सिद्ध नहीं होता बिना आकार प्रकारके वस्तु ही क्या अतः प्रदेशत्वगुण भी द्रव्यमें अपना स्थान बनाये हुए है। ६–इनके अतिरिक्त पदार्थ यदि प्रमेय न हो, ज्ञानका विषय भूत न हो तो भी वह अपना सद्भाव जनानेमें असमर्थ है अतः वस्तुका छटवां गुण प्रमेयत्व भी है। जो है वह सब ज्ञानमें आता ही है। ज्ञानमें न आये तो वह है ही नहीं सर्वज्ञके ज्ञानसे पृथक कुछ है ही नहीं

इस तरह छहों द्रव्यें सदासे अपने ६ सामान्य गुणोंसे विशिष्ट हैं और यह विशिष्टता उनकी हमेशा बनी ही रहेगी। द्रव्य तो यथार्थतः उतने हैं जितने कि वे एक एक स्वतंत्र सत् हैं। पदार्थका परिणमन जो

भी होता है वह अपनेमें तो पूर्णतया सर्वप्रदेशोंमें वही उसीकाल होता है और अन्य किसी भी द्रव्यमें त्रिकाल भी कभी नहीं जा सकता। अतः द्रव्य समस्त इतने हैं अनंतानंतजीव, अनंतानंतपुद्गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य और असंख्यातकाल द्रव्य। परन्तु उक्त सूत्रमें जो नामसे संकेत है वह जातिकी अपेक्षासे है। जाति अपेक्षा अपने स्वरूप शक्ति पुञ्जसे वे सब एक जातिके परस्पर समान है। प्रश्न—भव्य जीवमें भव्यत्व और अभव्यमें अभव्यत्व शक्ति अलग होनेसे जीवद्रव्यमें दोनोंका अंतर्भाव न हो सकनेसे ये दो अलग अलग द्रव्य होने चाहिये। तब कुल द्रव्योंकी संख्या ६ न होकर ७ होगी? उत्तर—भव्यत्व और अभव्यत्वकी विशेषताएं, पर्याय शक्तिकी अपेक्षासे हैं ये दोनों जीवके अनुजीवि गुण नहीं हैं।

१चेतनावान द्रव्यको जीव कहते हैं। २ जो पूरन गलनरूप हो उसे पुद्गल। ३ जीव और पुद्गलोंकेलिये उदासीनरूपसे गमन क्रियामें सहायक होनेवाला द्रव्य धर्म और ४ स्थितिमें सहायक होनेवाला द्रव्य अधर्म द्रव्य है। यहां धर्मसे वस्तुके शुद्ध स्वभाव या अधर्मसे विकारी भाव कहनेका मतलब नहीं है किन्तु यहां इस द्रव्यसे मतलब है जो उत्पद्व्ययव्य और ध्रौव्यरूप असंख्यात प्रदेशी, अखंड अनादि अहेतुक अमूर्तीक द्रव्य है। जो द्रव्योंको वा स्वयं अपनेलिये स्थान दे वह आकाश है और जो स्वयं अपनेलिये वा अन्य द्रव्योंकेलिये व्यतीत होनेमें परिणमन होनेमें सहायक हो उसे काल द्रव्य कहते हैं। जाति की अपेक्षासे द्रव्य ६ हैं व्यक्तिकी अपेक्षा जीव अक्षयानंत पुद्गलभी अनंतानंत। कालाणु असंख्यात और धर्म अधर्म तथा आकाश द्रव्य एक एक हैं। एक जीव धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके प्रदेश असंख्यात और आकाशके अनंत प्रदेश हैं। एकजीव धर्म, अधर्म और आकाश व एकअणु तथा एककाल द्रव्य अखंड हैं। अखंडकी पहिचान यह है कि जो परिणमन एक प्रदेशमें हो वही परिणमन द्रव्यके सब

प्रदेशोंमें होता है। जैसे जीवके शरीर निमित्तक भी सुख दुःखादिका अनुभव किसी एक भागमें नहीं होता प्रत्युत सबमें होता है। किसी अंगमें चोट लग जानेपर दुःखका वेदन उसी अंगवालेआत्मप्रदेशोंमें नहीं होता बल्कि शरीरका सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंमें वह अनुभव होता है रसना आदि किसी खास इन्द्रियसे होनेवाला तदिन्द्रियजन्य खास ज्ञान भी सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंमें होता है। यही कारण है कि अलोकाकाशमें स्थित आकाशप्रदेशोंके परिणमनकेलिये अलगसे कालद्रव्यकी आवश्यकता नहीं है प्रत्युत लोकाकाशमें जो कालद्रव्य अकाशद्रव्य के परिणमनमें सहकारी हैं वही अलोकाकाशके प्रदेशोंकेलिये भी। याने लोकाकाशमें जो परिणमन होगा वही परिणमन अलोकाकाशमें भी होगा, अखंड होनेसे। अखंड द्रव्यके एक प्रदेश में जो गुण होता है वही गुण सम्पूर्ण द्रव्यके प्रदेशोंमें होता है और परिणमन भी।

अन्य ५ द्रव्योंको प्रकारान्तरसे सब मतवादियोंने माना है लेकिन काल द्रव्यको किसीने नहीं माना। परन्तु वर्तना हेतुत्वसे उसका अस्तित्व मानना ही पड़ता है सेकिंड मिनट घंटा दिन आदि रूपसे समयको तो निर्विवाद सभी मानते ही हैं अन्यथा वस्तुका परिणमन असिद्ध होगा। परन्तु वह समय क्या है? द्रव्य है अथवा गुण है या पर्याय? द्रव्य गुण पर्यायसे व्यतिरिक्त कुछ तत्त्व ही नहीं, सो समय द्रव्य तो है नहीं क्योंकि वह तो नष्ट होनेवाला गुजरनेवाला है अतएव गुण भी नहीं है। पारिशेष न्यायसे वह पर्याय सिद्ध हुई। अब आगे विचारिये पर्याय जो भी होती है वह अत्यन्त भिन्नसत्ताक वस्तु नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर वह स्वयं द्रव्य हो जावेगा तब उसकी उत्पत्ति किसी द्रव्यसे होती है वही द्रव्य कालनामक द्रव्य है। ये काल द्रव्य उतने हैं जितनेकि लोकाकाशके प्रदेश अर्थात् असंख्यात हैं। यह द्रव्य स्वयंके और अन्य समस्तद्रव्यके परिणमनमें निमित्त है। वस्तुका परिणमन स्वयं अपनी शक्तिसे होता है उसमें कालद्रव्य जैसी

द्रव्यका निमित्त न माना जाय तो वस्तुका परिणमन व्यवस्थित न बनेगा और न होगा। परिणमनके बिना वस्तुका अभाव है। कालद्रव्य भी असंख्यात हैं तभी यह व्यवस्था है।

उपादान और निमित्तको समझनेकेलिये वस्तुके. साधारण और असाधारण गुण पर्याय और उसके प्रदेशोंकी अखंडता आदिको ठीक ठीक समझना आवश्यक है। उसका अनादि अनंत अहेतुकपना भी ध्यानमें रखना जरूरी है। निगोदिया जीव एक शरीरमें अनंत होने हैं व सब एक साथ ही जन्म लेते हैं और साथ साथ ही मरते हैं श्वासोच्छ्वास भी साथ साथ लेते हैं, लेकिन उन अनत जीवोंमें प्रत्येकका परिणमन अपना अपना स्वतंत्र है। यही नहीं प्रत्येक जीवके साथ लगे हुए कर्म परमाणुका व कार्माणवर्गणाके परमाणुओं मेंसे प्रत्येक परमाणुका परिणमन अपने अपने रूप रस गंध और स्पर्शकी विशेषता पूर्वक स्वतंत्र ही होता है पुद्गलमें जो बंध कहा है वह परमाणुओंमें ही समझना, स्कंधोंमें नहीं क्योंकि बंधमें स्वभावच्युति होती है वहां बंधोधिकौ परिणामिमिकौच सूत्रानुसार एक परमाणु अपने वर्तमान पर्यायको छोड़कर नये हालतको प्रकट करता है जैसेकि अधिक गुण वाले अन्य परमाणुकी है स्कंधोंमें संयोग होता है वह विशिष्ट स्थूलरूपसे स्कंधोंमें बंध मालूम पड़ता है किंतु परमाणु परमाणुका बंध होकर स्कंधरूपमें स्थूलतया मालूम पड़ने लगता है। इस तरह प्रत्येकपरमाणुकी प्रत्येक जीवकी प्रत्येक कालाणु की वा अन्य द्रव्योंकी अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। सबका अपना अपना चतुष्टय है और वह स्वयंसे है व्यवहारमें भी देखो नौकर क्या मालिकका कहना मानता ? नहीं उसके अनुसार परिणमन करता उस क स्वतंत्र परिणमन कैसे सिद्ध होगा ? यह गलत है कि नौकर मालिक के कहनेके अनुसार परिणमता है व्यवहारियोंको ऐसा दीखता है किंतु उसका परिणमन उसकी वैभाविक शक्तियोंसे स्वयं होता है। मालिक उसमें केवल निमित्त होता है। उसके परिणमनमें मालिकके सिवा

और भी अनेकों वस्तुएं निमित्त पड़ती हैं लेकिन वस्तुतः उसकापरिणमन तो उसके उपादानसे स्वयं होता है। इसी कारण अपने अपने कषाय भावोंके अनुसार संसारी जीवोंके कर्मास्रव होता है। किसीने क्रोध किया दूसरेका बुरा करनेका प्रयत्न किया तो क्रोध जो हुआ वह उसके करनेवालेसे हुआ उसका आस्रव उसके ही अनुसार होगा दूसरेका बुरा हो या न हो। दूसरेका बुरा होना उसकी परिणतिसे होना होगा तो होगा, नहीं होना होगा तो नहीं होगा। प्रत्येक द्रव्यमें चतुष्टय अपना अपना ही स्वतंत्र है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव की दृष्टियोंसे पूर्ण पहचानमें आता है। जैसे इस एक स्थूल उपचरित दृष्टान्तको लो यह माइक्को है यह द्रव्यसे तो इस पिण्डरूप है क्षेत्रसे यह इतना गोल है, कालसे सफेदरूप आदिवाला जीर्णशीर्णरूप है भावसे रूपरसादिमय है। इस आत्माको लें आत्मा द्रव्यसे तो अनन्तशक्तिपुञ्ज है क्षेत्रसे वर्तमानमें इस देहके आकार असंख्यात प्रदेशी है, कालसे जिसरूप अभी परिणम रहा है उस रूप हैं, भावसे ज्ञानदर्शनादि अनंत स्वभावरूप हैं।

प्रत्येक द्रव्यको देखनेकी दृष्टियां अलग अलग भी हो सकती हैं। एक एक द्रव्यको द्रव्य क्षेत्रकाल और भावसे देखनेपर क्रमशः द्रव्य, उसके प्रदेश पर्याय और गुणोंका ग्रहण होता है। किसी भी पदार्थमें भावकी दृष्टि करो। उस दृष्टिमें विचार सब तरफसे संकुचित होकर चित् स्वरूप आत्माकी तरफ केन्द्रित हो जाते हैं। भावकी दृष्टिसे अनादि अनंत शुद्ध चैतन्यकी अनुभूति होती है

पदार्थोंका सम्यग्ज्ञान ही शान्तिका उपाय है व आत्मस्वभाव है। इस प्रकार द्रव्योंका संक्षेपमें वर्णन करके अब जीव द्रव्यकी संख्याका विवरण करते हैं—

जीवा अनंतानंता ॥२॥

जीव अनंतानंत हैं स्थूलतया विविध अवस्थाओंसे विविध द्रव्योंका ज्ञान होता है। जितने भी जीव हैं सबके

परिणमन पृथक् पृथक् हैं । जीव रूपरस गंध स्पर्शसे रहितचै तन्यात्मक—उपयोगि तत्त्व है । एक जीवके अधिष्ठित क्षेत्रमें अनंतानंत-जीवोंका निवास हो सकता है । सिद्धक्षेत्रमें एक सिद्ध आत्माकेद्वारा अधिष्ठित आकाश क्षेत्रमें अनंतानंत सिद्ध आत्मा है उन सबका परिणमन पूर्ण सदृश है इसी कारण यह लौकिक प्रसिद्धि है कि कोई भी जीव जब ब्रह्ममें लीन हो जाता है तो उसे मुक्त होना कहते हैं । वस्तुतः वहाँ भी प्रत्येक सिद्ध अपनी शक्तिकी परिणतिसे अपने ज्ञानोपयोगमें वर्त रहे हैं । इस प्रकार अनन्तानंत सिद्ध परमात्मा है । जैसे जीवोंकी उत्कृष्ट अवस्थामें रहनेवाले जीव अनन्तानंत है वैसे उनसे भी अनन्तानंतगुणे जीव निम्न अवस्था (निगोद)में रहनेवाले हैं सुईकी अनीपर आनेवाले निगोदिया जीवके शरीरमें आज तक सिद्धपदको प्राप्त हुए अनन्त सिद्धोंसे भी अनन्तगुणे जीव होते हैं । और अनन्त काल बीत जानेपर भी जो सिद्ध हो चुकेंगे उनको मिलाकर भी उनसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद शरीरमें रहते हैं । अनन्तके अनन्त भेद होनेसे यह सम्भव होता है । ये निगो दतो कुछ सप्रतिष्ठित निगोद हैं ये भी अनन्तानन्त है और अनन्तानन्त सूक्ष्म निगोद तो समस्तलोकके प्रतिप्रदेशोंमें अनन्तानन्त भरे हुए हैं जिनका आधार भूत कोई अन्य प्रत्येक वनस्पति आदि शरीर नहीं है । ये निगोद जीव अक्षयानन्त हैं जिनमेंसे अनन्ते जीव क्रमशः या तुरन्त नरदेह पाकर मोक्ष जाते रहेंगे फिर भी ये अक्षयानंत रहेंगे इनके अतिरिक्त प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वीकायिक जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय, असैनो पञ्चेन्द्रिय और सैनोपञ्चेन्द्रिय जीव एवं सकलपरमात्मा हैं । सकल परमात्मा भी सिद्धप्रभुके समान सर्वज्ञ व अनन्त सुखी हैं ये पूर्ण विशुद्ध आत्मा हैं । इन अनन्तानन्त जीवोंमें सम्यग्दृष्टि जीव बहुत थोड़े हैं, पल्यके असंख्यातवें भाग । गतिकी अपेक्षा सबसे ज्यादा सम्यग्दृष्टि देवगतिमें हैं उससे कम तिर्यग्गतिमें

उससे कम नरकगतिमें और उससे कम मनुष्यगतिमें हैं। देवगतिमें नवग्रैवयेकोंमें बहु भाग सम्यग्दृष्टि होते हैं तथा उसके ऊपर अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें तो सम्यग्दृष्टि ही हैं ग्रैवेयकोंके नीचे स्वर्गोंमें भी सम्यग्दृष्टि प्रायः होते हैं तथा लौकौतिक देव सम्यग्दृष्टि होते हैं। भवनत्रिकोंमें (जिसमें ज्योतिषयोंकी संख्या अत्यधिक है) में—भी नवीन सम्यग्दृष्टि होते रहते हैं अतः देवगतिमें सबसे ज्यादा हैं। तिर्यञ्चगति में अत्यधिक सम्यग्दृष्टि स्वयंभूरमण द्वीपमें व समुद्रमें जहांकि कर्म भूमिकी रचना है वहां होते हैं। मनुष्यगतिमें सब विदेह क्षेत्र भरत ऐरावत वा सब भोगभूमिके सम्यग्दृष्टि मिलकर भी नरकगतिके सम्य-ग्दृष्टियोंसे कम हैं।

संसारमें पर कर्तृत्वकी बुद्धिवाले मिथ्यादृष्टि जीव ही अत्यधिक हैं। यदि बहुमतकी अपेक्षा धर्मकी बात समझीजाय तो ठीक नहीं होगा। कीड़े और पशु पक्षियोंकी भांति ही अपने इन्द्रियविषयोंका उद्देश्य लिये जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य गतिके जीवोंमेंसे आत्मकल्याणके बारेमें सलाह ली जाय तो प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि वे परकी रुचिवाले जीव बहुत हैं। उनकी रुचि जब पर पदार्थोंमें लगरही है तब स्वतत्त्वके महत्त्वको वे क्या समझें ? तब उसमें उनसे उचित सलाह मिलनाभी कैसे संभव हो सकता है ? नहीं, अतः बहुमतका खयाल न कर महापुरुष जिसको ठीक समझें करैं उसेही करना श्रेष्ठ है। अथवा स्वस्थचित्त होकर स्वयं जिसे हितकर समझे करे।

अनन्तानन्त जीवोंकी सभीकी स्वतन्त्र सत्ता जानकर एकका दूसरेमें अत्यन्ताभाव जानकर अपने आपको सर्वसे भिन्न स्वतन्त्र सत्तामय स्वीकार करें और अवस्थावोंको अवस्थाके मूल ध्रुवमें अर्थात् गुणोंमें और गुणोंको आश्रयभूत अभेदपिण्ड ध्रुवमें अर्थात् द्रव्यमें विलीनकरके समस्त क्षोभसे रहित अनुभव प्राप्त करें। इस प्रकार जीवद्रव्यकी

संक्षेपतः संख्या कहकर पुद्गलोंके विषयमें संख्यासूत्र कहते हैं।

पुद्गलास्ततोऽप्यनन्तगुणाः ॥३॥

पुद्गल जीवोंसे भी अनंतगुणे हैं। संसारी जीवोंके आश्रयवाले भी पुद्गलोंकी संख्या बहुत भारी होती है। क्योंकि एक जीवकेलिये जो शरीर मिलता है वह अनंत अणुओंका होता है और उससे भी अनंतगुणे परमाणु प्रत्येक जीवके साथ तैजसके लगे हैं और उससे भी अनंत गुणे कर्मके परमाणु हैं। इस एक जीवकी संख्यासे तदाश्रय पुद्गल अनंत हैं। फिर सब जीवोंके कितने हुए ? अनंतानंत। फिर अनन्त राशि ऐसी भी है, जो पृथ्वीकाय आदिके रूपमें है जिसमेंकि जीव नहीं है। इसके अतिरिक्त भी २३ प्रकारकी पुद्गल वर्गणाओंमें अनेक वर्गणाएं अनन्तानंत हैं, ऐसा अनन्तानन्त संख्यावाला पुद्गल अनन्तगुणा हो जावे तो भी केवलज्ञानके अविभाग परिच्छेदोंके अनन्तवें भाग ही होगा। जगतमें जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब पुद्गल द्रव्यकी स्कंध पर्याय है दृश्य स्कंधोंके अतिरिक्त अचाक्षुष भी अनेक स्कंध हैं उन सब में रहनेवाले अविभागी अखंड अंश पुद्गल द्रव्य (परमाणु) हैं। वे समस्त पुद्गल द्रव्य मुझसे भिन्न हैं मेरे वे लेश भी हितरूप नहीं है। न मैं उनका कारण हूं न वे मेरे कारण हैं। उनके ओरका लक्ष्य स्वभावच्युतिरूप होनेसे क्लेशके निमित्त हैं। अतः उन सबसे उपेक्षित होकर निज ध्रुव स्वभावमें लीन होनेका ज्ञानमय यत्न करें। अब धर्म अधर्म और आकाश द्रव्यकी संख्या कहते हैं

धर्माधर्माकाशा एकैकम् ॥४॥

धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्य एक एक ही हैं। धर्म द्रव्य एक अखंड असंख्यात प्रदेशी वस्तु है। यह जब जीव पुद्गल गमन करते हैं तो उनके गमनमें निमित्तमात्र है यह जीव पुद्गलको

चलाता नहीं है किन्तु उनके चलनेमें निमित्तमात्र है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्यकी भी बात है अन्तरमात्र इतना है कि यह जीव पुद्गलों के ठहरनेमें निमित्तमात्र है। आकाशद्रव्य भी सर्व एक अखंड द्रव्य है। ये तीनों अमूर्त हैं। अखंड ये सब एक सत होनेसे है। इन में जिसमें जो परिणमन होता है वह समस्त उस एक द्रव्यमें है अतः अखंड है इनका परिणमन स्वयं होता रहता है। अतः वस्तुतः ये स्वप्रत्ययक उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्त है। ये तीनों स्वभावानुरूप ही परिणमते हैं। इनकी विभावपर्याय नहीं होती। अब अन्तिम वर्णित काल द्रव्यकी संख्या कहते हैं

कालाणवोऽसंख्याताः ॥५॥

अणु अणु प्रमाण कालद्रव्य असंख्यात है। काल द्रव्य एक प्रदेशी है वह अपने द्वारा अवगाहित प्रदेशपर रहनेवाले सबके परिणमन में अपनी पर्यायके द्वारा निमित्त बनता है। प्राकृतिक बात ही ऐसी है कि लोकाकाशके बाहर आकाशके अतिरिक्त कोई द्रव्य नहीं तो मानों अनावश्यक होनेसे काल द्रव्य भी नहीं है। इस ही लिये काल द्रव्य—अणु असंख्यात हैं। जोकि लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर हैं। ये काल द्रव्य अपने और सकल परके परिणमनमें निमित्त हैं। स्वयंके लिये तो वही उपादान और वही निमित्त है, अन्य द्रव्योंको निमित्त मात्र है। इस प्रकार द्रव्योंकी संख्याका संक्षेपसे वर्णन करके अब इन के परिणमनकी शैलीका वर्णन करते हैं—

स्वस्वपरिणत्यैवैतानि परिणमन्ते ॥६॥

ये द्रव्य अपनी अपनी परिणतिसे परिणमते रहते हैं। हम, तुम, सिद्ध, दिखनेवाले सारे पदार्थ वा तमाम मूर्त अमूर्त द्रव्यें अपनी अपनी परिणतिसे परिणमन कर रहे हैं। अग्निसे जल गरम हुआ जो कहा जाता है वह लौकिक व्यवहार है। निश्चय या अध्यात्मकी

भाषामें वह व्यवहार आभास है याने वह व्यवहार झूठा है। क्योंकि जल जो गरम हुआ अपनी परिणतिसे हुआ उस समय अपने ही रूप रस गंध स्पर्शवाले अविभाग प्रतिच्छेदोंके अपने ही उत्पाद व्ययसे वह उष्णरूप हो गया, उसमें निमित्त अग्नि है अग्निकी परिणति जलमें नहीं हुई, उसकी परिणति उसमें है। उस समय ईंधनरूप पुद्‌गल द्रव्यके स्कंधोंका परिणमन अग्निरूप अपने चतुष्टयसे अपने ही रूप रस गंध स्पर्शोंमें हुआ है। अग्निकेलिये भी जो लकड़ी आदि उपादान कारण है उसके परिणमनमें अन्य, अग्नि या माचिस आदि का संयोग निमित्त है। आदमीने साईकिल चलाई, यह जो कहा जाता है, उसमें विवेक कीजिए कि आदमीने इच्छा की यह कार्य उसका है उसके निमित्तसे प्रदेशपरिस्पन्द हुआ उसको निमित्त पाकर देहमें वायुका संचार होता है उसके निमित्तसे पैरोंमें पैडल घुमानेकी क्रिया हुई वह उस जीवकी क्रिया नहीं है जिस शरीरमें वह रह रहा है शरीरके पैर रूप स्कंध हैं, वे जिन परमाणुओंसे बने हैं उन परमाणुओंमें परिणमन हुआ, उसके निमित्तसे साईकिलके पैडलमें हरकत हुई पैडलका परिणमन अपने अपने परमाणुओंमें स्वयंकी शक्ति और स्वयंके उत्पाद व्ययसे हुआ। उस पैडलकी गतिके निमित्तसे चैनमें हलन चलन हुआ उसका वह हलन चलन भी अपनेमें अपनेसे अपनेद्वारा अपना ही हुआ है। पैडल केवल निमित्तमात्र है। चैनके निमित्तसे जो चक्का चला उस चक्केका परिणमन भी उसी तरह अपना और अपने मूल उपादान द्वारा हुआ है। चक्के घूमनेसे जो साईकिल चली तो उस साईकिलके प्रत्येक अवयवोंके जो परमाणु हैं उनका प्रत्येकका अपना अपना परिणमन अपनेसे स्वयं है। और साईकिलके चलनेसे उसपर बैठा जो आदमी है वह एक जगहसे दूसरी जगह पहुंच गया, सो अपने परिणमनसे। उस आदमीके पहुँचनेमें जो उस जीवकी वहां पहुंचनेकी इच्छा है उसका कर्ता जीव स्वयं है और शरीररूप पुद्‌गलका स्थानान्तर

हो जाना शरीरके परिणमनसे है।

साधारणतः लोगोंकी दृष्टि संयोगाधीन रहती है और उसी दृष्टिसे वे दुनियाको देखा करते हैं। जिससे एकका कर्तृत्व दूसरेमें नजर आता है एकका परिणमन दूसरेमें दिखता है। वह मिथ्या दृष्टि हटे और स्वकर्तृत्वपर बुद्धि चले तो प्रत्येक जीवके और प्रत्येक परमाणुके कर्म स्वतंत्र अपने ही रूपसे दिखें णिजन्त, और आज्ञार्थक क्रियाएं केवल लौकिक व्यवहारके लिये प्रयुक्त होती हैं वस्तुतः एक चीज दूसरेकी प्रेरक है ही नहीं। किसी एकके आदेशसे दूसरेने कार्य किया यह भी झूठ है आदेश करने वालेने अपनी कषायका परिणमन किया उस प्रकारकी इच्छा आदि करके। और आज्ञाका पालन करनेवालेने अपनी कषायादिकी परिणतिसे अपनेमें अपना काम किया। जो व्यवहारसे कहा जाता कि मालिकका काम किया, मालिककी उस कार्यमें संयोग बुद्धि लगी हुई है, इसलिये उसका भी कहा जाता यह सब उपचारमात्र है। सूर्य उगते कमल खिलगया इसको ठीक कहो तो यों कहना चाहिये कि सूर्योदयके निमित्तसे कमल स्वयं खिल गया।

अपने नित्य प्रतिके व्यवहारमें अध्यात्म ढंगसे, बोलने और समझनेका प्रयत्न करो तो पदार्थकी स्वतंत्र परिणति सरलतासे समझमें आयेगी। हम आपको समझा रहे हैं, इसका मतलब यह है कि आपको निमित्त पाकर हम अपनी कषायके अनुरूप अपनी परिणति कर रहे हैं, उसमें आत्माके उपयोगकी परिणति है, उसके उसके निमित्तसे इच्छापरिणति हुई उसके निमित्तसे योगपरिस्पन्द हुआ उसके निमित्तसे शरीरके कंठ तालु आदि अंगोंमें वायुसंचार हुआ उसके निमित्तसे भाषा रूप पुद्गल द्रव्यकी परिणति अपनी परिणमन शक्तिके अनुसार भाषा रूप हो रही है। और वे वे भाषारूप पुद्गल स्कंध आपके कहे जाने वाले द्रव्यश्रोत्रसे स्पर्श करते उसके निमित्तसे अपने अपने परमाणुओंके रूप रस गंध और स्पर्शका स्वतंत्र परिणमन होता फिर उस द्रव्येन्द्रियके

आश्रयमात्र संयोगी भावसे रहनेवाले आत्मप्रदेशोंके परिणमन अपना स्वतंत्र हुआ। आपकी आत्माने अपनी ज्ञानपरिणति हमारे द्वारा कहे गये विवेचनके अनुरूप की, इसको आपकी ही कही जायगी, तो हमारे समझनेसे आप समझ रहे हैं यह बात नहीं है। आप अपनी उस जातिकी कषायसे इस तरफ अपना जो उपयोग लगाये हैं उसीके कारण से आपके ज्ञानमें आपके ज्ञानद्वारा जो हो रहा है वैसी बात समझमें आ रही है, उस समझमें मेरे कर्तृत्वकी बुद्धि या पौद्गलिक-भाषा वा द्रव्येन्द्रियके कर्तृत्वकी बुद्धि स्थूल, संयोगी, पर और मिथ्या है।

इसी तरह मैं धन कमाता हूं कहना भी मिथ्या है। आपतो धन कमानेकी इच्छा—कषाय कर सकते हैं, उसके प्राप्त करनेकेलिये साधन जुटाना आदिकी इच्छा कषायें कर सकते हैं। लेकिन पुद्गल धनकी कमाई हो जाना— संयोग हो जाना यह आपके हाथकी बात नहीं। उन पुद्गल स्कंधोंने संयोग क्षेत्रान्तरित होकर आपके समीपमें होनेका होगा तो ही होगा अन्यथा नहीं ही होगा। आपकी इच्छा उसकेलिये कितनी ही बलवती क्यों न हो। सारे परिणमन अपने अपने द्रव्यके स्वतंत्र हैं। यही कारण है कि वे किसीकी इच्छाकी अपेक्षा नहीं रखते। लेकिन अज्ञानी प्राणी बलात् परपदार्थोंको अपने अनुकूल चलाना चाहता है, इसलिए दुःखी होता है, क्योंकि अनुकूलता पदार्थ की स्वतँत्र उसकेलिये है। पर पदार्थकेलिये नहीं। कदाचित परपदार्थ में भी वह योग्य निमित्त नैमित्तिक संबन्धमें जुट जानेसे दिखती है लेकिन वह हमारी इच्छासे हुई ऐसा मानना भ्रम है। कोई पदार्थ किसीके आधीन नहीं है। लेकिन आधीन मानते हैं आधीन करना चाहते हैं इसलिये क्रोधादि होते हैं जिससे दुःख होते हैं। कोई भी दृष्टान्त ऐसा नहीं मिल सकता जोकि दूसरेकी परिणतिसे हुआ हो या होता हो। अब आप यह सोचें कि हम जो इच्छा करते हैं जिन पदार्थोंके संग्रहकी कामना करते हैं अथवा जिसे जैसा परिणमाना

चाहते हैं उन पदार्थोंके संग्रहमें अथवा अपनी इच्छानुसार किसीको परिणमानेमें हम सफल हो सकते हैं या हम अपने आपको शांतिके अनुरूप उपयोग बनानेमें सफल हो सकते हैं। देखो दो आदमी पहाड़ की सैर करने चले रास्तेमें कांटे बहुत पड़ते हैं, अब एक सोचता है कि सारे मार्गको चमड़ेसे ढक दूं फिर मनमाना विहार करूं और दूसरा यह सोचता है कि अपने ही पैरमें जूते पहिन लेना चाहिये फिर चलना चाहिये तो बताओ इन दोनोंमें कौन सफलमनोरथ होगा? हम अपनी जिम्मेदारीको पूरा कर सकते हैं दूसरेपर क्या वश,इसका प्रयत्न ही दुःखका कारण है। एक व्यक्ति वह है जो दुनियाकी तमाम चीजोंका संग्रह करना चाहता है और दूसरा वह है जो प्राप्त हुई चीजोंसे अधिककी इच्छा नहीं करता, अब अपने सुखके लक्ष्यमें किस को सफलमनोरथ कह सकेंगे? यह दुःखका मूल कारण है कि जो बात नहीं की जा सकती है उसके करनेका विकल्प किया जाता है!

पिता-पुत्र, अभिन्नहृदय मित्र, आदि सब अपनी अपनी परिणतिसे परिणमते हैं, एक दूसरेको अपने अनुकूल मानना मिथ्या है। जगत का ऐसा नग्न स्वरूप है। एक बैलगाड़ी चल रही है उसके नीचे कुत्ता आ जाय और वह सोचेकि मेरे चलानेसे गाड़ी चल रही है तो यह उसका अभिमान झूठा है, जब गाड़ी रुक जाय तब उसके चलानेसे चलना चाहिये लेकिन ऐसा नहीं होता यह तो केवल भ्रमसे ऐसा मान लिया गया था। इसी तरह जगतकी गाड़ी अपने आप चल रही है, अज्ञानी-भ्रमसे परकतृत्वका अहंकार करता है। और इसी लिये दुःखी होता है। जो इस तथ्यको समझ जायें वे दुःखी नहीं होते।

राग करनेवाले जीव स्वयं दुःखी होते और दूसरोंको भी दुखी करते हैं। जिनसे कि राग किया जाता है। बच्चेसे राग करते तो उसको दुःख होता उसे आपके रागके कारण पिटना पड़ता है; आपकी कषायों

का शिकर होना पड़ता है इसलिये वह दुःखी है। और कहा यह जाता है कि हम बच्चोंको खिलाते हैं यह है कषायकी लीला। आप को उससे होनेवाले रागके कारण लोभ अहंकार क्रोध और द्वेषादि कषायोंका पात्र बनना पड़ता और दुःखी होना पड़ता है।

दो पहलवानोंमें एक कमजोर है वह कहता है कि मैं इसे गिरा सकता हूँ यदि यह स्वयं गिर पड़े तो। तो यही तो मुश्किल है। यदि दुनिया हमारी इच्छानुसार करे तो मैं परको अपने अनुकूल चला सकता हूं, ऐसा विचार कैसे पूरा हो सकता है? यदि वह ऐसा हो तो मुझे शान्ति मिलेगी, ऐसे विचारोंसे शान्ति कैसे मिल सकती है? नहीं मिल सकती। कोई व्यक्ति या कोई पदार्थ किसीका कुछ नहीं कर सकता। श्री आचार्यदेवने हमारे लिये श्रुत रचना की वह उनके शुभरागके परिणमनका फल है।

पहिले मिथ्यात्वमें पड़े हुए थे, अब भेद विज्ञानकी परिणतिसे परिणम रहा हूं और आगे शुद्ध स्वरूप परिणमरहे होंगे यह सब अपनीही परिणतियां हैं।

एक मास्टरकी यह बात सुनकर कि मैंने कई गधोंको आदमी बना दिया एक भोले आदमीने जो निःसंतान था मास्टरसाहबसे कहा कि अच्छा मैं एक गधा लाऊंगा और आप उसे आदमी बना देना। मास्टरसा०ने उसकी मूर्खतासे लाभ लेनेकेलिये कह दिया ठीक है बना दूंगा। वह भोला आदमी १ दिन मास्टरसा०को १ गधा सौंपकर चल दिया। मास्टरसा०ने आनेका दिन और मुहर्त बतादिया कि ठीक इसी मुहर्तमें आना। निश्चित दिनमें वह भोला मास्टरसा०के घर पर गया तो मास्टरने यह कहकर कि तुम ठीक टाइमपर नहीं आये, गधा तो आदमी बनकर यहांसे चल दिया है वह अब तुम्हें न मिल सकेगा दोनोंमें लड़ाई हुई और दुःखी हुए। मतलब यह है कि मास्टरसा०ने परकर्तृत्वबुद्धिसे यह मान लिया कि लड़कोंको मैं ज्ञानदान देता हूँ,

अतः वे विद्वान बनते हैं । और इसी तरह उस भोले आदमीने भी इस मिथ्या श्रद्धासे गधेका आदमी बनवाना चाहा तो दोनोंको क्लेश में पड़ना पड़ा ।

जो भ्रम में पड़ा रहता है वह विह्वल होता रहता है, और क्लेश का पात्र बना रहता है । क्लेश दूर करनेकेलिये शान्ति आनाआवश्यक है । और शान्ति वहां आती है जहां वस्तुका परिणमन स्वतंत्र अनुभव में आता है । यदि यह न हो तो शान्ति नहीं आ सकती । इस प्रकार परिणमनका वर्णन किया । अब परिणमनके समय अनेक पदार्थ उपस्थित होते हैं फिर भी कोई निमित्त कारण होता है और शेष नहीं इसका स्पष्टीकरण निमित्त का लक्षण बताते हुए कहते हैं ।

अन्वयव्यतिरेकसम्बधावच्छिन्नानीतराणि निमित्तानि ॥७॥

जिनके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो वह उसकेलिये निमित्त कहलाता है । जैसे—कर्मोंके उदयसे रागादिका होना । कर्मोंके उदय होनेसे ही रागादि होते हैं उनके नहीं होनेपर रागादि नहीं होते, अतः कर्मोदय रागादिकेलिये निमित्त कहलाया । यह बात स्मरणीय है कि निमित्तभूत पदार्थ इतर होते हैं अर्थात् परिणाम रहे उपादानसे अत्यन्त भिन्न होते हैं दोनोंका सत्त्व पृथक् है । लेकिन ऐसे निमित्तमें भी नैमित्तिकका परिणमन अपनी स्वतंत्र सत्तासे स्वयं होता है । रागादिरूप आत्माकी वैभाविक परिणतिके समयमें उस तरहके कर्मोंके उदयकी स्थिति रागादिके परिणमनमें उस समयकी उपस्थिति मात्र है । कर्मोदय रागादिके होनेमें प्रेरक नहीं उदासीन निमित्त हैं । लेकिन उस उस नैमित्तिकरूप पदार्थके परिणमनमें उस तरहका निमित्त अवश्य मिल ही जाता है इसलिसे निमित्त नैमितिकमें अन्वय व्यतिरेक बन जाता है निमित्त नैमित्तिक के अन्वय व्यतिरेकमें पदार्थकी स्वतंत्र सत्ताकी हानिका अनुभव कदापि न करना चाहिये । जो अपनी दृष्टि निमित्ताधीन रखता है उसकी दशा कैसी होती है ? अत्यन्तदुःखमय । निमित्तको

प्रधान माननेकी बुद्धि रखनेवाले जजका दृष्टान्त ध्यान देने योग्य है— एक मूर्खराज कहीं जारहे थे रास्तेमें एक घोड़ा मिला तो उसपर पूंछकी तरफ मुंह करके सवार हो गये और अपनी गठरीको पीठपर ही लादे रहे। और आगे बढते गये। एक मूर्खोंका गांव मिला, उस के मुखियाने इसे देखा तो सोचने लगा कि यह आदमी तो बड़ा ही बुद्धिमान है, यह उल्टा इसलिये बैठा है कि कोई इसके सामनेसे लड़ने आयगा तो यह लड़ लेगा और यदि पीछेसे आया तो घोड़ा लड़ेगा इतनेपर भी हार गया तो गठरी लेकर भाग लेगा ऐसा चतुर समझकर उस मूर्खको उस गांववालोंने अपना पटेल बना लिया। एक दिन उसके पास न्याय करानेके लिये एक बुढ़िया आती है और कहती है —पटेलजी ! हमारा न्याय कर दीजिये। बात यह है कि मेरा लड़का अमुक सेठके घर चोरी करने गया था। सेठकी दीवाल कच्ची थी सो वह गिर पड़ी और उसमें दबकर मेरा लड़का मर गया यदि सेठने अपनी दीवाल कच्ची न बनवाई होती तो कैसे गिरती और लड़का कैसे मरता। मूर्ख पटेलने सेठको बुलवाया और उससे जवाब तलब किया। सेठने कहा पटेलजी इसमें हमारा क्या दोष है हमने तो मकान बनाई के पूरे रुपये मिस्त्रीको दिये हैं यह तो मिस्तरीकी गलती है जो उसने कच्ची दीवाल उठाई। मिस्त्रीको बुलवाया गया उससे जवाब तलब करनेपर उसने बताया कि उसमें गारा बनाने वालेकी गलती है उसने गारा ढीला बना दिया जिससे दिवाल मजबूत न बन पाई। गारावालेको बुलाया गया उसने इस दुर्घटनाका कारण पानीवालेको बतलाया कि मशकवालेने पानी ज्यादा डाल दिया इसलिये गारा ढीला हो गया। पानीवालेको बुलवाया गया उसने कहा पटेल जी मेरा दोष नहीं राजाकी सवारी निकली जिससे मैं उसकी सुन्दरता देखनेमें लग गया और पानी ज्यादा हो गया। तब पटेलजीने कहा ठीक है यदि राजा अपनी सवारी न निकालता तो बेचारा मशकवाला

सन्नाटकी ओर चित्त न ललचाता और फिर गारेमें पानी कैसे अधिक ढल जाता । बस: राजाको फांसीका आर्डर दे दिया । राजाको जब पटेलजीका यह आर्डर मिला तो उन्होंने खुद पटेलजीको पकड़वा लिया और सजा देकर देशसे निकलवा दिया सब गांव वालोंको और सब की अच्छी खबरली । कि आप लोगोंने बुद्धिमानको क्यों न प्रमुख बनाया तो निमित्ताधीन दृष्टि प्राणीको पागलके समान अविवेकी बना देती है । जिससे उसे पग पगपर दु:खी होना पड़ता है । लोग सोचते हैं यों कहनेसे यों हो जाना । ऐसी भ्रम बुद्धिसे ही प्राणीका संसार खतम नहीं होता । व्यक्ति यदि अपने उपादानको सम्हाले अपनी स्व-तंत्र शक्तिको हरखे अपने दोषोंको ही देखे और उन्हें दूर करे तो सुखी हो जाय । इस तरह व्यक्तियोंमें समझ आनेसे समाज देश वा संसार के क्लेश दूर हो सकते हैं ।

प्राणी निमित्तके संयोगसे अपना बनावटी रूप बना लेते हैं । एक श्यालने अपना वेश सिंहका बना लिया और अपने कूट वाकजालसे जंगलका राजा हो गया, लेकिन जब दूसरे श्रृगालोंने हुआ हुआकी आवाज बुलंदकी तब इससे भी न रहा गया और हुआ हुआ चिल्लाने लगा, जंगलके जानवरोंने इसे पहचान लिया और मौतके घाट उतार दिया । तो बनावटीपन अधिक दिनोंतक काम नहीं देता, और न उस से शांति मिलती है । वह बनावटीपन निमित्ताधीन दृष्टिसे आता है । यदि अपने उपादानकी स्वतंत्र शक्ति और सत्ताका भान हो जाय तो सारे भ्रम दूर हो जाएं । जो शक्ति बाहिरमें बाहिरके जोड़ तोड़में काम करती थी वह फिर भीतरसे नाता जोड़ती है । बाह्य पदार्थके परिणमनको कोई करता नहीं यह चेतन आत्मा परको निमित्त पाकर अपनी शक्तिसे ही विभावरूप परिणमता है निमित्तका द्रव्य गुण पर्याय कुछ भी प्रकृत कार्यवान पदार्थमें नहीं गया तथापि निमित्तके सद्भाव बिना विभाव परिणमन हो नहीं सकता अतः पर निमित्त अवश्य है

सो जो जब जैसा होना है वह तब वैसा होगा ही और होगा परिणमयिताके प्रयत्न पुरुषार्थपूर्वक ।

बुन्देलखन्डमें छत्रसाल प्रसिद्ध राजा हो गया है । उसके पिता कहीं अन्यत्र लड़ाईपर थे । तो माताने मुगलोंके आक्रमणमें सैना हटाने के लिये मुगलोंका पीछा किया तो लड़ाईमें गई । जो छत्रसाल गर्भमें था उसके उत्पन्न होनेका समय था तब यह सोचकर कि यहां तो पुत्रको मारदिया ही जावेगा सो रण छोड़ जंगलमें घोड़ेको ले गई । रास्तेमें ही छत्रसाल पैदा हो गया । रानीने उसे झाड़ीमें फेंक दिया और आगे बढ़ती गई । १ हप्तातक छत्रसाल झाड़ीमें पड़ा रहा लेकिन उसे जिंदा रहना था, तो ऊपरके वृक्षमें ठीक बालकके मुंहकी सीधमें लगे हुए मधुमक्खीके छत्तेसे गिरती हुई शहद को बूंदें बालकके मुंहमें पड़ती थीं जिससे कि वह जिंदा रह सका पीछे जब रानी आती है तब बालकको जीवित पाती है और फिर छत्रसाल शाही बचपन बिता प्रतापी छत्रसाल बनता है ।

तो दुनियाकी हम व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं सबका भला बुरा अपने अपने भाग्यसे होता है अथवा और यथार्थ समझिये तो अपने अपने उपादानसे होता है निमित्त उपादानकी सिद्धिमें केवल उदासीन रूपसे रहता है हमें अपनी दृष्टि उपादानपर डालना चाहिये । यदि निमित्त ज्ञानमें आवे तो निमित्तका मात्र ज्ञाता रहना चाहिये ।

प्रकरण चल रहा है कि जगतके पदार्थ अपनी अपनी परिणतिसे परिणमते हैं, लेकिन निमित्त भी कोई न कोई अवश्य रहता है उस परिणमनमें । जिन पदार्थोंके परिणमनमें जिनका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध पाया जाता है उन्हे उनका निमित्त कहते हैं । तब रागादिके लिये कर्म ही निमित्त कारण है भीत वगैरहन हीं । इसका निश्चय करने के लिये हमें यह देखना पड़ेगा कि रागादि पैदा होनेकेलिये अन्वय व्यतिरेक कर्मके साथ घटता है या दीवाल वगैरहसे । तो स्पष्ट है कि

भीत वगैरह बाह्य पदार्थोंके होनेपर रागादि हों ही व नहीं होनेपर नहीं हों ऐसा कोई नियम नहीं है। किंतु कर्मोदयका नियम अवश्य है अतः भीति वगैरह निमित्त न होकर कर्मोदयको ही निमित्त कहा जायगा। इतना सम्बन्ध होनेपर भी कर्म अपने चतुष्टयसे परिणाम रहा है और आत्मा अपने चतुष्टयसे। जैसे—अग्निसे जल गरम होनेकेलिये अग्नि जलमें प्रविष्ट नहीं हो जाती क्योंकि जलसे तो अग्नि नष्ट होती है। दूसरा हेतु है कि अग्निके ऊपर जलका बर्तन उतने समय तक न भी रखा रहे तो भी उसके जलनेका काम रहता ही है। तो फिर जल और सब चीजोंसे गरम क्यों नहीं होता? यह प्रश्न उठता है तो इसका समाधान पानेकेलिये हमें जलके गरम होनेमें अग्नि और इतर पदार्थोंके साथ अन्वय व्यतिरेक देखना चाहिये। ये उससे स्पष्ट होगा कि अग्नि सूर्य जैसे उष्ण पदार्थोंके साथ जलके गरम होनेका अन्वय व्यतिरेक है दूसरे पदार्थोंके साथ नहीं अतः सरे पदार्थ उसके गरम होनेमें निमित्त नहीं कहे जा सकते।

जो द्रव्य होता है वह अनंत शक्तिमय होता है। शक्ति गुणको कहते हैं। ये शक्तियां या गुण बिना परिणमनके ठाले कभी भी नहीं रहते। वह परिणमन चाहे स्वाभाविक हो या वैभाविक, लेकिन होगा अवश्य। आत्माके ४ गुण मुख्य हैं। १ श्रद्धा २ ज्ञान ३ चरित्र ४शक्ति। १ श्रद्धाके दो परिणमन हैं, स्वाभाविक और वैभाविक। स्वाभाविक परिणमन सम्यग्दर्शनरूप है और वैभाविक मिथ्यादर्शनरूप स्वाभाविक परिणमन निमित्तके अभावमें और वैभाविक निमित्तके सद्भावमें होता है। यहां श्रद्धाका विभाव परिणमन मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हैं। ज्ञानके दो तरहके परिणमन हैं। १ ज्ञानरूप २ ज्ञानका अभाव रूप। ज्ञानका वैभाविक परिणमन नहीं होता। उसका मिथ्यानाम मिथ्यात्वकी वजहसे होता है ज्ञानका अभाव अवधिज्ञानावरण आदि कर्मके उदयसे होता है। ३ चरित्रशक्तिका परिणमन भी स्वभाव और

विभाव दो रूप होता है स्वभाव परिणमन तो चारित्रको घातनेवाली २५ कषायोके अभावमें होता है और विभाव परिणमन कषायोंके सद्भावमें होता है।

कर्मोदय के निमित्तसे उस उस तरहका विभाव परिणमन होता है यहां पर भी कर्मका उदय विभावमें प्रेरक निमित्त नहीं है किंतु जिस क्षणमें आत्माका विभाव रूप परिणमन होता है उसी क्षणमें उस तरह के कर्मका उदय अवश्यमेव होता है। पुद्गल कर्मका परिणमन कर्म में है और आत्माका परिणमन आत्मामें है, फिर भी एक दूसरे के निमित्तसे विभावरूप होनेकी नैमित्तिक कला बनी हुई है। जैसे— अनंतानुबन्धी क्रोध कषायका उदय हुआ तो वह आत्माका ही परिणाम हुआ लेकिन उस क्षणमें अनन्तानुबन्धी क्रोधके उदयका निमित्त अवश्य ही है।

निश्चयसे प्रेरणार्थक धातुएं नहीं हैं। वे तो णिच्से बनकरही अपनी सार्थकता रखती हैं। लोक व्यवहारमें उदासीन निमित्तकेलिये प्रेरक रूपसे प्रयोग करते हैं परन्तु परिणति देखो। जैसे—कागजके टुकड़े किये—तो हाथकी अंगुलियोंने अपने अवयवोंमें हरकत की, कागजके अवयवोंमें कुछ भी प्रवेश अंगुलियोंने नहीं किया, लेकिन उस निमित्त से कागजके स्कंध अपने परिणमसे टुकड़ेरूप हो गये। फटनेकी क्रिया कागजमें हुई, कागजकी हुई। और अंगुलीकी क्रिया अंगुलीमें हुई और अंगुलीकी हुई। केवल अंगुलियोंकी क्रिया अलग और कागजके फटने की क्रियाको अलग देखो तो यह बात ठीक समझमें आजायेगी। निमित्तका निमित्तपना होकर भी वह उपादानसे हमेशा जुदा रहता है। तो निमित्तने कुछ किया इस बुद्धिका परिहार करना चाहिये। नहीं तो परिणाम क्या होगा ? जो हो रहा है सो आगे भी होगा हमारी परेशानीका अंत नहीं होगा। दुःखीके दुःखी बनेरहेंगे। भैया ! यदि दुःख मेटना है तो निमित्तकी दृष्टि हटाओ। और उपादानको

मुख्यता से देखो। प्रश्न-क्या उपादानका निमित्तके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ? यदि नहीं है तो फिर बताओ कि घड़ा बननेके लिये कुम्हार आदि ही क्यों निमित्त होते, अन्य भींट गधा कुत्ता आदि जो वहाँ पास हैं वे क्यों नहीं निमित्त होते ? उत्तर -- उपादान का निमित्त के साथ मात्र निमित्त नैमित्तक संबन्ध है। सो वहभी कोई जुदी चीज नहीं वहतो केवल उपादानकी शक्तिका प्रदर्शनमात्र है, अर्थात् उपादानकी ही यह विशेषता है कि अमुक अमुक परिस्थिति में अमुक रूप से परिणम जाता है। वस्तुतः सम्बन्ध नामक कोई तत्व नहीं क्योंकि जो भिन्न चतुष्टय वाले हैं उनका कुछभी द्रव्य गुण वा पर्याय किसीमें नहीं मलते और जो अभिन्न अखन्ड वस्तु है उसमें कुछ और अन्य है ही नहीं जो मिले। मोह,ज्ञान, विकार पर्याययोग्यता आदि प्रतिपादन करनेके ये निमित्तप्रदर्शन व्यवहार प्रकार हैं। उपादानके कार्य जिसके होनेपर हों और जिसके अभावमें न हों वे निमित्त होते हैं इसमें उपादानकी शक्ति की विचित्रता बताई गई है इसको अन्वय व्यतिरेक कहते हैं, उसमेंसे अब अन्वयका स्वरूप कहते हैं।

यस्मिन् सत्येव परिणतिः सोऽन्वयः ॥ ८ ॥

जिसके होनेपर ही परिणति हो उसे अन्वय कहते हैं। जैसे कर्मोदय के होनेपर ही रागादि होते। ऐसा निमित्तका अन्वय रहनेपर भी कर्मोदय आत्मामें कुछ नहीं करता। जैसे हवा चली और समुद्रमें लहरें उठने लगीं लहरें उठनेका काम निश्चयसे तो समुद्र ने ही किया लेकिन हवा का निमित्त होनेसे हवाके द्वारा कहनेका व्यवहार है। लहरें समुद्र की बनी हैं हवा की कदापि नहीं इसलिये वह समुद्रकी ही कहलायेंगी, हवाकी नहीं। दोनों तरफसे देखो। यद्यपि समुद्रकी लहर समुद्रसे ही उठी, फिर भी हवाके बिना नहीं उठ सकती थी, इसलिये हवा को व्यवहार से उसका कर्ता कहते हैं। निश्चयसे वे समुद्र की हैं इसलिये उनका कर्ता वहीं है। इसीतरह कषाय का कर्ता आत्मा है यह निश्चय से है, और कर्म है यह व्यवहार से हुआ।

यहाँ इतना और समझना कि निमित्त उपादानकी भूलको समझने के लिये ऐसा कहा जाता है। वास्तवमें तो कर्म के उदय ने आत्माके कषाय भावोंको किया कहना व्यवहार नहीं उपचार है क्योंकि एकद्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं हो सकता फिरभी ऐसा कहना सो उपचार हैएक द्रव्य का दूसरा द्रव्यकुछ भी त्रिकालमें नहीं होता। रागादि आत्मा के हैं उनका कर्ता आत्मा है यह व्यवहारनय का कथन है निश्चयसे तो आत्मा विभाव का नहीं। स्वभावका कर्ता है। स्वभावको भी करता क्या है स्वरूपसे वर्तता है। सारा जगत निमित्त और उपादान में उलझा हुआ है इसके भ्रम को सुलझावे तो सुखी होवे।

गुरु शिष्यको ज्ञान देते हैं इसको शुद्ध बोला जायतो कहा जायेगा कि गुरुका निमित्त पाकर शिष्य अपने ज्ञानका विकाश करता है। लेकिन बोलीमें कुछ भी बोलनेपर भाव ठीक हो तो भी कुछ नहीं बिगड़ता। ये सब आश्रयरूप वस्तु हैं। निमित्त तो वह है जिसका कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक हो। यहां अन्वयका स्वरूप कहा अब व्यतिरेकका स्वरूप कहते हैं।

नासति व्यतिरेकः ॥ ९ ॥

जिसके असद्भावमें उपादानमें परिणति न हो वहां व्यतिरेक संबन्ध कहा गया है। जैसे कर्मविपाकके अभावमें रागादिक कभी नहीं होते। इस प्रकार विभागका और कार्यका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है अतः विभाव का निमित्त कर्म निःसंदेह सिद्ध होता है। जिसके होने पर ही कार्य हो और जिसके न होनेपर कभी न हो वह निमित्तहोता है इस प्रकरणसे यह जानना कि निमित्तके सद्भाव अभाव बिना कार्य नहीं होता परन्तु निमित्तका कोई द्रव्यक्षेत्र काल भाव उपादान में उपादानके कार्यमें नहीं जाता है। इसतरह निमित्तका वर्णन करके अब उपादान का वर्णन करते हैं।

विवक्षितं परिणममानमुपादानम् ॥ १० ॥

जो परिणम रहा है उसे उपादान कहते हैं। बच्चा पीटनेसे रोया

खो नहीं। रोने की कषायोंकी क्रिया उस जीवने की और शरीरके पिटने रूप क्रिया शरीर के अवयवोंने की। निमित्त केवल रहा पीटने वाला एक चुगलखोरने झूठी चुगली करके आपसमें दो की बुराई करादी तो चुगलखोरने अपने भावोंमें जो विरोधकरादेनेकी कुटिलताके भाव किए वह तो उसी का कर्ता है बुराई मानने वाले उन दो व्यक्तियोंके भावोंका कर्ता नहीं। उन्होंने तो उसको निमित्त पाकर स्वयं ही अपने भावोंको खराब किया उन विकारी भावोंके कर्ता वे स्वयं हैं और उनका फलभी इसीलिए उन्ही को भोगना पड़ेगा। यदि उन दोनोंमेंसे किसी एकके भी परिणाम निर्मल हों तो वैरविरोध मिट जाय। सारा दुःख अज्ञानका है। बड़े पुरुषोंका चरित्र देखो वे बुराईको स्थान नहीं देते। बनारसीदास जी ने एक बार भूलसे सड़ककी नालीमें पेशाब करली तो राजाके चपरसीने उन्हें चांटा लगा दिया। बनारसीदास जब दरबारमें गये तो उसके चपरासीको बुलाकर उसके वेतनमें तरक्की करवादी यह कहकर कि अपने कार्यमें बहुत सतर्क रहता है। निर्भय और निःशंक होकर अपनी ड्यूटी पूरी करता है। तो निमित्तकी दृष्टि हटाओ, निर्मलता अपने आप बढ़ेगी। जिस निमित्तसे निर्मलतामें पूरक पड़ता हो उसके छोडनेमें विलम्ब न करो। एक नीतिका बचन है कि गांवके भलेके लिए एक को छोड़े और देशके भलेके लिए गांवको छोड़दे और अपने भलेके लिए देशको छोड़दे तो नीतिमें जो आत्माके भलेके लिए दुनियाको छोड़नेको कही यह बात धर्मसे मिलती है। इससे उपादान की स्वतंत्रता और महत्त्वको बल देनेकी बात आती है।

परिणाम मान विवक्षित पदार्थ ही उदाहरण है। उपादान पूर्वपर्याय सहित द्रव्य होती है जैसे क्रोध होनेमें उपदान क्या है ? त्रैकालिक आत्मा द्रव्य नहीं किन्तु क्रोध होनेके पूर्व क्षणवर्ति आत्मा उपादान कारण है। तथा घड़ा बननेमें उपादान कारण मिट्टीको सामान्य कहा जाता है लेकिन सूक्ष्मता से विचारिये तो घड़ा बननेके पूर्व

वर्ती लौदें रूप पर्याय घड़ा बनने में उपादान कारण हैं, और लौंदा बननेमें उसके पूर्ववर्ती पर्याय कारण है। इसी तरह आत्माके परिणमन में पूर्व पूर्व समय वर्ती पर्याय सहित पदार्थ उत्तरोत्तर पर्याय केलिये कारण है। इस एक एक समय वर्ती उपादान कारण को अनुभवमें लाया जाये तो दुःख क्यों न मिटेगा। पदार्थों का सारा परिणमन यथावत ध्यानमें आ जायगा। निमित्त दृष्टिमें तो क्लेश ही क्लेश है। जितना भी दुःख हो रहा है वह हमारी गलतीसे होरहा है। इस वाक्यको लिखकर सामने टांग लो और फिर अपने हृदयमें खूब जमा लो। तब मार्ग साफ हो जायगा और दुःख का पिंड छूट जायगा। अब प्रसंग पाकर कि परिणमते हुए कार्यमें उपादान परिणममान अर्थ है तब निमित्त क्या होंगे कुछ निमित्तका वर्णन करते हैं।

अत्यन्ताभाववदन्य सम्बन्धानि निमित्तानि ॥ ११ ॥

जो पदार्थ अन्वय व्यतिरेकभाव वाले हैं वे निमित्तभूत होते हैं। जो वस्तु बदल रही है वह उपादान है और जो उस बदलने में अन्वय व्यतिरेक होता है वे निमित्त उपादान से अत्यन्त जुदे होते हैं। अतः निमित्त अत्यन्ताभाव वाले होते हैं। और ऐसे निमित्त भूत पदार्थोंका उपादानकी परिणतिमें अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध होता है। जैसे हमारे बोलनेमें अनेक कारण हैं। आपकेलिये बोल रहे हैं, इसलिये आप भी कारण हैं, जिस आधारसे हम स्थित हैं। वह भी कारण है, पुस्तकको भी कारण कह सकते हैं इसी तरह और भी दूसरे दूसरे पदार्थ कारणोंमें गिनाये जासकते हैं। फिरभी इन सबको निमित्त नहीं आश्रय कहेंगे। उपादानसे अत्यन्ताभाव वाले होकर भी अन्वय व्यतिरेकके सम्बन्ध वाले नहीं हैं। वह सम्बन्ध ओंठ कंठ और तालु आदि से हैं इसलिये बोलनेमें येही निमित्त हैं। जो उपादान से तीनों कालों में जुदा रहे वे अत्यन्ताभाव वाले हैं। जैसे आत्मा से शरीर और कर्म वर्गणाए अत्यन्ताभाववाले पदार्थ हैं। क्योंकि इनका कभीभी आत्मामें प्रवेश नहीं होता। हम जिन संसारके पदार्थोंसे

कष्ट उठा रहे हैं वे सब हमसे अत्यन्तभिन्न हैं उनके स्वार्थमें थोड़ासाभी फरक पड़नेपर निसंवाद तैयार होजाते हैं। तोफिर उनकेलिये हम क्यों पचते रहें ? । बाह्य दृष्टि रखनेसे हम अपना सब खोदेते हैं, और अन्तर्दृष्टि रखनेसे अपना सब कुछ प्राप्त होता है। यह सबपर आप बीती बात है। पिता, पुत्रको किस आशासे पालता पोषता है ? लेकिन वह आशा किसकी कितनी सफल होपाती है ? सुखके बदले दुःख देने वाले होजाते हैं। इतनेपर भी होश नहीं आता और श्रद्धाको समाप्त नहीं करते तो फिर भविष्य अन्धकारमय ही समझिये। संयोगी चेतन वा अचेतन वस्तु अन्तमें दुःख देनेवाली ही होती है। इसमें थोड़ाभी संदेह करनेकी बात नहीं है क्योंकि ऐसा हम अपनी आंखोंके सामने हमेशा देखते रहते हैं, स्वयं हमारेपर ऐसी घटनायें घटती ही रहती हैं। संयोगी पदार्थोंमें यह बात भी सुनिश्चित है कि जितना वह प्रिय होगा उतनाही अधिक दुःखका होगा क्योंकि यह भी सुनिश्चित है कि संयोगी पदार्थका वियोग होता है, और जब संयोगसे रागके कारण सुख मानतेथे तो उसके वियोगमें अरतिका उतनाही दुख होता है। और राग स्वयं भी दुःख रूप है। फिर रागकी साधन सामग्रीमें जिन कारणोंसे बाधा पड़ती है उनमें द्वेष जन्य दुःख होता है सो सबके अनुभवमें आता रहता है। पर पदार्थ जो हमसे अत्यन्त भिन्न हैं हमारा कुछभी करनेमें समर्थ नहीं है फिर भी उनको निमित्त बनाकर हम स्वयं रागी द्वेषी और कामीक्रोधी होते रहते हैं। यहां तक कि मुनिराजका दर्शन समवशरण का दिव्यध्वनिका समागम आदि निमित्तभी सम्यक्त्व होने वालेकेलिये अत्ययं भिन्न ही हैं। इसलिये वे सब उसकेलिये अकिन्चितकर हैं। क्योंकि जब तक अरहत शरीर दिव्यध्वनी आदिपर दृष्टि रहती है तबतक स्वानुभव नहीं होता। फिर जगतके अन्य पदार्थोंसे तो हमारा कामही क्या निकल सकता है ? पूजा करते समय अरहंतकी मूर्ति, पूजनकी सामग्री, और पूजा बोलनेके स्वर लय आदि पर जबतक दृष्टि है तबतक स्वानुभूति नहीं है। और

जब इनसे उपयोग होकर स्वमें स्थिर होता है तब सहानुभूतिहोती है। तो पूजा वगैरह बाह्य संयोगोंको क्यों मिलाया जाता ? अशुभ निमित्तों को हटाकर जिन शुभ निमित्तोंके बाद स्वानुभूति होती है वह संयोग ध्यानमें आये बिना नहीं रहते, लेकिन दृष्टि जबतक उन संयोगोंपर रहती है तबतक स्वानुभूति नहीं होती।

आपको लड़केसे सुख मालूम हुआ तो समझना चाहिये कि यह हमारे सुख गुणके विभाव परिणमनसे हुआ है लड़के से नहीं। वह तो हमारेअसली सुखमें बाधकहुआ। औरभी,स्त्री आदि से होनेवाले सुखाभावोंमें भी ऐसाही विचारना चाहिये। किसीको १०००)रु० पानेका अधिकार है और वह १०) पाकर ही खुश होजाय तो उसे लोकमें मूर्ख कहाजायेगा, उसीतरह हमारे में निराकुल अनंत सुख है फिर भी बाह्य इष्ट निमित्त उस सुखको विकृत और क्षणिक रूपमें उपस्थित करतेतो उन इष्ट पदार्थोंमें और उस सुखभासमें आनन्द मनानाभी मूर्खता ही है। उसमेंतो यही विचारे कि यदि इनमें मेरी दृष्टि चक्रा गई तो मैं अपनी शांतिको खो बैठूंगा। बाह्यकी दृष्टि न करे तो इसे हरकोई करसकता है। यदि तदनुकूल आचरण नहीं करपाते तो न करें लेकिन श्रद्धा तो ठीक हो। असली सुखतो निमित्तों के छूटने से होता है। कोई कहेकि निमित्तोंके छोड़ देनेपर काम कैसे चलेगा ? तो भाई कामतो दुनियांके चलते ही रहेंगे, उनकी फिकर क्यों करता, हां तेरे विकल्प न चलेंगे, तब उनके रुकनेसे तू अपनी निधिको पानेका अधिकारी बन जायेगा। इसलिये लक्ष्यको सच्चा बनानेमें टोटे की गुंजाइश नहीं है। जिन्होंने अपना लक्ष्य नहीं बनाया वे किधर भटकते रहेंगे शायद इसकी खबर उन्हें नहीं है। संसारमें हमें यश मिल गया लोगों ने अच्छा कह दियातो उससे तुमको क्या लाभ हुआ ? इसकी इच्छा करना भी दुःखका कारण है। अतः सांसारिक पदार्थोंमें वा

अवस्थाओंमें आदरकी बुद्धि नष्ट करेंगेतो श्रद्धा साफ होकर मोक्ष अवश्य मिलेगा। पतंग बहुत दूर उड़ते रहने पर भी डोर अपने हाथमें रहनेसे अपने आधीन रहती है। उसी तरह श्रद्धा ठीक रहनेपर मोक्ष मार्ग हमारे हाथमें रहता है। पतंगकी डोरी जैसे अपने हाथमें न रहनेसे वह यत्र तत्र उड़ती और हरकोई उसे लूट लेते इसी तरह श्रद्धा रूप डोरी हाथमें नरहनेसे हमारे स्वभावको क्रोधादि लुटेरे लूटा करते हैं।

सारे संसारमें दुःख ही दुःख है। कोई किसीका नहीं है। जिन बाह्य पुत्रआदि पदार्थोंको हम अपना समझते उन्हें अन्य पदार्थोंकी तरह भिन्न और दूसरा समझें तो सुखी होजावें। ये सब पदार्थ अपनेसे अत्यन्त जुदे हैं सो प्रगट दीखता। हम फिरभी इनके पीछे लगते सो यह दुःख दिये बिना नहीं छोड़ते लेकिन वस्तुतः पर पदार्थ हमें दुःख नहीं देते 'हमारी इनमें जो मोहबुद्धि है वह ही दुःख की कारण है। पर पदार्थ हमारी सुख दुःख रूप अवस्था करनेमें समर्थ कैसे हो सकते हैं। उनमें तो अपनी ही अवस्थायें करनेका सामर्थ्य है पर.ौन क्या करसकता ? कुछ नहीं। पर कर्त्तृत्वबुद्धि हटादोकि मैंनेपुत्रको पालपोषकर बड़ा किया पढाया, लिखाया; भोगबिलासके साधन जुटाये। यदि कर्त्तृत्व बुद्धि न रहे तो दुःख क्यों हो ? पुत्रका तुम करही क्या सकते हो ! उसके पुन्यने ऐसा किया निमित्त तुम पड़गये। तुम नहीं होतेतो भी उसके उदयसे वैसा होता पान्डवोंके परिवारको देखो उन्होंने राज्य प्राप्ती के लिये लड़ाई लड़ी उसे प्राप्तकर उसका विस्तार किया उसका संरक्षण किया आखिरमें सब छोड़ छाड़कर जंगलमें चले गये। कोई मुनि होगयेतो कोई आर्यिकाहुई। अरे उसे छोड़नाहीथा तोक्यों लड़ाई लड़कर भाइयोंका विध्वन्स किया, और उनका समय उसमें व्यर्थ खोया ? लेकिन क्या किया जाय रागके सद्भाव में ऐसाही होता है परन्तु अन्तमें तो उसे छोड़ अपनी भूलको सुधार लिया किन्तु हमतो छोड़ने की भावना भी नहीं करते केवल जोड़ते ही जोड़ते हैं और भावना भी

शायद उसीकी करते हैं।

संसारके पदार्थ जो भाग रहे हैं वे स्पष्ट कह रहे हैं कि हम तेरे नहीं हैं फिरभी तू कहता है ये मेरे हैं, और उसके पीछे दौड़रहा है, तो दुःखी कौन होगा ? गतिकिसकी बिगड़ेगी ? पदार्थ तो कुछ नहीं कहते और न वे तेरे होते' न तेरे परिणामनसे होते तू ही व्यर्थकी कल्पनायें बनाकर बीमार होरहा है.। भैया एक रुई धुननेवाला धुनिया जहाजपर जारहा था उस जहाजमें कई मन रुई लदी थी उसे देखकर चिंतामें पड़ गया कि इस रुईको मुझेही धुनना पड़ेगा, इसीचिंतामें पड़गया, कई इलाज होनेपरभी अच्छा नहीं हुआ, लेकिन एक चतुर डाक्टरने बीमारी होनेसे पहिलेकी हालत उससे पूछी उसने जहाजकी घटना सुनाई डाक्टर उसकी बीमारीका कारण समझ गया और बोला उस रुईमें तो आग लग गई। इतना सुनतेही धुनिया चौंक पड़ा और बोला हें आग लग गई डाक्टर बोला हां, यह सब जलकर खाक हो गई। धुनिया उसी समयसे निश्चित हो गया और धीरे धीरे पूर्ण निरोगहो गया। मिथ्या दृष्टिभी उस धुनियाकी तरह व्यर्थकी चिंताओंका बोझ सिरपर लिए फिरता है। किसीका कुछ कर तो सकता नहीं सबअपनी परिणतिसे परिणम रहे फिरभी मुझे यह करना है वह करना है आदिमें फंसा रहता है, तब संसारका रोग उसके पीछे लगा रहता है ज्ञानी पुरुष उस संसारके व्यर्थ कर्तव्यका भाव कराते हैं, यदि वह इसे प्रतीति में लावे तो संसार रूपी रोग उसका नष्ट हो सकता है। समयग्दृष्टिका विचार सुलझा हुआ रहता है, चारित्रमोह सम्बन्धी जो रोग रहता है वहभी कालान्तरमें नियमसे उसके दूर हो जाता है और वह नियमसे पूर्ण स्वस्थ शुद्ध हो जाता है।

मोहके आश्रयभूत गृह धन कुटुम्ब और शरीरादिकी सत्ता व उनकी अवस्थाएं स्वयं उनकी परिणतिसे हैं, हमारा उनमें कुछ परिणमनका विचार बांधना निराभ्रम है, इसीलिए दुःखका कारण है। ऐसाविचार मजबूत करना चाहिये। जगतके पदार्थ तुमसे कुछ कराना

नहीं चाहते, लेकिन तुम जबरदस्ती करते हो। जैसे कोई वक्ता व्याख्यान करता है लेकिन श्रोता सुनना नहीं चाहते फिरभी वह बोलताही जाता है तो वह हंसीका पात्र होता है। इसीतरह संसारके पदार्थ तो तेरे करनेकी किंचित भी अपेक्षा नहीं रखते तू व्यर्थही उनके करनेमें अपनी शक्तिका दुरुपयोग कररहा है और मूर्ख कहलाकर हंसीका पात्र बनरहा है। ज्ञानियोंकी दृष्टिमें ऐसे लौकिक पुरुष हंसीके पात्र होते हैं। अज्ञानियोंकी गोष्ठीमें भलेही वह चतुर और बुद्धिमान समझा जाता हो। जैसे चोर मंडलीमें अधिक चतुराईसे चोरी करनेवालेको बड़ा और बुद्धिमान समझते। लेकिन सज्जनोंकी समझमें तो ऐसा चतुर नहीं, निन्दाका पात्र और दयाका पात्र दीन समझा जाता।

जगतके पदार्थ ऐसे हैं कि इनमें दृष्टि लगानेकी जरूरत नहीं है। अतः अपनेको निमित्तोंसे जुदा जानो नहीं तो चौरासीके चक्कर लगाते ही रहोगे। हमें अपनी लम्बी यात्राका खयाल रख, निमित्तोंकी दृष्टिको दूर करना चाहिये, नहीं तो कीड़े मकोड़ोंकी पर्यायमें पहुंचनेपर कुछभी कर सकनेकी सावधानी न रहेगी, और अन्ततो गत्वा निगोदमें अनन्त काल बिताना पड़ेगा।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होना कोई कठिन बात नहीं है। यह अपनेही गुणकी पर्याय है, और कभीभी अपनी भूलको दुरस्त करलेने पर होता है, इसलिये यह अपने ही आधीन है। अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करनेसे अनादिकी भूल दूर होकर सम्यग्दर्शन होसकता है और सारेदुःखों का अंत होसकता है।

पुराणोंमें ऐसे कई उदाहरण मिलेंगे कि फूलमें भौंरेको मरा देख विरक्त होगये। बादलकी मिटती हुई छाया देख, सिरके सफेद बाल और शरीर की झुरियां देख विरक्त होगये आत्मसाधनमें लगगये। हमें भी विरक्तता के ऐसे कारण मिलते ही रहते हैं, तब क्यों न अपने कल्याण करनेका भाव उद्दीप्त होना चाहिये। नहीं होता तो उसका कारण प्रबल मोहके

नशेमें बेहोश सोना है। जो निर्मलता (भावोंकी) बना चुके हैं या बनायेंगे वे तो वास्तविक धनी हैं। उन्हें आत्मामें अपार आनन्दका अनुभव प्राप्त होता है और जीवनके अन्तमें मोक्ष स्वर्ग वा भोगभूमिकी अतुल लक्ष्मी मिलती है। जो मिथ्यात्व और असंयमसे मलिन चित हैं वे इस पर्यायमें भी दुःखी हैं अनेक शोक उन्माद और क्लेशके शिकार होते रहते हैं, और जीवनके अंतमें नरक और निगोदकी दरिद्रता का दुःख भोगना पड़ता है। दरिद्रता और ऐश्वर्यकी पहिचान करना सीखो, तो भूल निकलनेमें देर न लगेगी। जगतके पदार्थ हमसे अत्यन्त अभाव वाले हैं उनसे कर्तव्यकी बुद्धि हटाकर अपनेमें-देखनेका प्रयत्न करो। तब मालूम होगा कि मैं न स्त्री हूं और न पुरुष न मूर्ख हूँ और न पन्डित। तो आगमभाव निक्षेपमें पुरुष हूं या नारकी हूँ वह पुरुष या नारकी है। किन्तु जो अपनेको शुद्ध चैतन्य मात्र अनुभव करता, या अनुभव करनेकी चेष्टा करता उसकेलिये संसारके पदार्थ क्या हैं? कुछ नहीं।

संसारके ये सब नाते रिश्ते झूंठे और स्वार्थपूर्ण चलरहे हैं। एक स्त्री अपने पतिसे कहा करे कि मैं तुम्हारे बिना क्षणभर भी नहीं रह सकती। पतिने परीक्षा लेनी चाही, तब एकदिन सांस रोक कर मुर्दा बनकर पड़ रहा। वह रात्रीका समय था स्त्रीने भोजन तैयार किया था। पतिकी यह हालत देख वह सोचने लगी खीर बनाई है खालें सवेरे रो लेंगे। ऐसा सोच भोजन कर सोगई। सवेरा होतेही रोना पीटना शुरू कर दिया। पति उसकी यह लीला, देख दंग रह गया, और अंगड़ाई लेते हुये उठकर बोला कि देखलिया तुम्हारा स्वार्थी ढंग। इसी तरह पुरुषभी स्त्री से किस नीचता पूर्ण ढंगसे स्वार्थी सिद्ध करते हैं, उसके दुःखको दुःख नहीं समझते। अपने सुखके पीछे उसके जीवनकी होली कर देते हैं। पुत्र पिताको ठोकरें देकर उससे धन छीन स्वयं राजा और मालिक बन बैठता है। पिता अपने सुखके लिये ही उसका लालन पालन आदि करता है। कहांतक कहा जाय ससार का नाता स्वार्थसे भरा पड़ा है।

स्वार्थ न सधनेपर कौन शत्रु नहीं होजाता ? सो सब हमारे सबके सामने है। यह कोई भुलावा देकर फंसानेकी बात नहीं है कमसे कम इसे तो अच्छी तरह देखो। जिसे देख करकेभी नहीं देख रहे हो। जिस संसार का सारा चित्रपट तुम्हारी आंखोंके सामने दुःख स्वार्थ और अनित्यता का प्रदर्शन करता रहता है। उसे तुम उसी रूपमें देखनेका अभ्यास क्यों नहीं करते। उसमें की सारी मूल शिक्षाको छोड़ उसके निःसार झगड़ेही ग्रहण करनेके आदि क्यों बने हुये हो। यदि संसारके इन पदार्थों परसे परदा हट जाय और इनकी वस्तुस्थिति सामने झलकने लगे तो फिर आत्माका भी दर्शन हुये बिना न रहेगा। अथवा इनको देखनेकी जरूरत ही क्या अपने को देखो, अपने महान ऐश्वर्यको देखो, अपनी परिणतिको देखो तो सब कुछ देखलिया। कहाभी हैं कि—

एकहि साधे सब सधै सबसाधेसबजाय। जो तू सींचे मूलको फूले फले अघाय॥ एक निज उपादानका प्रधान लक्ष्य किये जावो शांति अवश्य मिलेगी। उपादान निमित्तके प्रकरणमें निम्न प्रकार बातें समझना—

१ जिसमें कार्य होता है अर्थात् जिसकी वह अवस्था है वह उपादान है।

२ वह द्रव्य ही उपादान नहीं क्योंकि वह तो त्रैकालिक है परन्तु विशिष्ट कार्य योग्यता तो कार्य होनेके पहिले समयमें है।

३ निमित्त वे हैं जिनका अन्यकीय कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है।

४ निमित्त पर पदार्थ ही होते हैं अतः उनका उपादानमें अत्यन्ता भाव है

५ निमित्त नैमितिक सम्बन्ध एक विलक्षण सम्बन्ध है क्योंकि अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ हैं सोकोई किसीके स्वरूपको छू भी नही सकता फिर भी निमित्त बिना कार्य नहीं देखा जाता।

इन सब बातोंके अन्तमें यह श्रद्धा कराई जाती है कि प्रत्येक वस्तुकी परिणति उसकी वस्तुसे उठती है। उपादान निमित्त पाकर अपना कार्य करता है यहभी उपादानका एक स्वभाव है।

अब उपादानोंके विशद वर्णनके लिये कुछ दृष्टान्त कहेंगे —

यथा रागदेरुपादानमशुद्धपरिणतो जीवः॥ १४ ॥

जैसे रागादिका उपादान कारण अशुद्ध अवस्थासे परिणत हुआ जीव है। रागादिमें अशुद्ध अवस्था वाला उसके पूर्वक्षणवर्ती आत्मा उपादान कारण है। उपादान कारणको समझनेकेलिये कार्यको ध्यानमें लाना चाहिये। कार्य सादिसांत होता है। जैसे घड़ा एक कार्य है। वह किसी समयसे हुआ है, और किसी अवधि तक रहेगा, यानि उसकी आदि है और अन्त भी है। इसीतरह राग द्वेषादि किसी क्षण से शुरू होते हैं, और किसी समय तक रहते हैं। परम्परासे रागादिको आत्माके कहे जाते। लेकिन उस क्षणवर्ती रागता उसी समय खत्म होजाता है यहांतक कि एक समयवर्ती राग दूसरे समयमें नहीं रहता राग आत्माकी वैभाविक पर्याय है और पर्याय एक समयवर्ती होती है। इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षी क्रोध और मान आदि द्वेष रूप कषायें भी लोभ माया आदि राग रूप कषायें बदला ही करती हैं। सब कषायें एक बार एकसाथ कभी नहीं होतीं, एक समयमें एकही कषायके परिणाम हो सकते हैं। कर्मोंके उदयमें वैभाविक पर्याय प्रतिसमयवर्ती होती हैं और कर्मोंको नष्ट करदेनेपर स्वाभाविक अर्थ पर्याय प्रतिसमयवर्ती होती है। इसतरह कोई भी पर्याय हो सादि और सांत है। सिद्धपर्यायमें वह सादृश्यस्वभाव रूपसे रहती है। तो यहां रागादिका उपादान कारण क्या है? यदि आत्माको कहें तो क्या हानि है? आत्मा सामान्यके रागादि पर्याय कहनेपर सिद्ध अवस्थामें भी उसका सद्भाव मानना पड़ेगा क्योंकि आत्मा सामान्य तो वहां भी है। लेकिन त्रैकालिक समस्त पर्यायोंमें आत्माके रागादि होनेकी योग्यता नहीं है। यह योग्यता उसके पूर्ववर्ती पर्यायके समय ही होती है। जैसे घड़ा बननेमें मिट्टी सामान्य कारण नहीं है, घड़ा बननेके पूर्व क्षणवर्ती मिट्टीमें वह योग्यता है। सूखी मिट्टी या और दूसरी पर्यायोंमें घड़ा बनने की योग्यता नहीं

है । लेकिन घड़ा बननेमें उपादान कारण मोटे रूपमें मिट्टीको कह देते हैं। रोटी बननेकी योग्यता सामान्यतया गेहूँमें कह सकते हैं लेकिन विशेष रूपसे उस गुंदे हुये आटेकी लोई रूप पर्यायमें रोटी बननेकी योग्यता, है जिसके तुरन्त बाद रोटी रूप पर्याय होना है।

योग्यता दो प्रकारकी होती है-१ सामान्ययोग्यता, २- विशेषयोग्यता सामान्ययोग्यता विशेषयोग्यताका आधार है और विशेषयोग्यता कार्यका कारण है। इसमें सामान्ययोग्यता कार्यकी नियामिका नहीं है परन्तु विशेषयोग्यता कार्यकी नियामिका है । विशेषयोग्यता सम्पन्न द्रव्य अपने कार्यका उपादानकारण है।

तो रागादिका उपादान आत्मा सामान्य न कहकर राग पैदा होनेके पूर्वक्षणवर्ती विशिष्ट आत्माको कहना चाहिये वहां उस विशिष्टतासे पूर्व क्षणवर्ती अवस्थाको माननेका प्रयोजन है।

प्रत्येक द्रव्यकेलिए यह नियम है कि पूर्वपर्यायसहित द्रव्य उत्तरसमयवर्ती द्रव्यके उपादानका कारण होती है । तो रागादिका कारण उसके पूर्व अवस्था वाला अशुद्ध आत्मा उपादान है। यह विशेष योग्यताकी अपेक्षासे वर्णन हैं।

लेकिन सामान्य हम आत्माकी पहिचान करना चाहेंगे तो यह नहीं कहेंगे कि जो रागादिमान हो वह आत्मा है । ऐसा कहनेपर सिद्धोंको आत्मा नहीं कह सकेंगे या उनमें अरागादि मानना पड़ेगा। तो यह पहिचान अव्याप्ति दोषसे दूषित हुई। यदि आत्माकी पहिचान अमूर्तीकपनेसे करें तो भी ठीक नहीं, यहां अतिव्याप्ति दोष आता है। आकाशादि भी अमूर्त हैं, अतः वे भी इस पहिचानसे आत्मा कहलावेंगे यदि रूप रस गंध स्पर्श सहित मूर्तीकपना आत्माकी पहिचान मानें तो यह असंभव दोषसे दूषित है । क्योंकि आत्मामें रूप रसादिका सर्वथा अभाव है । आत्माका लक्षण तो चैतन्य भाव है इसमें कहीं दोष नहीं है ।

कार्यकी अभिन्न षट्कारकता जहां पाई जावे वह उपादान है और भिन्नकारकता जहां पाई जावे वह निमित्त कारण होसकता है। रागादि विभावमें पूव अशुद्ध आत्माकी अभिन्न षट्कारकता घटती है अतः वह ही उनका उपादान है। जैसे— रागादि किसने किया अशुद्ध आत्माने, अशुद्धआत्मा किसको राग करता है? अशुद्ध आत्माको क्योंकि उस रागादिका फल अशुद्ध आत्मापर ही पड़ता है। रागादि होनेमें साधकतम कारण क्या है? अशुद्ध आत्माका वह राग,राग किसके लिये होता है? अशुद्ध आत्माके लिये, क्योंकि एकका भाव दूसरे पदार्थके लिये नहीं होता। वह राग किससे हुआ अशुद्धात्माकी अशुद्ध पर्याय परम्परासे हुवा। और वह किसमें हुआ तो अशुद्ध आत्मामें हुआ इस तरहके कारक रागादि होनेमें अशुद्ध आत्मामें अभिन्नतापूर्वक घटते हैं, अतः वह ही रागादिमें उपादान कारण है,। अथवा अभिन्न अपादान उपादान कारण है।

इसीतरह सुख दुःखादिका भी कर्ता कर्म आदि षट्कारकत्व अपनेमें ही घटता है, अतः वहही उनका उपादान है। तो जो कुछ देखो अपनेमें देखो। जब भीतर देखनेका अभ्यास हो जायेगा, तो फिर इन अशुद्ध पर्यायोंसे भी परे शुद्धद्रव्यका अवलोकन होनेमें कठिनता न रहेगी। तब दुःखका उन्मूलन होनेमें क्या देर लगेगी? दुःखी तो अपने आपकी दृष्टिको परमें थोपनेसे है। आत्मामें रागद्वेष और सुख दुःखादि होनेमें दुःख क्या है? कर्म। कर्म, कार्माण वर्गणाओंसे बने हुये पुद्गल द्रव्य हैं। अन्य स्थूल पुद्गल स्कन्धोंके समान उसके भी अणु होते हैं। अनंत अणुओंके सूक्ष्म स्कन्ध बनजाते हैं, जिनको हम देख नहीं सकते। आत्माजब रागादि करता है तो कर्म बनने योग्य पुद्गल वर्गणाएं विस्रसोपचय कार्माण वर्गणाएं कर्म रूप होजाती हैं, अर्थात उन वर्गणाओंमें जीवकी उस तरहकी परिणति से जीवके गुणोंका आवरण करनेकी या दूषित करनेकी निमित्त रूप शक्ति आजाती है।

कषायके निमित्तसे पौद्गलीक कार्माण वर्गणाएं जब कर्मरूप

होती हैं तो उनमें आत्माके विभिन्न गुणोंको घातनेवाली विभिन्न प्रकृतियोंका बटवारा होजाता है। किस तरहके फल देनेवाले कर्मोंके प्रदेश, उनके फल देनेका समय और फल देनेकी तरतमतारूप विभाग भी सारे कर्मोंके विभिन्न प्रकारके हो जाते हैं। फिरभी वे व्यवस्थित रूपसे होते हैं और यह व्यवस्था कषाय और योगोंके निमित्तोंपर निर्भर है। जिस समय जिस तरहके कषाय योग होंगे उस समय उस तरहके, उतने प्रदेशवाले, उतनी स्थितितक उतना फल देनेवाले, कर्म बंध जाते हैं। जैसे खाये हुये भोजन विशेषसे उस तरहका खल, रस और रुधिर आदि, परिणमन व्यवस्थित रूपसे अपने आप हो जाता है। पदार्थोंका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसाही है, कि उस निमित्तसे उस तरहके नैमित्तिक पदार्थमें उस तरहका परिणमन होज ाता है। जगत की सारी व्यवस्था वस्तुके अपने उपादानसे और निमित्तोंके संयोगसे व्यवस्थित चलती रहती हैं।

क्रियते-इतिकर्म, अर्थात् जो किया जाता है वह कर्म कहलाता है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार आत्मा क्या करता है जिसे कर्म कहा जाव ? तो उत्तर होगा शुद्ध आत्मा शुद्धभावोंको करता है और अशुद्ध आत्मा रागादि करता है, अतः शुद्धजीव की अपेक्षा वतिरागताके भाव आत्माके कर्म हुये और अशुद्धजीवकी अपेक्षासे रागादि होने के कारण रागादि उसके कर्महुये। लेकिन इनरागादिके निमित्तसे पौद्गलीक कर्माण वर्गणाओंमें विशिष्टता आजाती इसलिये उपचारतः कर्मकेद्वारा किये हुये होनेसे इन्हेंभी कर्म संज्ञा प्राप्त होगई। कहीं २ उपचारसेभी नाम पड़जाता है ऐसे पौद्गलीक द्रव्य कर्म-रागादिकेलिये निमित्तरूप होते हैं। जबकि इनमें कर्मत्वशक्ति रूप परिणामनके लिये आत्माके रागादि भाध निमित्त रूप थे।

आत्माके रागादि भावोंकेलिये निमित्त रूप इन कर्मोंके उदयको रोका भी जासकता है, या बदला भी जासकता है। सम्यग्दशन होनेपर यह कार्य सरलतासे होता रहता है। बहुतसे कर्मोंके उदय

सम्यग्दृष्टिके लिये छाया रूपमें होना अवश्य है पर वह उसे अनुभव नहीं करता। पापका उदय होनेपर भी सम्यग्दृष्टि पापात्मा नहीं बन जाता। क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि पापका उदय आनेपर आत्मामें पापरूप भाव होवें ही होवें। यहतो जीवकी अपनी २ योग्यतापर निर्भर है। मिथ्यादृष्टिजीव पापके उदयमें संक्लिष्ट परिणामों को करके फिरभी पापात्मा बनता और पुण्यके उदयमें भी मूर्छा और रति आदि पाप परिणामों से पापात्मा बनता रहता है जबकि सम्यग्दृष्टि पापके उदयमें ज्ञान रूप— पुण्यरूप परिणामोंसे पुण्यात्मा रहता है और पुण्यके उदयमेंभी मूर्छा वा रती आदि पापभावोंका अभाव होनेसे पुण्यात्मा रहता। तब यह सब खेल निमित्ताधीन न होकर उपादानकी प्रबलतासे हैं। मिथ्यादृष्टि एकही क्षणके अत्यन्त कुटिल परिणामोंसे ७० कोड़ाकोड़ी स्थितिवाले मोह कर्मको बांधलेता है जबकि सम्यग्दृष्टि एकही क्षणमें अनंतफलवाले असंख्य वर्षोतक रुलानेवाले अनंतकर्मोको एकही क्षणके शुद्ध परिणामोंसे क्षीण करदेता है।

तब निमित्तोंकी तरफसे दृष्टिको हटाकर अपने उपादानकी ओर लानेकी जरूरत है। जिससेकि साराकाम सुधरता है।

हम निमित्तोंमें उलझे रहते हैं जिससे कि उनमें हमको रुलाने की निमित्त शक्ति मजबूत होती रहती है। यदि निमित्तोंसे चित्त को हटाकर उपादानकी ओर लावें तो निमित्त बलात् हमारा कुछ नहीं कर सकेंगे।

और निमित्तभी मिलाओ तो ऐसे जो हमारी शुद्ध अनुभूतिके लिये बीचमें पड़ते हों। शुद्ध स्वरूपके अनुराग रूप अरहंत और सिद्धोंके प्रति जो भक्ति होती है, पूजा होती है, उसमें कभी कभी पूजक और पूज्यका भी भेद मिटकर दोनोंमें एकाकारता स्थापित होजाती है अपना आत्माही भगवानके रूपमें अनुभूत हो जाता है। अरहंतादि पन्चपरमेष्ठीके प्रति भक्तिका सम्बन्ध मित्र रूपमें भी चलता है। इसी लिये भक्त भगवानसे अपनी सब कुछ कहनेके लिये और उनकी

सब कुछ सुननेके लिये तैयार रहता है, यानि हमें अपना उपयोग शुद्ध तत्त्वकी ओर लगानेकी प्रबल प्रेरणा करना चाहिये। रूचि संसार के वैभवकी न कर आत्मवैभवकी करना चाहिये। मनुष्य भव और सर्वज्ञके बचन मिलनेका यह सुअवसर गया तो फिर ऐसा सुयोग मिलना सुलभ न होगा। और दुर्गतियोंके दुखमें अनंत काल तक भटकना पड़ेगा। निमित्त अथवा रागादिका जानना उससे हटनेके उद्देश्यसे होना चाहिये। रागादिका ज्ञान निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, और विधानसे जानना चाहिये। रति रूप परिणाम को राग कहते हैं द्वेषकी स्थितिमें भी मूल राग जीवके होता है। रागादिके स्वामित्वके विषय में अनेक विकल्प हैं। ये कभी आत्माके, कभी कर्मके, कभी दोनोंके जाने जाते हैं और कभी ऐसा मालूम पड़ता है कि ये किसीके नहीं हैं। इन मान्यताओं का कोई न कोई आधार है। जैसे—आत्मस्वभावपर दृष्टि देते हैं। तो रागादि आत्माके मालूम नहीं पड़ते क्योंकि ये उसके स्वभाव में नहीं हैं। कर्म के स्वभाव पर दृष्टि देते हैं। तो ये कर्मके भी मालूम नहीं पड़ते क्योंकि रागादि कोई गुण या पर्याय नहीं हैं। लेकिन जब द्रव्यकी परिणतिपर विचारते हैं, तो मालूम पड़ता है कि ये आत्माकी वैभाविक परिणति अर्थात् वैभाविक पर्याय हैं। तब आत्मा के हुए। लेकिन आत्माके हैं तो हमेशा रहना चाहिये सिद्ध अवस्थामें भी रहना चाहिये सो रहते नहीं तब इतना निर्धार अवश्य होता है कि ये आत्मा में कर्मके निमित्तसे होते हैं। उनके होनेपर होते हैं। नहीं होनेपर नहीं होते अतः दोनों के कहलाये यहां दृष्टिकी सावधानी रखना चाहिये। (वस्तुतः जब ये आत्माके नहीं हैं कर्मके निमित्तसे ही होने वाले विकार हैं तो भी मिथ्या दृष्टि इनको अपने ही मानता रहता है।) ये तो अशुद्ध निश्चय नयसे देखनेपर आत्माके हैं। क्योंकि रागी, द्वेषी, दुखी सुखी आत्मा ही होता है। कर्म—दुःखी सुखी नहीं होते। ये आत्माके चतुष्टयसे होते हैं इसलिये उसके हैं। लेकिन शुद्ध निश्चय नयसे विचारनेपर ये उसके स्वभावमें नहीं रहते सो आत्माके नहीं हैं। नहीं तो सिद्धों में भी

पाये जाने चाहियें सो होते नहीं।

अतः रागादि आत्माके ही हैं यह दृढ़तासे नहीं कहसकते। तब दोनों के हैं क्या? प्रश्न उठनेपर कह सकते हैं कि हां दोनोंके हैं क्योंकि दोनोंमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु दो द्रव्योंकी मिलाकर एक पर्याय नहीं हो सकती इस सिद्धान्तपर दोनोंके नहीं हो सकते। जैसे दर्पणके सामने रखी हुई चीजका प्रतिबिंब है, और उस प्रतिबिंब में चेष्टा दीखती है परन्तु वह दर्पणका नहीं है वह दर्पणमें दीखरही चेष्टा सामने वाली चीजकी भी नहीं क्योंकि उसकी चेष्टा उसीमें है, दूसरे पदार्थमें कैसे जायेगी। लेकिन उस वस्तुके संयोगसे वह प्रतिबिंब है इसलिये उसका कहनेका आरोप होता है। वह प्रतिबिंब दर्पणमें है इसलिये दर्पणके कहनेका भी आरोप है। किंतु संयोगी दृष्टि हटाकर स्वभावसे विचारें तो यह प्रतिबिम्बित अवस्था उसके स्वभावमें नहीं हैं इसलिये उसकी नहीं है।

इसी तरह हमारे कहनेका असर आपपर जो है वह आपका ही है। अन्यथा मिट्टीके पुतलोंपर भी वह असर होना चाहिये था। परन्तु हमारे निमित्तसे है इसलिये हमारा कहनेका उपचार है।

इसीतरह रागादि आत्माका ही असर है कर्मका नहीं। वह आत्मा के चारित्र गुणका विकार हैं उसमें कर्मोदय निमित्त होनेसे उपचारकरके कर्मका कहा जाता है। किन्तु विकारी परिणमन कोई न कोइ निमित्त पाकर होता है। अतः जब निमित्तपर लक्ष्य होता है तब इसका कहा जाता है।

प्रत्येक पदार्थके विकारी परिणमनमें संयोगसे होंनेवाले परिणमन में यह प्रक्रिया घटित करना चाहिये।

अब उस रागादिका निमित्त बतलाते हैं—

निमित्तानि च कर्माणि ॥ १३ ॥

रागादि भावके निमित्त कर्म हैं। निमित्तके सम्बन्धम पहिले

विस्तृत वर्णन हो चुका है। अब रागादिभावोंके स्वामित्वको अर्थात ये किसके हैं इस बातको दर्शाते हैं जिससे नय व उपादान निमित्तकी बातेंभी सहज स्पष्ट होजाती हैं—

रागादयोऽशुद्धनिश्चयेनात्मनः ॥ १४ ॥

रागादिक भाव अशुद्धनिश्चयसे आत्माके हैं। यहां आत्मा कहते ही अशुद्ध आत्मा समझना चाहिये। यहां उस ही द्रव्यका कार्य उस ही द्रव्यमें कहा जारहा है किसी द्वैतपर दृष्टि नहीं है अतः तो निश्चय है परन्तु अशुद्ध अवस्था और अशुद्ध आत्माको देखा जारहा है अतः अशुद्धनयहै। इस प्रकार यह अशुद्धनिश्चयनय है। इस अशुद्ध-निश्चयनयकी दृष्टिमें रागादिक आत्माके हैं अब अन्य दृष्टियोंसे रागादिकका सम्बन्ध प्रकट करते हैं—

निमित्तपेक्षया व्यवहारेण वा कर्मणाम् ॥ १५ ॥

रागादि निमित्तकी अपेक्षा अथवा व्यवहारनयसे कर्मोंके हैं। क्योंकि निमित्तोंके होनेपर ही होते हैं उनके नहीं होनेपर नहीं होते। यद्यपि आत्माकी परिणतिसे हैं, किन्तु स्वभावसे नहीं, तो जिनके होनेपर वह हो न होनेपर नहो वे उसके हैं ऐसाभी व्यवहारका न्याय है। व्यवहारनय एक वस्तुके सम्बन्धको दूसरेमें जोड़ता है। यहां स्वामीपनेको लिये हुये व्यवहानयका प्रकरण है। कोई सम्बन्ध होनेपर ही व्यवहार चलता है। यदि सम्बन्धकी दृष्टि न रखी जाय तो व्यवहार नहीं चलता। रिश्तेदारी में तथा अन्य व्यवहारमें भी यही होता जब किसीसे कह देते अब हमारा आपका कोई सम्बम्ध नहीं तो फिर उनमें व्यवहार नहीं चलता। जैसे घीके सम्बन्धसे घीका घड़ा कह दिया जाता है। और जैसे किसी सेठके घरका मल साफ करनेसे वह भंगी अपनी गोष्ठीमें कहता कि यह हवेली हमारी है सेठ अपनी हवेली कहता और उसीकी भंगीभी अपनी कहता तो अपने २ संबन्धकी मान्यतासे उसतरह कहते हैं। अशुद्ध निश्चयसे उसीमें ही विकारको कहा जाता और व्यवहारसे

अन्यका अन्यमें कहा जाता।

यहां विभावों का स्वामी कौन है ? सो बतते हैं। जैसे:—अपने पुत्रके जुआरी बननेपर मां कहती है कि मेरा पुत्र तो जुआरी नहीं है दूसरे लड़केने यह आदत बनादी। इसी तरह हमारी आत्मा रागादिमान नहीं है, परन्तु कर्मोंका राग लग गया। इसी निमित्त से उसे रागी कहने लगे। तो पतेकी बात क्या है ? जब हम देखते दर्पण के सामने बालक आये तब दर्पण में प्रतिबिम्ब हुआ तो वह प्रतिबिम्ब लड़केका है इसी तरह कर्मविपाक जब सामने आया तब रागादि हुए अतः रागादि कर्मों के हैं। यह निमित्त अपेक्षासे वर्णन है। व्यवहार नय से रागादि कर्मके हैं निमित्तापेक्षा व्यवहारनयमें ही होती है।

अब शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा प्रश्न होता है कि इस दृष्टिसे किसके हैं उसका उत्तर देते हैं।

शुद्धनिश्चयेन सन्त्येव न॥ १६ ॥

शुद्ध निश्चयनयसे रागादिक है ही नहीं, निजी स्वभावसे शुद्ध उपादान से देखनेपर वहां मलपर दृष्टि ही नही, जाती। जैसे शरीरका एक्सरा लेनेपर वहां तो भीतरके अवयवका फोटो आता हैं, चमड़ा खून चर्बी आदिका आकार ही नहीं छूता। शुद्ध निश्चनय शुद्ध स्वभावको ही देखा है जैसे- प्रतिबिम्ब जिसमें पड़रही है ऐसे दर्पणको केवल दर्पणके स्वभावसे देखें तो प्रतिबिम्ब उसका नहीं है। इसीतरह जब अपकी दृष्टि पर्यायपर नहीं, द्रव्य पर है तो उस समय पर्याय नजर न आवेगी द्रव्य ही दीखेगा।

एक वृक्षकी छायापृथ्वी पर हुई। तो वृक्षकी छाया है यह निमित्तकी दृष्टिसे कहा गया। वह छायारूप परिणमन पृथ्वीका है। यह अशुद्ध निश्चयसे अशुद्ध उपादानका खयाल करनेसे हुई। लेकिन जब पर्यायपर दृष्टि न जाकर द्रव्यपर य द्रव्यके स्वभावपर दृष्टि जाती है तब वह छाया पृथ्वीकी भी नहीं। वह तो वृक्षको निमित्तसे पृथ्वीकी अशुद्ध

भिन्न अवस्था है। तब छाया न वृक्ष की न पृथ्वी की, तो छाया क्या कोई असत् है। हां शुद्ध दृष्टिसे वह असत् है लेकिन जिन्हें वह दृष्टि प्राप्त नहीं हुई जो पर्यायपर—छायापर ही दृष्टि लगाये हैं उनकेलिये तो वह असत् नहीं, सत ही है यान गिरनेको गर्त ही है।

इसीतरह ज्ञानी आत्मा जब शुद्धपर दृष्टि करता है तब रागादि आत्माके नहीं मालूम पड़ते उसके लिये तो वे असत् ही हैं। क्योंकि उसकी दृष्टि तो उन पर है नहीं तो अनुभवमें उसके शुद्ध द्रव्य आने पर उसकी दृष्टिसे वे रागादि असत् ही हैं।

बटलोईमें पानी गरम हुआ, तो वह गरमी किसकी है? पूर्वोक्त प्रकारसे चारों बातें उसमें बिचारना। लेकिन वस्तुतः उन चारोंमें से द्रव्य दृष्टि ही आदरने योग्य है। पर्यायदृष्टि तो बुद्धिको खराब करती है। दिमागको ठीक सही निर्विकल्पमें ले जानेकेलिये द्रव्यदृष्टि रखना योग्य है। रागादिका आत्माके साथ शुद्ध नयसे षटकारत्व नहीं घटता' क्योंकि शुद्ध नयसे आत्मा शुद्ध भावोंका ही कर्ता है अशुद्ध रागादि भावोंका नहीं। रागादि आत्माका कर्म भी शुद्ध नयसे नहीं है तथा, और दूसरे कारकभी शुद्ध नयसे आत्माके साथ रागादिके नहीं हैं।

आत्माकी शाश्वत शांतिका उपाय यह है कि अपना उपयोग पदार्थ की शक्तिपर लगावें व्यक्तिपर नहीं। ज्ञानी जीव वही हैं जो अपने स्वभावको नहीं भूलते। स्वभावपर दृष्टि रखतेहुये जो शुभ क्रिया ज्ञानीकी होती है उसमें उसकी ममता नहीं होती। उसके व्रत तप त्याग और परोपकार निदान रहित होते हैं, उसमें उसकी कर्तृत्विबुद्धि नहीं होती जैसे मां बच्चेको हौवाके नाम से डराती है। लेकिन हौवा क्या चीज है यह तो न माँ जानती है और न लड़का वह कोई चीज नहीं डरानेके लिये केवल एक कल्पना बनाली गई है। इसी तरह रागादि भी नैसर्गिक दृष्टिमें कुछ नहीं है। जिसके दिलमें हौवा (भयावनी चीज)

का ध्यान होता है उसीको डर लगता है। और जिसके मनमें वह नहीं होता उसको डर नहीं। उसी तरह रागादि मेरे हैं यह जिसके मनमें बैठा हुआ है, उसके लिये वह है। ज्ञानीके लिये नहीं।

सो सारा भार अशुद्धताकी मान्यताका हटा दो। प्रवृत्ति बदलनेका मूल उपाय दृष्टि सुधारना है। देखो ज्ञानी प्रतिपदमें ज्ञानमय भाव करेगा और अज्ञानी शुभ क्रियायें करके भी परिणाममें अज्ञान हीं करेगा। और क्या करेगा? तो अज्ञान मिटाओ फिर सारे कार्य अच्छे होंगे।

इसकेलिये दो चित्रकारोंका उदाहरण विचारिये—

एक राजाके यहां दो चित्रकारोंने चित्रकलाका कार्य प्रारम्भ किया। राजाने घोषणा की कि दोनोंमें जिसकी चित्रकला उत्तम होगी उसको अच्छा पुरुष्कार मिलेगा। दोनों चित्रकार दिवालके दोनों तरफ अपने कार्य करनेमें जुट गये और बीचमें परदा डाल दिया ताकि एक चित्रकार दूसरेका कुछ देख न सके। इस कार्यकेलिये उन्हें ६ माहका समय दिया गया। इन छह माहोंमें एकने अपनी दीवालपर कलाका सुन्दरतम नमूना पेश करनेमें अपनी चतुराईभर कार्य किया। और दूसरेने अपनी दीवालमें चित्र नहीं बनाए बल्कि दिवालको अनेक सचिक्कण और पारदर्शक पदार्थोंसे चिकना और दर्पणके समान निर्मल बनाई ६ माह समाप्त होनेपर बीचका पर्दा निकाल दिया गया। और दोनों तरफकी कलाओंकी तुलना होने लगी। जिस दीवालको अत्यन्त चिकणा दर्पणके ज्यों बनाया गया था उसमें सामने वाली दिवालके चित्र प्रतिबिंबित होते थे और दीवालकी कांतिसे उनमें विशेष कान्ति और सुन्दरता झलकती थी अपेक्षा कृत चित्रित दीवालके। राजाने इसकी कलात्मकताकी प्रसंसा की और अच्छा पुरुष्कार भेंट किया।

ठीक इन दो चित्रकारोंके कार्यके अनुसार ज्ञानी और अज्ञानी में भी अन्तर है। अज्ञानी संसारके अनेक चित्र अपनी चतुराई माफिक बनाता रहता है। और ज्ञानी अपनी आत्मभूमिको साफ करता रहता है। जिसमें कि तीन लोकके चित्र उपेक्षित रूपसे प्रतिबिम्बित हो

सकते हैं। जिस चित्रकी निर्मलतासे केवलज्ञानका उदय होता है। जो व्यक्ति केवल परोपकार आदि बाह्य क्रियाही करता रहे और आत्माका चिंतवन न करे तो उनसे वह कार्य अलौकिक नहीं हो सकता। जिनका चित्त आत्मशोधनामें नहीं लगता उनसे काम अच्छा नहीं होता।

तब चित्तको मिथ्यात्वकी वासनासे रहित निर्मल बनानेके लिये रागादिके प्रति विचारना चाहिये। रे विकार! हटो। तुम हमारे नहीं हो और धन सम्पत्ति परिवार आदि तो प्रगट भिन्न ही हो। हमारा इनमें लेशमात्र भी कुछ नहीं है। हमारे द्रव्यके असाधारण गुणोंमें से एक भी इनमें नहीं है। हमारे परिणमनकी एक भी पर्याय इनमें नहीं है। भ्रमवश अनादि कालसे इनको मान रक्खा था लेकिन अभी तक ये अपने हुए नहीं और न आगे होनेकी आशा भी की जा सकती है। एक द्रव्य दूसरे रूप होजाय ऐसी कोई शक्ति द्रव्यमें नहीं है। केवल मोहवश मिथ्या कल्पनासे ऐसा भ्रम करते आये थे और इस भ्रमने हमारे लिये हमेशा टोटेमें रक्खा। हम अपनी अतुल विभूति से हमेशा खाली रहे। लेकिन इस भूल को अब न दुहरावेंगे। अब और अधिक टोटेमें चलनेकी मूर्खता न करेंगे। ये अहित इन्द्रियजन्य विषय सुख परिस्थिति जन्य विकारके कार्य हैं। वे हमारे नहीं। वे तो दूर ही रहो। वें जब हमारे नहीं तो उनमें छोड़नेका प्रश्न ही नहीं उठता।

मूर्च्छाके छूटने पर यह सब स्पष्ट प्रतीत होता। एक व्यक्ति ने देखा (स्वप्न में) कि मुझे दो तीन हजार रुपयों की थैली मिल गई है उसको कंधे पर रक्खे हुए हैं। रक्खे रक्खे कंधा दुखने लगा है। इतने में ही नींद खुली तो न वह थैली है न रुपये, और न कंधे पर भार किन्तु ढोनेका दुःख अब भी है, वह भार तो पहिले भी नहीं था लेकिन स्वप्न की कल्पना में झूठ मूठ ही बना लिया था और इसी लिये दुःखी हो रहा था। जब वह झूठी टोटकी कल्पना मिट जायतब दुःख भी हट जाय इसी तरह संसारी प्राणी व्यर्थ ही संसारकी ममता और राग आदिका भार लिये फिरता है और उससे दुःखी होता है। यदि मोह रूपी निद्रा

टूटे, अपनेका भान हो तो यह व्यर्थका भार हट जाय और सुखी होजाय स्वप्नका दुःख जागने पर ही दूर हो सकता है इसी तरह मोह निद्राका दुःख तो उसके नष्ट होने पर ही दूर हो सकता है।

किसी भी वस्तुको समझनेके लिये उसका स्वरूप, वह किसके होता है उसके साधन क्या हैं याने वह किन कारणोंसे होता है उसके रहनेका आधार कौन है वह कब तक रहता है और वह कितने प्रकार का है इन बातोंका विचार करना आवश्यक होता है।

तब रागादिको समझनेके लिये इन सब बातों का विचार करना चाहिये। इनके विचारके लिये भी दो दृष्टियां होती हैं एक सम्बन्ध की और दूसरी सम्बन्ध रहित शुद्धकी। सो रागादिमें सम्वन्धकी दृष्टि से विचारें तब तो ये रागादि आत्माके विकारी भाव हैं। इनके स्वामी हैं संसारी योद्धा-जो इनसे हमेशा पछाड़ खाते हुए भी कभी उनसे हार नहीं मानते। ये राग द्वेष के क्लेश आत्माकी वैभाविक शक्तिसे कर्मोंको निमित्त पाकर बनते हैं। इनका आधार रागी द्वेषी आत्मा है। ये जब तक रहते हैं तभी तक इनकी स्थिति है। और अनेक प्राणियों में तथा एकमें भी समय समय पर अगणित प्रकारके होते रहते हैं।

परन्तु शुद्ध दृष्टिसे विचारनेपर ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा रागादि अवस्था एक एक समयवर्ती है। उसही नयकी दृष्टि करी तो जो पर्याय नष्ट हो जाती है वह स्वयं दूसरी पर्यायको पैदा नही करती वह तो एक समय मात्र अपना अस्तित्व दिखा कर खतम हो जाती है। अतः दूसरे समयकी पर्याय स्वतंत्र होती है और वह भी एक ही समय में नष्ट हो जातीहै। पर्यायकी परम्परासे वह पैदा नहीं होती अतःआत्मद्रव्य एकसमय वर्ती पर्यायरूप न होनेसे रागादि न उसके हैं और न उनका यह स्वामी ही है। क्योंकि रागादि समयवर्ती मात्र है। और आत्मा त्रैकालिक पदार्थ है। रागादि किन कारणोंसे होता सो भी शुद्धदृष्टिमें नहीं दिखता क्योंकि जो पहिलेकी पर्याय थी वहतो नष्ट होचुकी जब वह थी तब यह नहीं थी और जब यह है तब वह नहीं रही। और द्रव्यमें रागादिके पैदा करने की साधकतमता नहीं क्योंकि इस नयकी दृष्टिसे द्रव्यको नहीं

देखा जासकता अतः साधन रहित भी है। जब वस्तुतः यह आत्मद्रव्य भी नहीं तो उसका आधार भी आत्मद्रव्य नहीं तब एक एक समय वर्ती संयोगीपनसे होने वाली मलिनता खतम होती रहती शुद्ध आत्मामें उसकी एक समय मात्र भी स्थिति नहीं है। वह तो अज्ञानसे मानी गई कल्पना थी। स्वभावमें वह कुछ नहीं है। शुद्धदृष्टिसे इसका अस्तित्व ही नहीं तो प्रकार क्या हो ?

इस तरह शुद्धदृष्टिसे रागादि आत्माके नहीं हैं। अज्ञानतासे उनको अपना मानता आया। इसीलिये उसकी परम्परा चलती गई और वह पलता पुसता गया। यदि एक क्षण मात्रभी द्रव्यदृष्टि होती तो ये हमारे बनकर न रहते। और न फिर दुःखी ही होना पड़ता।

तो दुःख दूर करनेके लिए पर्याय दृष्टिसे हटकर में द्रव्यदृष्टिपर आना चाहिये। द्रव्यकी अशुद्ध परिणतिसे प्रथक उसकी शुद्धतापर दृष्टि गड़ाना चाहिये। जब वहां दृष्टि लग जायगी ये रागादि तब न दिखेंगे। और फिर इनकी परम्परा अधिक न चल सकेगी। जब इनका स्वामित्व-न रहेगा तो इनको खतम होना ही पड़ेगा। ज्ञानी बनकर इनको खतम करनेमें ही हमारे प्रयोजनकी सिद्धि है।

उपादान निमित्तके प्रकरणमें बता दिया गया है कि बिना उपादान निमित्तके कोई कार्य नहीं होता। जहां अभिन्न षट कारक होता वहां उपादान कारणकी पहिचान होती। और जहां भिन्न षट कारक होता वहां निमित्त कारणकी पहिचान होती है।

रागादिका अभिन्न षटकारकत्व आत्माके साथ होनेसे उसका उपादान आत्मा है। और भिन्न षटकारत्वका सम्बन्ध कर्मसे है इस लिये वह निमित्त है। सम्यग्दृष्टि विचारता है कि जिस कालमें मैं परकेद्वारा आरोपित विकारसे स्थित था उस समय भी स्वयं अपनेको अपने जरिये अपनेलिये अपनी परम्परासे अपनेमें ही विकारी था, उस समय भी अकेला हीथा, और अब शुद्र स्वरूपकी पहिचान हुई सोभी मैं अकेला ही हूं। इस प्रकार हर हालतमें हमेशा अकेला ही हूं जिस समय समस्त विभावोंका अभाव करके केवलज्ञानरूप परिणमूंगा उससमय

मैं ही अपने ही लिये अपने जरिये अपनी परम्परासे अपनेमें परिण मूंगा। इस तरह निगोद पर्यायमें हमही थे तो सम्यग्दृष्टि पर्याय व श्रावक अवस्थामें भी हम ही हैं और मुनिकी अवस्था तथा सिद्ध पर्याय तक हमही रहेंगे। हमारे ही ये उपयोग विभाव स्वभावमें तीन रूप होंगे सम्यग्दृष्टिकी सिद्धसे तुलना हैं सम्यक्त्वके विचारसे सम्यक्त्वकी जो क्रिया सिद्धोंमें है वही सम्यग्दृष्टिमें है और सम्यक्त्वकी जो क्रिया सम्यग्दृष्टिमें है वही सिद्धोंमें है। जैसे किसीके एकसे अधिक नाम पड़ जाते हैं. अलग २ काम करनेसे पुजारी मुनीम वगैरह उसी तरह आत्माके भी अनेक नाम अनेक क्रिया करनेसे होते हैं। सम्यग्दृष्टि जो गृह व्यापार करता है, बच्चोंको खिलाता पिलाता है वह सम्यक्त्वका काम नहीं, चारित्र मोहनीयका काम है चरित्रका दोष है। सम्यक्त्वके ख्यालसे तो उस गृह व्यापार आदिकी अवस्थामें भी सम्यग्दृष्टि और सिद्धोंके समानता है क्योंकि उस गुणकी वही शक्ति वही शैली और वही अनुभव दोनोंमें एकसा रहता है, पर्यायगत न्यूनाधिकताका अन्तर मात्र है।

सिद्ध भगवान अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानको कारण बनाकर परिणमन करते हैं और सम्यग्दृष्टि भी मतिज्ञान श्रुतज्ञान रूप होकर उसी अनादि, अनन्त अहेतुक स्वरूपको कारण पाकरके परिणमन करता है, सहज स्वभावमें प्रवेश करता है। किन्तु चरित्र मोहके उदयका कार्य दूसरी जातिका है चरित्र मोहके उदयसे वह होता रहो किन्तु सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वमें उससे फरक नहीं पड़ता। सम्यक्त्व में वह तो सिद्धोंके तुल्य हो सकता है हां ज्ञानके संबंधसे सम्यक्त्वकी विशेषता है अपने स्वरूपके परिणमनमें अभिन्न षटकारकका संबध दोनोंका उपादान स्वरूप अपनी २ आत्मामें है।

इसी बातको जरा और नीचे उतरकर बिचारो तो निगोदिया भी अपने उपादानरूप परिणमन कररहा है लेकिन उसका परिणमन वैभाविक रूपसे है। तो हम आप सिद्ध और अणु अणु सब अपना अपना ही परिणमन करते रहते हैं। इन सब अवस्थाओंमें जो

एक रहता है जो एक परिणमन करता हुआ चला जाता है उसपर दृष्टि देकर देखो तो विभाव हैं ही नहीं और विभावकी तो बातही क्या ? कोई पर्याय मात्र भी इस परम शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टि में नहीं ।

अब यहां बताते हैं कि आत्मामें जो निर्मलता प्राप्त होती है जहां केवलज्ञान केवल दर्शन अनन्तसुख अनन्तशक्ति प्रकट होती है उसमें कारण क्या है :

प्रथमक्षणस्थकैवल्यस्य निमित्तं कर्मक्षयः ॥१७॥

पहिले क्षणमें जो कैवल्य अवस्था प्रकट हुई है उसका निमित्त कारण कर्मोंका क्षय है। कर्मोंके अभावसे इसका आविर्भाव हुआ है किन्तु कर्मक्षय तो कैवल्य अवस्थाके लिये उपादान कारण नहीं है, जिस द्रव्यमें कैवल्य हुआ उस द्रव्यमें कर्मक्षय नहीं। और जिस द्रव्यमें कर्मक्षय है उस द्रव्यमें कैवल्य नहीं अतः आत्माधिष्ठित न होनेसे वह निमित्त कारण है और आत्मा उपादान कारण। सूर्य बादलोंसे ढका हुआ है बादलोंके अलग होनेपर पहिली बार जो प्रकाश हुआ उसे बादलों के हटनेसे हुआ कहा जायेगा वहभी निमित्तकी मुख्यतामें लेकिन आगे ऐसा न कहा जायगा। साधारण अवस्थामें वस्तुके परिणमनका निमित्त कारण काल द्रव्य है।

हमारे धर्मका उपादान हमारी शुद्धात्मा है। उसका निमित्त कौन है ? शुभनिमित्तोंके बाद उनका अभाव उसका निमित्त। धर्म निर्विकार अवस्थाको कहते हैं। सो ऐसा धर्म शुभ विकल्पोंके अभावसे होता है। ऐसा धर्म सम्यग्दृष्टि और सिद्धोंके समान होता है। जिस समय निमित्तकी पकड़ है उस समय वहां विकार है और जिस समय उपादान पर कारणता है उस समय हममें और सिद्धोंमें समानता है। किन्तु पूर्ण अपूर्ण विकासका अंतर अवश्य है।

भगवानके समवशरणमें जब वह दिव्यध्वनि श्रवणआदि शुभविकल्प हैं उस समय स्वानुभव नहीं है। जब अशुभ विकल्पोंका अभाव होकर आत्मा शुद्ध स्वानुभवमें विचरने लगे तब स्वभाव होता है। जैसे कि सीढ़ियोंके सहारेसे ऊपर अटारीपर आते हैं, किन्तु जब तक सीढ़ियोंपर

हैं तबतक अटारीपर नहीं पहुंचे। तब कोई कहे कि हम सीढियोंका आश्रय ही नहीं लेंगे क्योंकि उन्हें छोड़नातो पड़ता ही है, तब तो यह बात पहिलेसे ही सिद्ध है कि अटारीपर न पहुंचा जा सकेगा। ठीक इसी तरह स्वानुभवके पहिले अरहंत आदिका आश्रय अवश्य होता है पीछे उसका निमित्त हटकर स्वानुभव होता है। जैसे नीचे की सीढी क्रमसे पार करता हुआ आगे बढ़ता है और जब अंतिम सीढीको पाकर उसेभी छोड़ देता है तब अटारी मिलती है, इसी तरह मोक्षमन्दिरमें पहुंचनेके लिये गुणस्थान क्रमसे बढ़ता हुआ अरहंतादि निमित्तोंके अभाव होनेपर, अर्थात निमित्तजन्य विकल्पोंका पूर्ण अभाव होनेसे सिद्धत्व प्राप्त होता है। सिद्धोंके और हमारे साधारण निमित्त काल द्रव्य है हमारे सम्यग्दर्शनरूप धर्म कर्मके निमित्त के अभावसे याने उपशम, क्षयया क्षयपशम हो चुकनेके बाद होता है और सिद्धोंके भी आत्मस्वभाव रूप धर्म कर्मोंके निमित्तोंके अभावमें अर्थात क्षया हो चुकनेके बाद प्रकट होता है।

हमें रागादिके निमित्त हटाने चाहिये, बढ़ना न चाहिये और जब एकाकी स्थिति आजावे फिर निमित्त जुटावे तो वह बड़ी गलती है। जिनके संतान नहीं होती वे गोद लेकर अपना दुःख जबरदस्ती बढ़ाते हैं उसगोद लिये हुये लड़केके अच्छे होनेमें मोहरागजन्य दुःखकी परम्परा चलेगी और यदि अविनयी हुआ तो भी दुःख है। विषय और कषायका निमित्त तो जितना कम हो उतना ही अच्छा। प्रवृत्तियां सब गोद लेना ही है, निवृत्त हुये तब अच्छा ही है, गोदकी खटखट व्यर्थ है।

रामपुरमें एक सोनी है वह जैन धर्मका पक्का अनुयायी है उसकी स्त्री भी ऐसी ही है। मैंने पूछा तुम्हारे कितने लड़के हैं, उसने कहा एक लड़की है तब मैंने कहा अच्छा है, कुछ दिनोंमें उसका विवाह करदेने के बाद निश्चिन्त हो जाओगे लड़का होता तो जीवनभर उसकी चिंता करनी पड़ती। इस बातसे उसके मनमें बड़ा संतोष आया संतोषी तो वह है ही लेकिन इस बातके समझनेसे विशेष हुआ। तो निमित्त

और जिसमें अशुभ निमित्त खिसकर जितने हटें उतने अच्छे, जबरदस्ती उन्हें जुटानेकी मूर्खता कभी नहीं करना चाहिये। और जो हटते जायें उनमें दुःख मानने की मूर्खता न करनी चाहिये।

तो भगवानके कैवल्य अवस्था कर्मोंके क्षय रूप निमित्तसे होती है। लेकिन निश्चयसे तो आत्मा से ही होती है। सूर्यका प्रकाश बादल हटनेसे भी कहा जाता लेकिन प्रकाश निश्चयसे सूर्यसेही होता है, भगवानके क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चरित्र ये ९ लब्धियां कर्मोंके क्षयके निमित्तसे कही जाती है उससे भगवानका महत्व कुछ कम होता है। क्षायिक ज्ञानी कहनेसे यह भी विचारमें आता कि जब कर्मका क्षय नहीं था तबतक अज्ञानी थे। क्षायिकसम्तक्त्वी कहनेसे यहभी अभिप्राय निकलता है कि कर्मका क्षय नहीं करनेके पहिले आप मिथ्यादृष्टि थे। लेकिन जब केवल ज्ञान कहा जाता है तब कर्मके क्षयकी निमित्तता कर्म द्योतक शब्द व भाव न होनेसे भगवानकी विशेष महिमा प्रकट होती है। यह तो निमित्तके प्रकरणसे ऐसा कहा जारहा है वास्तवमें तो भगवानको किसीभी रूपमें कहिये वे तो जैसे हैं सो हैं, हमारे कहनेसे न उनका महत्त्व कम होता है और न बढ़ता है। कहनेका प्रयोजन यह है कि कर्मके क्षयके कहनेसे कर्मके संयोगका ध्यान आजाता हैं। अतः स्वभाव महिमाके गीतसे प्रभु के गीत गाइये।

एक आदमीको कहीं जानेको कहा और बताया कि रास्तेमें अमुक बड़के पेड़में भूत नहीं रहता, डरना मत। तो जब वह उस बड़के पेड़के पास पहुंचेगा तो भूतका स्मरण तो होगा ही इसी तरह क्षायिक ज्ञान आदिकी बात है। सिद्धोंमें क्षायिक दान आदि नाम न ले ८ मुख्य गुणोंमें अनंत वीर्य आदि ही कहे हैं। चूंकि अनंत वीर्यमें ही क्षायिकदान आदि ५ लब्धियोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

अध्यात्ममें निमित्तका स्थान गौण है और उपादानका प्रमुख। और वस्तुका स्वयं स्वरूपभी इसी तरह एकाकी सत्‌रूपसे है।

निर्विकल्प समाधिकेलिये उपादान रूप शुद्ध आत्मापर बार २ लक्ष्य पहुंचानेका पुरुषार्थ करना जरूरी है। अनादिकालसे यह होता चला आरहा है कि जीव स्थूलको - निमित्त को देखता है। मूल वस्तुको ओझल करता चला जाता। किन्तु आत्मा तो स्थूल नहीं है, वहतो बाह्य निमित्त नहीं है जिसमें मिथ्यादृष्टिकी खोज है। तब वह यथार्थता से दूर, लक्ष्यसे भ्रष्ट, असफल मनोरथी हो, दुःखी होता रहता है, फिर जैसे तैसा पुरुषार्थ करनेमें भिड़ा रहता है, लेकिन सच्चा पुरुषार्थ उपादान रूप— आत्मामें उसको उसी रूपसे देखनेमें है।

अब कैवल्य अवस्थाके उपादानको बताते हैं—

उपादानं शुद्धात्मा ॥ १८ ॥

कैवल्य अवस्थाका उपादान शुद्ध आत्मा है। शुद्ध उपादानके कारणका प्रकरण चल रहा है। केवलज्ञानकी प्राप्तिमें कारण कर्मोंका क्षय निमित्त और वह आत्मा उपादान कारण है।

कर्मोंका क्षय केवल ज्ञान होनेके प्रथम क्षणमें कारण है उसके बाद प्रतिसमय जो निर्मल पर्याय बनती रहती है उसकेलिये कारण वही शुद्धात्मा है। दोनों ही अवस्थाओंमें उपादान आत्मा है। समस्त अनन्तकालीन शुद्धियोंका उपादान वही आत्मा है। पूर्व केवल ज्ञान सम्पन्न आत्मा उत्तर केवल ज्ञानका उपादान है। वह ज्ञानस्वभाव तो अनादि कालसे है। पहिलेअशुद्ध परिणमनमें उपादान रूप था अब शुद्ध परिणमनमें उपादान है। दर्शन गुण का शुद्ध परिणमन मुक्तात्माओंमें अनन्त दर्शन, सुख गुणका शुद्ध परिणमन अनंत सुख और वीर्य गुणका शुद्ध परिणमन अनत वीर्य है। इसीतरह और भी अन्य गुणोंका परिणमन पहिले जो विकार रूपमें था अब शुद्धरूपमें होने लगता है और उसका उपादान कारण शुद्धआत्मा होताहै। निमित्त केवल काल है।

केवलज्ञान उत्पन्न होनेके प्रथम क्षणके बाद कर्मकी उपस्थिति या अभाव उसके परिणमनमें कारण नहीं है। परन्तु जब जीवको अनादि बद्धकी ओर देखते हैं तो लगता है कि यही बद्धजीव अब कर्मों के हट जानेसे मुक्त हुआ है। शुद्धरूपसे प्रगट हुआ है। अतः

कर्मों का क्षय कारण कह देते हैं। किंतु कर्म के क्षयके अनंतर तो निमित्त कारण केवल काल द्रव्य ही है प्रतिसमयके परिणमन में अनंत काल तक। यहां प्रश्न हो सकता है कि फिर काल को ही निमित्त क्यों कहते ? तो कहते हैं कि कर्मक्षयको निमित्त पाकर पहिले कैवल्य होने पर आगे पहिले क्षणकी पर्यायका कारण पाकर तृतीय क्षण की पर्याय होती है इसी तरह अनंत काल तक पूर्व क्षणकी पर्याय नवीन क्षण की पर्याय केलिये कारण बनती है। इस तरहकी प्रत्येक समय की वर्तना कालद्रव्यके निमित्तसे होती है द्रव्यके परिणमनमें उसको पूर्वपर्याय निमित्त मानना आवश्यक है। वर्तनामें काल द्रव्य निमित्त है। उसकी उपादान। प्रत्येक द्रव्यको परिणमनमें उसकी पूर्व समयवर्ती पर्याय सहितद्रव्य उपादान कारण होता मात्रद्रव्य नहीं हमारेक्रोध उत्पन्न होनेमें पर्याय विशिष्ट द्रव्य निमित्त हुआ. खाली द्रव्य नही कोई किसीके लिये क्रोध का निमित्त बना तो उसकी पर्याय निमित्त बनी द्रव्य सामान्य नहीं इसीतरह सिद्ध किसीके क्रोधादिका कारण नहीं बनते। क्योंकि सिद्ध के दृश्य पर्याय है नहीं। अतः पर्याय दृष्टि छोड़ द्रव्यपर दृष्टि देना।

आत्माके बिभावके वास्ते कर्मकी पर्याय (स्कंधरूप) कारण है सामान्य पुद्‌गल द्रव्य नहीं, कोई किसी पर राग या मोह करता है। तो वह उसकी आत्मासे नहीं, उसकी पर्याय से करता है। क्योंकि राग का आश्रय द्रव्य न बनेगी। पर्याय ही बनेगी। तो चैतन्यपर दृष्टि दो फिर राग आदि न होंगे। जब कोई झगड़ा होता तो कहते हैं भाई ? जिस बातसे यह झगड़ा है उसकी जड़को ही खतम करो, तबझगड़ा क्यों रहेगा ? तो जब राग द्वेषादि पर्यायको ही आश्रय करके होते हैं तो रागादिका मूल कारण पर्यायदृष्टि को ही मिटा दो। भूतार्थदृष्टिसे देखो हरएक बातको। भूतार्थ दृष्टि माने पर्यायपर दृष्टि न दे द्रव्यपर दृष्टि देना, जैसे दिवाल दिखी तो उसके स्कंधपर दृष्टि न गड़कर उसके शुद्ध अणुओंको अनुभवमें लाना चाहिये। किसीप्राणीको देखकर भी, उसके बद्ध कर्मवर्गणा आहारवर्गणा, कर्माणवर्गणा कर्मवर्गणा के परमाणु और चैतन्य स्वरूप आत्मा, वह भी रागादि पर्याय रहित आदि

आदि केवल अनुभ में लाओ। इस तरह जब पर्यायदृष्टि मिटजाय तो झगड़ा ही खतम हो जाय। दुनियांके झगड़े पर्याय दृष्टिसे होरहे हैं।

जगतके जीवोने अनादिस लेकर आज तक बाह्यपर दृष्टि की शकल सूरतको अपना माना। इसलिये विसंवाद होते रहते हैं, पर्याय मुख्यता करके दृष्टि होनेसे झगड़ाही झगड़ा चलते हैं। किसीने किसीको अप शब्द कहे तो पर्याय को लगा करके कहे। लेकिन विचारों कि किसने अपशब्द कहे?सकल सूरतवाली चीजने। तो वह तो पुद्गल है। आत्माके विकारी परिणामोंसे कहा गया? तो वह अदृश्य है। और विकारी आत्माका यह कार्य है? तो वह द्रव्य नहीं पर्याय है। पर्याय अध्रुव है, अतः ध्यान देने योग्य नहीं होती। जिस ज्ञानीको यह विश्वास है कि जो चेतन है वह मुझसे कुछ कहता नहीं और जो पर्याय है वह मात्र एक समयवर्ती होनेसे असत्यार्थ है। इस तरहके विचार पूर्वक द्रव्यपर जब उसकी दृष्टि जाती है तो विकारी आत्माओं को वह दयाका पात्र समझता है और अपने पर भी दया करके विकारोंसे बचता है। किसीका संयोग अनंत काल तक तो रहता नहीं, जब तक है तब तक उसमें अनासक्त और अकषायरूप प्रवृत्ति करो किसीकी प्रवृत्ति अच्छी नहीं तो गुस्साका नहीं दयाका पात्र है। कोई धनवानों पर गुस्सा करते, कोई पंडितों पर, यह ठीक नहीं। किसी का हित हो सके तो प्रेमसे करो। नहीं तो किसी ने किसीको सुधारनेका ठेका नहीं लिया। जो गलत रास्ते पर ही चले वह गुस्साका नहीं दयाका पात्र होना चाहिये। सारे संसारी मिथ्या दृष्टि जो उल्टी प्रवृत्ति में लगे हैं वे सब दयाके पात्र हैं। और जो मोक्षमार्गमें लगे वे तो हमेशा सम्माननीय ही हैं। कभी उनमें कषाय आवेग आवे तो भी वहां पर्याय बुद्धिको स्थान नहीं देते द्रव्यपर दृष्टि दौड़ाते, यदि हम दूसरी गति में होते तो हमारी क्या दशा होती आदि विचार करके भी मनमें शांति लाओ। हमारा रक्षक हमारा धर्म है और कोई रक्षा करने वाला नहीं है। जिन्होने बाह्यदृष्टि की है वे रुलते चले आरहे हैं। ये ब्रह्मा द्वैत वादी, चित्राद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादी अभाववादी और शून्यवादी द्रव्यदृष्टिकी छायाके परिणाम हैं। द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर पदार्थ

शून्य सम मालूम पड़ने लगता है। ये पुद्गल ही सकल अस्थिर हैं आदि सोचकर शून्य कह दिया। पर ऐसा नहीं है। जैन सिद्धान्त पर्याय को असत्यार्थ समझता हुआ भी द्रव्यपर मूल चीज पर दृष्टि पहुँचाता है। यह वास्तविक सिद्धान्त है। कलावान ही हरएक कार्य में कलात्मकता होती है। जैन सिद्धान्त हर बातको कलात्मक ढङ्गसे देखता है। उसका कर्म सिद्धान्त अहिंसा और अपरिग्रह सिद्धान्त अनेकान्त सिद्धान्त सब विज्ञानमय हैं। जैनोंने द्वैतका विरोध न करके अद्वैत (उपादान) का ध्यान दिलाया। आत्मा और जड़का सम्बन्ध होनेसे ही ये जीनही विकारी पर्याय हैं। वे जड़ जब आत्मासे सम्बन्ध छोड़ देते तो उनमें वह कर्मत्व शक्ति नहीं रहती। आदि सब वैज्ञानिक बातें हैं। आत्मा और कर्मरूप जड़के संयोगसे ही ऐसी अवस्थाएं क्यों होती हैं? अन्य अनेक पदार्थोंके संयोगसे वह असर क्यों नहीं होता? जिनके संयोग होनेपर बिगाड़ होता था अब क्यों नहीं होता? आदि बातोंपर विचार होनेसे जैनसिद्धान्तकी सारी बातें वैज्ञानिक सिद्ध होती हैं। उनसे चित्त का पूरा समाधान होता है। जैनधर्म वस्तुधर्म है। जिनेन्द्र भगवानने कहा है इसलिये जैनधर्म कहलाया। परन्तु जिनेन्द्र भगवानने वही दर्शाया जो कि वास्तविक वस्तुधर्म है। वस्तुधर्मकी दृष्टि संतोषकी खान है। तो ऐसा उत्कृष्ट जैनधर्म पानेपर आत्मकल्याण होना ही चाहिये। आत्मकल्याण अकषायभावमें है। क्रोध, मान, माया और लोभ और लोभको वशमें करो। अणुमात्रको अपना मत समझो। तब उदारता, अकषायता आवेगी। कहा है कि—जैनधर्म को पायकर वर्तें विषयकषाय। एक अचम्भा मैंने देखा जलमें लागी लाय॥

यदि धर्मको पाकर विषयकषाय नहीं मिटा तो बड़ा आश्चर्य है। जैनधर्मका आत्मधर्मसे सम्बन्ध है, केवल ज्ञान आत्मधर्मका पूर्ण विकास है। वह केवलज्ञान निश्चयसे किससे पैदा हुआ? अब इस प्रश्नके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निश्चयेनात्मजम् ॥ १६ ॥

वह कैवल्य परिणामन निश्चयनयसे तो आत्मासे ही उत्पन्न हुआ है क्योंकि प्रत्येक पर्याय स्वकीय द्रव्यका ही परिणामन है। द्रव्य परिणामे विना नहीं रहता और परिणामन है, वह पर्याय है अतः केवल ज्ञान आत्मज्ञ ही है। क्योंकि द्रव्य गुणात्मक होता है और गुणोंसे पर्यायें होती हैं अर्थात् द्रव्यसे ही पर्यायें उत्पन्न होती हैं किसी अन्यसे नहीं।

सूत्र—व्यवहारेण क्षायिकम् ॥२०॥

व्यवहारनयसे कैवल्य परिणामन क्षायिक है कर्मक्षयको निमित्त पाकर हुआ है। इस प्रकार उपादान निमित्त अथवा निश्चय व्यवहारसे कैवल्यका विवरण करके द्वितीयादि अनन्तानन्त समयोंमें चले जानेवाले कैवल्य प्रवाहका उपादान कहते हैं—

सूत्र—अनन्तरवर्तिशुद्धीनामुपादानं शुद्धात्मा ॥२१॥

अनन्तर होनेवाली पर्यायोंका शुद्धियोंका उपादान वही शुद्धात्मा है। पहले भी उपादान आत्मा था अब भी उपादान आत्मा है किन्तु उसमें निमित्त केवल कालद्रव्य है—

सूत्र—निमित्तं कालमात्रम् ॥२२॥

यहाँ कर्म है ही नहीं फिर किसका क्षय निमित्त हो, इन सब शुद्धियोंका निमित्त केवल कालद्रव्य है। हम लोग अभी वैसे तो उच्च पर्यायमें आगये परन्तु मोक्ष-मार्गका पुरुषार्थ जब देखते तो उस मार्गमें हम छोटी अवस्थामें पाते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि जो हमने पाया है आगे उससे भी अधिक शक्तिमान ज्ञानादिकका साधन मिले, इस योग्य हमारा अन्तरंग संस्कार रहना चाहिये, वह है ज्ञानदृष्टि। पाई हुई अच्छी चीजका लाभ जरूर उठा लेना चाहिये। और भी साधारण अनेक चीजोंसे लाभ लेकर हम उनका सदुपयोग कर सकते हैं। कर्ण

इन्द्रिय का सदुपयोग है, जिनवाणी और जिनगुणगान श्रवण करना। महापुरुषोंकी प्रशंसा सुनना। यदि इस इन्द्रियका सदुपयोग न कर दुरुपयोग किया। विकथा और परनिंदाको सुननेमें लगाया तो आगे यह इन्द्रिय न मिलेगी बहिरा या चौइन्द्री होना पड़ेगा। चक्षु-इन्द्रिय का सदुपयोग है, वीतराग मुद्राका दर्शन करना, महापुरुषोंका दर्शन करना। संसारको समताकी दृष्टिसे देखना, दयाकी दृष्टिसे देखना। यदि ऐसा सदुपयोग न किया, दुरुपयोग किया, माँ बहिनोंको खोटी दृष्टिसे देखा, संसारको तिरस्कार, घमण्ड और घृणाकी दृष्टिसे देखा तो ये आँखें न मिलेंगी, अन्धे होना पड़ेगा या चक्षु इन्द्रिय ही न मिलेंगी।

घ्राण इन्द्रियका सदुपयोग है, किसी भी घृणित और निन्दित कही जानेवाली वस्तुपर भी नाक नहीं सिकोड़ना, घृणा नहीं करना। प्रत्येक श्वासमें सद्गुणोंका प्रवेश करना और प्रत्येक उच्छ्वासमें, भीतर के दुर्गुणोंको खोज खोज कर निकालना तथा भीतरी शुद्ध आत्माके स्पर्श से सुखकर उच्छ्वास निकालना। यदि इसका सदुपयोग न किया, व्यक्तियोंसे पदार्थोंसे नाक सिकोड़ी घृणा की, स्वच्छ वायु-मण्डल को भी अपने दूषित उच्छ्वासोंसे दूषित किया तो यह इन्द्रिय भी न मिलेगी और दो इन्द्री होना पड़ेगा। यदि रसना इन्द्रियको पाकर हित मित प्रिय वचन न बोले, अस्वादव्रत न पाला, बचनोंके द्वारा प्राणियोंको धर्ममार्गमें न लगाया, दुःख दूर नहीं किया, उपकार नहीं किया, वीतराग देव जिनवाणी और सद्गुरुओंका कीर्तन नहीं किया, इसके विपरीत अशुभ वचन प्रवृत्तिकी स्वादकी लोलुपताको बढ़ाया तो रसनारहित एकेन्द्री होना पड़ेगा। हाथ पाये हैं तो दान सन्मानमें लगाओ, पैर पाये हैं तो तीर्थयात्रा करो सत्संगमें जाओ। यह तो पर्यायके सदुपतोग की स्थूल बात कही, लेकिन इससे भी ऊंची वृत्ति, सूक्ष्म, शुद्ध द्रव्यकी बनाओ जिसमें उदारताकी पराकाष्ठा होती है, जिससे कि परमतत्त्व परमात्माका साक्षात्कार होता है।

पर्यायकी दृष्टिको गौण कर द्रव्यपर दृष्टि दो जिससे कल्याण हो। जो दिखता है उसे (पर्याय को) गौण कर द्रव्यमें लीन कर दो। कषायों की मंदता अपने आप होगी।

जितनी अनिष्ट कहलाने वाली वस्तुएँ हैं या झगड़ालू कषायी जीव हैं वे हमारे उपकारी हैं। द्रव्यदृष्टिको दृढ़ करानेमें ये हमारे कारण हैं। इनके द्वारा हमें द्रव्यपर दृष्टि लेजाने और उसमें स्थिर रहने की शिक्षा मिलती है। द्रव्यदृष्टिकी भावना और लक्ष्य जागृत होता है। घमंडी हमको शिक्षा देता है क्योंकि परका घमंड उसे नहीं सुहाता जो स्वयं घमंडी हो। तुम्हें नहीं सुहाता तो तुम अपने घमंडको नष्ट करो जिससे कोई असह्य न हो। पापाचारियोंके बीचमें भी निश्छल पुरुष निर्भय और निश्चिंत रह सकता। तो मायाचारी हमको शिक्षा देते हैं कि तुम निष्कपट रहो जिससे तुम्हें हमारा भय न हो और तुम चिंतामें न पड़ो। लोभियोंसे हमको शिक्षा मिलती है कि कमा कमाकर धन रखने से केवल ममता साथ जाती है और सब वह कमाया हुआ यहीं पड़ा रह जाता है। अतः ममताको यहीं छोड़ दान, पुण्य और विरागके भाव साथ लेकर जाओ।

जगतको उपकारीकी दृष्टिसे देखो। अथवा पर्यायको गौण कर द्रव्यपर ही प्रधान लक्ष्य रखो तो वह अवसर प्राप्त होगा कि विकारी होनेका अवसर ही न आवेगा। दुनियां भरका ज्ञान करलो और खुद को न जान पाया तो आपही बतावो कुशलज्ञाता क्या वह कहला सकता।

एक मास्टरने अपने लड़कोंको भूगोलकी बातें खूब अच्छी तरह समझाकर परीक्षाके लिये तैयार किये। देश विदेशकी अधिकसे अधिक बातें बताईं। लेकिन परीक्षामें इन्स्पेक्टरने देश विदेशकी नहीं गाँवके नालेके बारेमें पूछा कि बताओ वह कहां से निकला है, लड़के न बता सके। तो दृष्टिको अधिक बाहिर फैलानेकी जरूरत नहीं है, पदार्थको अति निकटसे सूक्ष्मतासे, निजमें निजको देखनेकी आवश्यकता है।

द्रव्यदृष्टिके लिये आत्मद्रव्यको देखना सर्वप्रथम आवश्यक है, उस अपने द्रव्यको न देखनेपर किसी भी द्रव्यकी द्रव्यता न देखी जा सकेगी। क्योंकि बहुतसी विकारी पर्यायें आत्माके संयोगसे ही नजर आ रही हैं, आत्मद्रव्यको जाने विना उनको न पहिचाना जा सकेगा अतः आत्म द्रव्यको देखकर द्रव्यदृष्टि ग्रहण करो और आत्माको विकारी पर्यायोंसे ऊपर उठाओ।

अब यहाँ पर व्यक्तिगत सम्यग्दर्शनकी निर्मल पर्यायके लिये उपादान और निमित्त बतला रहे हैं।

सम्यग्दर्शन वह गुण है जिसे हम लक्षणके द्वारा बतानेमें असमर्थ रहते हैं। किन्तु जिसके होनेपर ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता, अभिप्राय निर्मल होता तथा व्यवहारमें और भी अनेक विशेषताएँ हो जाती हैं। स्वभावकी रुचि और प्रतीति होनेसे देवशास्त्र गुरुका दृढ़ श्रद्धा न होना, आदि विशेषताएं हो जाती हैं। फिर भी इन सम्बन्धी बाह्य क्रियाएं मिथ्यादृष्टिके भी सम्यग्दृष्टिके समान हो सकतीं हैं अतः बाह्य चेष्टाओं से सम्यग्दृष्टि वा मिथ्यादृष्टिकी पहिचान निश्चयतः नहीं कर सकते। स्थूल मिथ्यात्व तो समझमें आ ही जाता है।

जीवका महान उपकारी वा उसके स्वभावसे ही प्रगट होनेवाला वह सम्यग्दर्शन किन परिस्थितियोंमें प्रगट होता है कि किन किन कारणों से प्रगट होता है सो बताते हैं।

सूत्र—सम्यक्त्वाविर्भावस्योपादानं श्रद्धालुः ॥२३॥

आत्माकी सम्यग्दर्शन पर्याय जो प्रगट होती है उसका उपादान वही आत्मा होती है। इस सूत्रमें उपादान कारक का वर्णन है। सम्यग्दर्शन पर्यायको वह आत्मा ही प्रगट करता है जिसको वह होती है अतः उसका कर्ता वही आत्मा है। उस पर्यायरूप क्रियाका फल आत्मा पर ही पड़ता है इसलिये वह ही कर्म है। और करण भी आत्मा ही है। वह अन्यकेलिये न हो आत्माकेलिये ही होता है अतः सम्प्रदान

भी वही आत्मा है। वह सम्यग्दर्शन पर्याय उसी आत्माकी पूर्वपर्यायसे आती है अतः अपादान भी वही है और आधार भी वही आत्मा होने से अधिकरण भी वही है। अतः सम्यग्दर्शनरूप कार्यका अभिन्न षट्कारक सम्बन्ध आत्मासे होनेसे असल उपादान तो वही आत्मा है, तथा निमित्त दूसरे दूसरे हैं जिनमें प्रधान निमित्तको बताते हैं।

श्रोतृश्रद्धाज्ञानित्वप्राप्तवस्त्वनुदेशकदेशना निमित्तम् ॥२४॥

श्रोता (जिसे कि सम्यग्दर्शन होना है) की श्रद्धामें ज्ञानीपनके रूपसे उतरे हुए और वस्तुके अनुकूल उपदेश करनेवाले गुरुकी देशना निमित्तकारण है। श्रोताको जिसपर विश्वास न हो कि ये ज्ञानी हैं तो उनके मुखसे कितना ही उपदेश सुने वह किञ्चित् भी उसके हृदयमें प्रवेश नहीं कर सकता। तथा किसी भी वक्तामें 'ये ज्ञानी हैं' ऐसी श्रद्धा करले और वह वस्तुके अनुरूप उपदेश नहीं कर सकता तो उससे भी कोई लाभ श्रोता नहीं पा सकता। दोनों ही बातें हों कि श्रोताको ज्ञानीपनका विश्वास आवे और वह स्वयं अध्यात्मपारंगत हो वस्तुके अनुरूप उपदेश देवे तब उसकी देशना सम्यग्दर्शनका निमित्तकारण है। इसके अतिरिक्त अन्य अन्य भी कारण हैं जिनका क्रमशः वर्णन करते हैं—

अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारित्र मोहनीयकी प्रकृतियाँ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति ये दर्शन मोहनीयकी ३ प्रकृतियां कुल मिलाकर ५ प्रकृतियोंके उपशमसे या सम्यक् प्रकृतिके उदय और शेष ६ के उदयाभावी क्षय और सदवस्था रूप उपशम अथवा इन सातोंके तथा अनादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी ४ इनके उपशम होने के समय ही आत्माकी सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होती है। और इन प्रकृतियोंके उदयकालमें सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं रहता अतः इन कर्म प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशमको सम्यग्दर्शन का वाह्य कारणोंमें अन्तरंग निमित्तकारण कहते हैं। वास्तवमें ये जड़ प्रकृतियाँ आत्माका कुछ नहीं करतीं किन्तु इनके उदयके समयतक आत्मा

स्वयं अपनेको भूला रहता है अतः सम्यग्दर्शनकी अनुत्पत्तिमें उपादान कारण तो भूलमें पड़ा आत्मा ही है। किन्तु निमित्तपर दृष्टि डालनेसे उन कर्म प्रकृतियोंका और मिथ्यात्वका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नियम रूपसे बना हुआ है इसलिये ये कर्म मिथ्यात्वके कारण कहलाते हैं और इनका उपशम क्षय तथा क्षयोपशम सम्यग्दर्शनका कारण कहलाता है।

सम्यग्दर्शनकी प्रगटतामें बहिरंग निमित्त २ तरहके हैं, १. चेतन और २. अचेतन। श्रोताकी श्रद्धामें ज्ञानीपने को प्राप्त तथा वस्तु वरूप के अनुरूप उपदेश करनेवाले गुरुकी देशना सम्यग्दर्शनमें सचेतन निमित्त है। देशना प्राप्त होनेवाले गुरुमें ये दो बातें होनी आवश्यक हैं—

१. सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले की उपदेशक गुरुमें यह श्रद्धा कि यह सम्यग्ज्ञानी हैं। दूसरी बात यह कि गुरु वस्तु स्वरूपके अनुकूल उपदेश करता हो।

तो जबतक श्रोताको यह श्रद्धा न होजाय कि ये गुरु मोक्षमार्गके सच्चे ज्ञाता हैं, सम्यग्ज्ञानी हैं तब तक उसके उनका उपदेश असर नहीं कर सकता, उसकी आत्मा उनके उपदेशसे भीग नहीं सकती। इसतरह आकृष्ट नहीं हो सकती कि जिससे मिथ्यात्वका वमन करने लग जाय। इसके लिये तो श्रोताकी गुरुमें असीम श्रद्धाका होना आवश्यक है। यदि श्रोता गुरुको मिथ्यात्वी समझे तो उससे उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। निमित्त भी वह ज्ञानी कहलायगा जिसका असर श्रोतापर श्रद्धापूर्वक हो।

२. उपदेष्टामें वस्तु स्वरूपकी ठीक प्रतिपादनकी योग्यता न होगी तो श्रद्धा श्रोताकी होनेपर भी उसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान करानेमें असमर्थ रहेगा।

यहां यह सोचा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन जैसी महान् चीज जिसे संसारकी सारी विपदाएं दूर होती हैं, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी गुरुकी देशनासे ही सम्यक्त्व प्राप्तिके योग्य भाव बना सकता है, बहुज्ञानी

किंतु मिथ्यादृष्टि गुरुके उपदेशसे यह पवित्र कार्य नहीं हो सकता। तो यह बात ठीक है लेकिन क्वचित् कदाचित् इसमें अपवाद भी है। ११ अङ्ग और ६ पूर्वका ज्ञानी महान् तपस्वी भी अबुद्धिपूर्वक वस्तुको द्रव्यदृष्टिमें सूक्ष्म भूल रह जानेसे सम्यक्त्वहीन रह सकता है किंतु क्या उसका ११ अंग ६ पूर्वका ज्ञान कम ज्ञान है? और क्या ऊंचे दर्जेका तपस्वी जीवन वह दिखाऊ ही बिता रहा है? नहीं वह बुद्धि पूर्वक और सम्यक्त्व चारित्रमें लेशमात्र भी दोष लगानेकी भावना नहीं रखता, उसे बुद्धिपूर्वक स्वयं पता नहीं है कि मुझमें सम्यक्त्वका उदय नहीं हो पाया। वह अपूर्व समता और शांति रखता है, तो ऐसे द्रव्य-लिंगी मुनिका उपदेश क्या मोक्षमार्गरूप न होता होगा? श्रोताओंपर उनकी शांत मुद्राका असर न पड़ता होगा? अवश्य पड़ता होगा। तो क्या वह सम्यग्दर्शनमें कारण न होता होगा? हाँ यह बात अवश्य है कि इतने ज्ञानी आत्माका मिथ्यादृष्टि रहना कठिन है।

यदि कहा जाय कि क्षायिक सम्यग्दर्शनके लिये तो केवली या श्रुत केवलीकी निकटता आवश्यक है, अथवा कि उसे स्वयं श्रुतकेवली होना आवश्यक है तो उपशम सम्यक्त्वके लिये चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की ही देशनाकी आवश्यकता नहीं है? बात ठीक है तथापि ऐसी आवश्यकता होनेपर भी कहीं कहीं अपवाद भी है। ११ अंग और ६ पूर्वके पाठी भी उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिमें निमित्त हो सकते हैं।

ऐसे ११ अंग और ६ पूर्वके पाठी मुनिके बारेमें श्रोताको यह भ्रम नहीं होता कि ये सम्यग्दृष्टि नही हैं अतः श्रद्धा हीनताका दोष नहीं आता। और ज्ञान तो ११ अंग १४ पूर्वका है ही।

तब फिर साधारण, ज्ञानी या तपस्वीके विषयमें भी श्रुत केवली की श्रद्धा होजाने से क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिये? केवली या श्रुतकेवलीके विषयमें भ्रम होना सम्भव नहीं है। क्योंकि क्षयोपशम सम्यग्दर्शनके बाद ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।

वर्तमान कालमें यहां से मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि हमारी योग्यता ऐसी ही है फिर भी सम्यग्दर्शन तो अब भी हो सकता है। बाह्यदृष्टि हटाओ, अन्तरमें ध्रुवतत्त्वको देखो तो संसारका उच्छेद अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होनेपर ससार रहता ही कितना है? कोई करोड़ रुपयोंका कर्जदार था, उसने ९९९९९९९९।।।≈)।।। चुका दिये अब १ पैसाका कितना मा भारी कर्ज है? सम्यग्दृष्टिके लिये मोक्ष होनेमें तो यह उदाहरण भी स्थूल है। अनन्तानन्त कालसे जो भ्रमण चला आ रहा था सम्यक्त्व होने पर उसका संसार कितना कम रह जाता? बहुत सूक्ष्म ज्यादासे ज्यादा अर्धपुद्गल परावर्तन। जो कि बीते हुए अनन्तानन्त कालमें न की गिनतीके बराबर है।

कषायोंके दुःखोंसे बचनेके लिये बाहिरकी तरफसे आँख बन्द करलो भीतरकी तरफ देखना शुरू करदो। यह जरासी तो औषधि है।

इसके पूर्व भवदेव और भावदेव दो भाइयोंका जिक्र आचुका है कि भवदेव बड़े भाई थे और भावदेव छोटा। भवदेव मुनि होगये, वे एक दिन चर्याके लिये निकले और भावदेवने उन्हें पड़गाहकर आहार कराये। पहुँचानेके लिये वह उनके पीछे पीछे चला गया और यहांतक कि उनके तपोवनमें पहुंच गया। वहां और दूसरे साधुओंके द्वारा भवदेव मुनिका बड़ा सम्मान देखा। तब वह मनमें सोचता है कि यदि मैं पीछे घर चला जाऊंगा तो इसमें हमारे भाई की तौहीनी होगी कि भवदेव अपने भाईपर ही वैराग्यका असर न डाल सके, इसके साथ ही साथ उस पवित्र वातावरणमें और भी कई कारणोंसे निर्मलता बढ़ी और मुनि हो गया। चूंकि उसका विवाह उसी दिन हुआ था, लेकिन भाईके पीछे पीछे चलनेसे उसकी भावना संसारकी तरफसे हटता गई। एक दिन सोचता है कि मैं विवाह करके स्त्रीको लाया, उसका मुख भी न देखा और जंगलको चला आया, साधुव्रतमें दीक्षित होगया। अब नहीं मालूम वह किस दशामें है। धर्मके मार्गमें लग गई है या

नहीं, चलकर उसे सम्बोधना चाहिये और धर्मपर लगाना चाहिये। वे अपने घरकी तरफ चले, वह मकान तो मन्दिर बन चुका था। वहाँ पहुंचकर एक स्त्रीसे पूछते हैं कि भावदेव जो शादी करके लाये थे सो वह उनकी स्त्री किस हालत में है? स्त्री कहती है महाराज, मैं ही वह स्त्री हूं। मैं तो अब ब्रह्मचारिणीकी स्थितिमें हूं, धर्मपूर्वक निःशल्य जीवन बीत रहा है. किन्तु आपकी शल्य अभी तक नहीं गई। मुनिको इस बातसे बहुत संतोष हुआ और निःशल्य हो बनको वापिस चले आये। निमित्त मिलाओ तो ऐसे जो कि हमारी निर्मलताके कारण हों। ऐसे पवित्र पुरुष ही सच्चे बन्धु वा मित्र हैं। उठनेवाली उपादान स्वरूप तो हमारी आत्मा ही है लेकिन उसे निमित्त भी अच्छा ही मिलाना चाहिये। अच्छे निमित्तसें उपादानके अच्छे होनेकी बाह्य कारणता प्राप्त हो जाती है। उपादानके अच्छे के लिये निमित्त भी अच्छे ही होते हैं। मोक्षमार्गमें चलनेके लिये मोक्षमार्गियोंका समागम बड़ा गुणकारी है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये ५ लब्धियां होना आवश्यक है जिनमें देशना-लब्धि (गुरुका उपदेश मिलना) भी एक है। 'संगतगुण अनेक फल' की कहावत लोकमें भी चरितार्थ है। लेकिन यह सब तो बाह्य ही है। अन्तर आत्माकी भूल भगानेका पुरुषार्थ करना ही प्रधान कार्य है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिमें उपादान (मूल) कारण स्वयं आत्मा, व अन्तरंग निमित्त कर्मोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशम। बहिरंग चेतन निमित्तोंमें जिनेन्द्र दर्शन कल्याणक उत्सव गुरुका उपदेश वगैरह और अचेतन निमित्तों में—

बिम्बदर्शनादीनि च ॥२५॥

जिनेन्द्रके प्रतिबिंबोंका दर्शन, वेदनाका अनुभव, ऋद्धिका दर्शन आदि बाह्य अचेतन निमित्त हैं।

नारकी जीवोंमें अधिकतर वेदनाका अनुभव सम्यक्त्वमें कारण है। जब असह्य दुःख भोगते भोगते उसके कारणों पर ध्यान देते तो मालूम

होता कि हमारे भाव ही हमारे दुःखके कारण होगये। वे भाव हमारे विभावभाव हैं जिन्हें त्यागकर स्वभावमें आना चाहिये, ऐसा विचार स्थिर हुआ और स्वभावपर दृष्टि जमी कि सम्यग्दर्शन होगया।

मिथ्यादृष्टि तो बाह्य पदार्थको ही सुख दुःखका कारण समझता है। मिथ्यात्वमें श्वानवृत्ति और सम्यक्त्वमें सिंहवृत्ति होती है। कुत्ता लाठी मारनेवाले पर हमला न कर लाठीपर आक्रमण करता है और सिंह सीधे आक्रान्तापर आक्रमण करता है। सम्यग्दर्शनके प्रकरणमें यह भी स्थूल उदाहरण है। सम्यग्दर्शनमें बाह्य निमित्तोंसे सर्वथा भिन्न उपादानपर दृष्टि जाती है। जब कि मिथ्यात्वमें निमित्तोंपर ही नजर रहती है। बाह्य पदार्थोंको ही सुख दुःखका कारण समझना। भेद विज्ञान होनेपर दुःखका कारण रहनेपर भी निदान नहीं होता। बड़े वैभवशाली, नेता शासक और कीर्तिमान होनेपर भी दुःखका अन्त नहीं कर सकते जब तक कि स्वरूपपर दृष्टि न आवे।

वज्रबाहु अपनी स्त्रीका बड़ा अनुरागी था। एक बार उसका साला उदयशङ्कर अपनी बहिनको लेने आया, मजबूरी हालतमें उसे मायके भेजना पड़ा। लेकिन वज्रबाहु से न रहा गया और वह भी साथ हो लिया। रास्तेमें एक जंगलीय स्थानमें साधु ध्यान लगाये थे, वज्रबाहु उन्हें ध्यानसे देखने लगा, और इतना चित्त खिंचा कि लगातार दृष्टिसे देखता ही रहा। उदयशङ्कर सालेने उससे हँसी करनेका अच्छा अवसर देखा और बोला कि क्या तुम भी ऐसे ही होना चाहते हो? उदयशङ्कर को मनमें यह कुतूहल हो रहा था कि मेरा बहनोई जो इतना विषयी है कि मेरी बहिनके पीछे पीछे ही चलता है, वह मुनिको गौरसे देख तो रहा है, यह कभी नहीं हो सकता कि इसके विरक्त परिणाम हो जावे। लेकिन ये विचार उसके झूठे साबित हुए। वज्रबाहुका ध्यान उस क्षणमात्र शांतमुद्रायुक्त साधुको देखनेसे बदल चुका था। तब अपने सालेको कहता है, हाँ यदि मैं इन जैसा दिगम्बर हो जाऊं तो क्या आप भी हो जावेंगे?

वह बोला, जरूर होजावेंगे। क्योंकि उसको ऐसा होनेकी सम्भावना नहीं थी। वज्रबाहुने तत्क्षण परिग्रहका भार उतार दैगम्बरी दीक्षा लेली। अब तो उदयशङ्करके मनने भी पलटा खाया। वह सोचता है कितना विषयी जीव! क्षणमात्रमें क्या का क्या हो गया! सचमुच उपादेय यही है मनुष्यजन्मकी सफलता इसीमें है, मैंने साथमें मुनि होनेका वचन भी दिया है। सो वह भी उसी समय दीक्षित हो गया। वज्रबाहुकी स्त्री अपने पति और भाईकी ऐसी विलक्षण शुभदशा देख वह भी विरक्त हो आर्या बनगई। तीनों जीव एक शांत मुद्रायुक्त साधुके दर्शनसे क्षणमात्र में बिलकुल बदल गये। बाह्य वस्तुके प्रभावका यह एक चित्रण है, जैसे हमारे अनुभवमें आते रहते हैं।

जो लोग एकांत निश्चयके पकड़ व्यवहारमें अनर्गल प्रवृत्ति करते हैं उन्हें इस उदाहरणसे अच्छी शिक्षा मिल सकती है। जो मूर्तिपूजा की वास्तविकता न समझ विषयकषाय कार्यों में दिन रात लगे रहकर भी जिनपूजादर्शनके लिये समय नहीं देते उसकी आवश्यकताका विरोध करते वे अपनेको धोखा देते हैं। बाह्यवस्तुके देखने, सुनने, स्वाद लेने, विचारने और अनुभव करनेसे हमारी आत्मापर कैसा कैसा अच्छा या बुरा प्रभाव नितप्रति पड़ता रहता है, हमारी भाव भंगियां उस तरहकी हो जाया करती हैं। हम कभी कभी उन बाह्य पदार्थोंमें डूबसे जाते हैं फिर भी बाह्य वस्तुके अच्छे या बुरे प्रभावसे इन्कार ही करते रहें तो इस सफेद झूठ का बुरा परिणाम किसे भुगतना पड़ेगा? इस आत्म-वंचना का फल उस दुराग्रहीको ही भोगना पड़ेगा। अकल्याणकारी साधनोंकी संगतिसे दूर हो विकारोंमें फंसानेवाली वस्तुओंमें ही फंसा रहेगा तो पापका बोझा उसे जरूर ढोना पड़ेगा वह अपनी आत्माका अनंतकाल तकके लिये बड़ा बुरा कर लेगा।

देवताओं को सम्यग्दर्शनके कारण हैं बिम्बदर्शन कल्याणक और ऋद्धिदर्शन आदि।

जो बाह्य पदार्थोंमें भेदज्ञान कर सकता है उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है। संसारमें अनेक तरहकी पुद्गल वर्गणाएँ भरी हुई हैं, उनमें एक इस तरहकी कार्माण वर्गणाएँ हैं, जिनमें ऐसी शक्ति है कि आत्मामें हुए कषाय भावोंसे कर्मरूप बन जाती हैं। वे वर्गणाएँ, कैसे आत्मासे सम्बन्ध करती, कौन कर्मवर्गणा किस कर्मरूप होती, फिर कौन कर्म कब तक आत्मापर कैसा असर डालता ? वे कर्म कभी थोड़ा और कभी ज्यादा फल देनेवाले कैसे होजाते ? या बिना फल दिये ही क्यों कैसे चले आते ? आदिका विज्ञान सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें विशेष कारण हैं, क्योंकि कर्मोंके संयोगसे ही आत्मा शरीरवान, संसारी और विकारी दशामें हो तो जब तक आत्माको कर्मकी संयोगी दशाका ज्ञान न हो तब तक उसका खालिस शुद्ध रूप ध्यानमें नहीं आ सकता।

यह भेदविज्ञान वैज्ञानिक जैनधर्मसे ही भली भांति हो सकता है। जीव और कर्मोंकी ऐसी सुन्दर साङ्गोपाङ्ग विस्तारपूर्वक व्यवस्थित और तर्कपूर्ण प्ररूपणा जैनधर्ममें ही मिल सकती है। शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल तथा और शेष ४ द्रव्योंका भी ऐसा ही वास्तविक तर्क सङ्गत वर्णन जैनधर्ममें ही मिलेगा क्योंकि इसके प्रणेता पूर्ण वीतरागी और पूर्ण ज्ञानी थे, अतः उसमें त्रुटि होना सम्भव नहीं है। फिर जो निष्पक्ष तार्किक हैं वे इसे इसतरह परीक्षा करके भी देख सकते हैं। विज्ञानसे यह सौटंच खरा उतरनेवाला धर्म है।

तो बाह्य निमित्त मिलनेपर तत्त्वोंका जो यथार्थ स्वरूप निर्णय किया जाता है, उससे सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है।

रावणके समयमें एक इन्द्र राजा होगया है जो अपनेको इन्द्रसे कम न मानता था। उसने अपनी सभा आदिका नाम तथा शासनकी व्यवस्था सब स्वर्गके इन्द्रके तुल्य बना रखी थी। लेकिन जब रावणसे युद्धमें हार गया तो रावणके द्वारा पहिले से भी अधिक वैभव देनेकी बातपर भी राजी नहीं हुआ और दिगम्बर साधु हो गया।

बाहुबलीको जब भरतसे न्यायानुकूल लड़ाई लड़ना पड़ी और भरत से पूर्ण विजय पा ली तब उन्हें उस विजयपर सुगर्व होकर राजलक्ष्मीका भोगकर संसारमें रहनेकी अभिलाषा नहीं हुई, किंतु अपने पिता ऋषभदेव तीर्थंकरके पादमूलमें जा परम तपस्वी बन गये।

किसीको सिरके सफेद बाल देख विरक्तता होगई और किसीको बादलोंकी छाया और बिजलीकी क्षणभंगुरता देख उद्बोध होगया किसीने दालके छिलके और दालके सार भागको देख ज्ञान कर लिया कि सार भागके समान मेरी यह आत्मा है, और छिलकेके समान यह शरीर आदि सब परपदार्थ हैं।

तो अन्तरङ्गकी निर्मलता और उसीके साथ उस तरहके बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर सम्यक्त्व हो जाता है। वास्तवमें सम्यक्त्व श्रद्धा-गुणकी स्वभाव-परिणतिसे ही होता है, किसी अन्यकी परिणतिसे नहीं। भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष सम्पदा और विपदाको एकसा हेय समझते हैं और बल्कि विपदाओंका स्वागत करते हैं। ऐसी सम्यक्त्वकी वृत्ति आनेपर संसारके दुःख दूर हो जाते हैं, दुःख भी उनके लिये सुख रूप होते हैं।

तो ऐसे अपूर्व सम्यग्दर्शनको प्रगट करनेके लिये बाह्यमें भी अच्छे साधन मिलाना चाहिये। अथवा इसको यों भी कह सकते हैं कि सम्यक्त्व प्राप्तिके लिये चित्तमें ऐसी प्रेरणा पैदा करनी चाहिये जैसे सुयोग अच्छे ही मिलें। भावना उत्तम बनने पर सत्सङ्गति मिले बिना न रहेगी। जो सत्सङ्गतिमें नहीं रहता या जो सत्सङ्गतिके लाभके लिये उत्सुक नहीं रहता उसकी भीतरी भावना सम्यक्त्वके प्रति अत्यन्त उदासीन समझना चाहिये।

देवशास्त्र गुरुका समागम साधुओंकी वैयावृत्ति और पात्रदान आदि व्यवहारके प्रति जो उन्हें व्यवहार कहकर उनसे हटकर गृहसमागममें रच रहे हैं उन्हें या तो घरका भी सारा व्यवहार छोड़ शुद्ध आत्मध्यानमें

लीन होना चाहिये। अथवा उस व्यवहारको करते ही हैं तो धार्मिक सम्बन्धी व्यवहारोंको भी चलाना चाहिये, जैसे संसार सम्बन्धी ५० काम व्यवहारके हों वैसे २-४ धर्म सम्बन्धी भी चलें। क्योंकि धर्म प्राप्त होनेके लिये बाह्य सत्संयोग भी कारण पड़ जाते हैं। अब ऊपर कहे हुए समस्त विषयोंका स्मरण करते हुए आगे उनकी तुलनासे अन्य विषयोंमें कुछ कहते हैं—

सूत्र—एवमन्येऽष्वपि प्रयोज्यम् ॥ २६ ॥

जिस तरह जीवके सम्बन्धमें निश्चयनय और व्यवहारनयों के द्वार विचार किया है तथा निमित्त और उपादानको समझा है। निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानके द्वारा जीव तत्त्वको समझा है उसी तरह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यके सम्बन्धमें उक्त सभी विषयोंका प्रयोग कर लेना चाहिये।

जैसे 'मिट्टीके घड़ा' की पर्याय, व्यवहारसे कुम्हार, दण्डचक्र आदि द्वारा है, और व्यवहारनयसे या अशुद्ध निश्चयनयसे अशुद्ध पुद्गल जो स्कन्ध रूप हैं उनसे ही हैं। शुद्ध निश्चयसे पुद्गल घड़ा रूप नहीं है, उसका ऐसा रहना स्वभाव नहीं ? त्रैकालिक द्रव्यरूप नहीं अतः घड़ामें जो अनन्त परमाणु हैं उन प्रत्येकके जो अपने शुद्ध रूप रस गंध स्पर्श हैं उस रूप ही वे वास्तविक पुद्गल हैं। और परम शुद्ध निश्चयनयसे भेद कल्पना न कर उसका अभेदरूप ग्रहण करना उचित है।

घड़े की पर्याय का उपादान वही अभिन्न षट् कारक रूप है और निमित्त कारण अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध रखने वाला कुम्हार दंड चक्रादि है। तथा आश्रय, जल, हवा, अग्नि आदि अनेक पदार्थ हैं।

निर्देश स्वामित्व आदि उपादान रूप षट्कारक से उसके उसमें ही हैं। और निमित्तिसे पर पदार्थ हैं। जैसे वह कुम्हार आदि निमित्तों से बना हुआ घड़ा, जिसने खरीदा या जिसके अधिकारमें है वह उसका

स्वामी है। उसके साधन दण्ड चक्रादि हैं। आधार वह पृथ्वी है जहां वह रखा हुआ है। वह जब तक रहेगा वह उसकी स्थिति है। और उसकी किस्में उसके विधान हैं। यह निमित्तकी अपेक्षासे घड़ेका रूप अजीवका निर्देश आदि द्वारा विचार हुआ। लेकिन उपादानसे घड़ा घड़ा रूप है वही उसका स्वामी है क्योंकि उसके चतुष्टयका स्वामी दूसरा नहीं, वह है। वह अपनेही रूप रस गंध स्पर्शोंसे उस रूप परिण-मा इसलिये वही उसका साधन उसका आधार उसके अपने ही प्रदेशों में है। उसकी स्थिति ऋजुसूत्रनयसे समय २ वर्ती है। और उसमें रहने वाली पुद्गल परमाणुओंका जो अविभागी परिच्छेदोंकी तरतमता हैं वे ही उसके प्रकार हैं।

इसी तरह उपादानसे विचार हुआ। इसी तरह अन्य अनन्त पुद्गल द्रव्योंमें, तथा धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्यमें लगाना चाहिये।

इन सब विधियोंके द्वारा उपायोंके द्वारा पदार्थको जाननेका प्रयोजन है कि हम निमित्त और उपादानको ठीक ठीक समझें, निमित्तको निमित्त रूप समझ, उससे दृष्टि हटाते रहनेका अभ्यास करें, और उपादानको उपादान समझ उसमें भी जो प्रयोजन मूल जीव द्रव्य उपादान वस्तु है उसको निमित्तोंके संयोगसे रहित द्रव्य दृष्टिसे अनुभवमें जाने का सतत प्रयास करते रहें। जो उस दृष्टिको प्राप्त कर चुके हैं वे उस तरहकी क्रियामें लगनेकी शुद्ध द्रव्य रूप परिणति करनेकी या जहां शुद्धोपयोगमय ही प्रवृत्ति करने का अभ्यास हो।

साधारण भेद ज्ञानी जो वाह्य वस्तुओंकी जिनका कर्ता कर्म नहीं मानते कमसे कम उस मान्यताकी दृढ़ श्रद्धा पैदा करें इससे भी परभाव की दृष्टि न रखकर स्वभावदृष्टि हो जाती है जिसके होनेपर कि सम्यग्दर्शन कहा जाता है। तब फिर आत्मा अपने शुद्ध रूपमें हमेशाके लये पहुँच जायगा इसमें कोई संदेह नहीं है।

मित्रगण ! वस्तुके परिज्ञानके लिये निम्नलिखित अनुयोगोंसे— प्रकारों से प्रकाश पा लेना बहुत जरूरी है— १ नामनिक्षेप, २ स्थापना निक्षेप, ३ द्रव्यनिक्षेप. ४ भावनिक्षेप, ५ व्यवहारनय, ६ अशुद्धनिश्चयनय ७ शुद्धनिश्चयनय, ८ परमशुद्धनिश्चयनय, ९ नैगमनय, १० संग्रहनय, ११ व्यवहारनय, १२ ऋजुसूत्रनय, १३ शब्दनय, १४ समभिरूढ़नय, १५ एवंभूतनय, १६ उपचरितसद्भूतव्यवहारनय १७ अनुचरितअसद्भूतव्यवहारनय, १८ उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय, १९ अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय, २० आश्रय, २१ निमित्त २२ उपादान, २३ अर्थानुभव. २४ द्रव्यत्व, २५ गुणत्व, २६ पर्यायत्व, २६ सत्, २८ निर्देश, २९ संख्या, ३० स्वामित्व, ३१ क्षेत्र, ३२ साधन, ३३ स्थिति, ३४ अधिकरण ३५, अन्तर, ३६ प्रकार ३७ भाव, ३८ अल्पबहुत्व।

इन सब अनुयोगोंसे ज्ञान प्राप्त करलेने पर सर्वभेद विकल्पोंको छोड़कर अभेद स्वभावी चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मतत्त्वके उपयोगी बनें इस उपायके बाद सहज ही शुद्ध विकास होजायगा। यह ही स्थिति सत्य शांतिका आश्रय है। ॐ शांतिः।

इस प्रकार अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

द्वारा विरचित अध्यात्मसूत्र पर उन्हीं के प्रवचनों में दूसरे

अध्याय का प्रवचन समाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय

जब तक उपादान निमित्तका ज्ञान न हो तब तक कर्ता कर्म समझ में नहीं आ सकता अतः दूसरे अध्यायमें उपादान और निमित्तका वर्णन करके अब बताते हैं कि—सचमुच में द्रव्यका कर्ता कौन होता है। उसका कर्म कौन होता है। इस अध्यायमें इसका ही वर्णन चलेगा।

लोकव्यवहारमें जो कर्ता कर्मका व्यवहार चलता है, वह केवल लोकव्यवहारके लिये ठीक कहा जा सकता है, वह भी जब उस विषय को वास्तविक मान्यता श्रद्धामें हो। लेकिन प्रायः सभी प्राणी तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा न होनेसे उसके कर्ता कर्मके विषयमें भी विमूढ़ रहते हैं, और उस उल्टी श्रद्धासे परको कर्ता मान नाना तरहसे दुःख उठाया करते हैं, उन दुःखोंका परिहार करनेके लिये जैसे उपादान और निमित्तको जाना उसी तरह निश्चयकी दृष्टिसे पदार्थके कर्ता कर्मको भी समझिये। दोनों उपादान और निमित्तको ठीक ठीक जान लेनेपर उसका कर्ता कर्म भी ठीक ठीक जान लिया जाता फिर भी स्वतन्त्र रूपसे कर्ता कर्मको भी जान लेना जरूरी है—कर्ताको जाननेके लिये क्रियाको जानना पड़ता है जैसे—'राम जाता है' में क्रिया देखी गयी कि 'जाता है' क्रिया है, तब फिर कौन जाता है प्रश्न करनेपर उत्तर मिला कि 'राम' तब राम, जाता है क्रिया का कर्ता मालुम हो जाता है। इसलिये सबसे पहिले क्रिया जानना चाहिये, फिरभी यहांपर कर्ताका वर्णन उसकी मुख्यताके प्रयोजनसे कर रहे हैं कि—

सूत्र—परिणममानः कर्ता ॥ १ ॥

जो परिणमन करने वाला होता है उसे कर्ता कहते हैं। परिणमने वाला स्वयं परिणमता है। दो द्रव्य मिलकर एक काम नहीं करते। जैसे

व्यायाम शिक्षक सब शिक्षार्थियोंको एक साथ व्यायाम कराता, उसमें सबके शरीरोंकी जो क्रियायें हो रही हैं वे एक समान होकर भी अलग अलग होती है, बोलने वाले, सुनने वाले सब अपने २ परिणमन में हैं। पानी गरम हो रहा है। वहां कर्ता कौन है ? जाननेके लिये पहिले क्रिया मालूम करना चाहिये—तो इस वाक्यमें हो रहा है क्रिया है, तब फिर प्रश्न करना चाहिये कौन हो रहा है, तब उत्तर मिलेगा पानी, क्योंकि वही गरम हो रहा है अग्नि गरम नहीं हो रही है। गरम स्पर्शसे कौन परिणम रहा है ? पानी, तब वही कर्ता कहलाया। एक आदमी गाली देता है दूसरा पुरुष क्रोधी होता है, तो यहां पर कौन किसका कर्ता है ? गाली देने का कर्ता गाली देने वाला है, और क्रोध क्रिया करनेका कर्ता क्रोधी पुरुष है। जो जिस रूप परिणम रहा है उसका कर्ता वही है। छाया रूप अवस्थाका कर्ता वह है जो छाया रूप बन गया। छाया छाया रूप कौन बन गया ? वृक्ष के नीचे वाली जमीन। यदि छायाका कर्ता वृक्ष होता तो वृक्ष के प्रदेशमें छाया रहनी चाहिये थी लेकिन ऐसी नहीं है, वृक्षके प्रदेश वृक्षमें हैं। जमीनमें नहीं हैं। दर्पणमें जो गुणाकार दिखता है वह दर्पणका है उस तरहके रूपका कर्ता उस रूप परिणम रहा दर्पण है। क्योंकि दर्पण ही छाया रूप परिणम रहा है। उसीके प्रदेशोंमें वह परिणमित हो रहा है। जिसके साथ अभिन्न षट् कारकका सम्बन्ध हो उसका वही कर्ता है।

आत्माने कषाय भाव किया तो उसका कर्ता कौन हुआ ? कषाय रूप परिणमता हुआ वह आत्मद्रव्य कर्ता हुआ। जिस पौद्गलिक कर्मके उदयसे कषाय भाव हुआ है, वह कर्म कषायका कर्ता नहीं है। दो क्रियाओंका एक साथ एक द्रव्य कर्ता नहीं होता। यदि ऐसा हो तो कर्म को कषायका कर्ता कहना पड़े, और फिर आत्माके समान उसे भी कषाय रूप अनुभव होना चाहिये ? सो होना नहीं। यह निश्चयसे कर्तापन की बात है।

एक गाड़ी चल रही है उसको चलानेवाला कौन ? पहिया। उसके सम्बन्धसे ऊपरका ढांचा चल रहा है—उसका कर्ता वही है। वस्तुतः प्रत्येक स्कन्ध अपनी क्रियाका कर्ता है । जो परिणम रहा है उसका वही कर्ता है। भाप, पानी और कोयला अपना अपना परिणमन कर रहे हैं, वे अपने अपने उस परिणमनके कर्ता हैं। गाड़ी चलनेके वे कर्ता नहीं हैं। आपकी क्रियासे पहियाकी क्रिया नहीं है। पहियाकी क्रिया पहियासे है। इसलिये पहिया चलनेकी क्रियाका कर्ता पहिया ही है। जो परिणम रहा उस परिणमनका वही कर्ता है। भापकी क्रियासे पहियाकी क्रिया नहीं है। ठहरनेमें भी स्वयं पहिया कर्ता है। हां जिनका भिन्न अन्वय व्यतिरेक वाला षट्कारकीय सम्बन्ध होगा वे उसके निमित्त कहलावेंगे ही। एक पुरुष चल रहा है उसका कुरता फड़फड़ा रहा है, तो उस फड़फड़ानेका कर्ता कुरता ही हुआ, आदमी नहीं। आदमी तो चलने की क्रियाका कर्ता हुआ।

एक अंजन ऐसा होता है कि जो उसे लगा लेता है वह दूसरोंको नहीं दिखता। वह व्यक्ति नहीं दिखता लेकिन उसके पहिने हुए कपड़े दिखते हैं। तो आदमी अपनी क्रिया करनेवाला कर्ता नहीं दिखता लेकिन कपड़ा अपनी क्रियाका कर्ता तो दिखता। इससे इतना ही मतलब होना कि जो द्रव्य जिसे अपनी क्रियाको करता है उसका कर्ता वही होता है।

आप कहते कि हम अमुक व्यक्तिसे प्रेम करते, तो आप उसका क्या करते ? आप तो केवल अपने रागभावोंको करते हैं। क्योंकि जो जिस रूप परिणाम रहा है उस तरहके परिणमनका वही कर्ता होता है। कागजको मोड़ा गया तो मुड़नेकी क्रिया कागजमें हुई, तब उसका कर्ता कागज ही हुआ, हाथ केवल निमित्त कहलाया। मिट्टीका घड़ा बना तो उसका कर्ता मिट्टी ही है, कुम्हार आदि नहीं। वे सब उसके निमित्त हैं।

इससे उलटा माननेमें, एककी क्रियाका कर्ता दूसरेको माननेमें नाना तरहके उपद्रव और विसंवाद होते हैं।

यह निश्चयकी दृष्टि है। उस एक द्रव्यके गुण और पर्यायको उसीमें देखना सो निश्चय है। हम और आप अपने अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे सत् हैं। आप कहां बैठे ? क्या आकाशमें ? नहीं आकाश आकाशमें है आप आपमें हैं।

यह वस्तुके भीतरीपनेकी चीज है। बहिर दृष्टिसे यह समझमें नहीं बैठता। ऐसा समझकर भी श्रद्धा दृढ़ नहीं होती। उपादान (मूल) वस्तुको यथार्थ समझ लेनेपर इसकी भी श्रद्धा यथार्थ होजाती।

जिसपर हम विचार कर रहे हों केवल उस एकपर ध्यान आनेसे स्वकर्तृत्व ध्यानमें आजाता। आप जो यह तत्त्वज्ञान समझ रहे हैं इसके कर्ता आप ही हैं, मैं नहीं। समझनेरूप परिणति क्रिया आपमें हुई है आपमें ही उसका अभिन्न षट्कारक सम्बन्ध है, अतः उसके कर्ता आप ही हुए। मैं ने आपको तत्त्वज्ञान करा दिया यह उपचारका कहना हुआ। जो इस तरह कर्तापनको नहीं जानता वह पिटता रहता है। जैसे बच्चे आँख मिचौनीका खेल खेलते। एककी आँखोंपर पट्टी बाँधी जाती है, बादमें उसके सिरपर कोई लड़का चपट लगाता, यदि वह उसका सही नाम बतादे तब तो पट्टी खोल दी जाती है नहीं तो वह पिटता ही रहता है जब तक कि सही नाम न बतादे। हम भी जब तक स्वकर्तृत्वको नहीं बताते, स्वकर्तृत्वकी मान्यताको मजबूत नहीं करते तब तक अपने विभावों से पिटते ही रहते हैं।

इसतरह कर्ताकर्मके व्याख्यान करनेका प्रयोजन क्या है ? इससे द्रव्यमें भेद करनेका प्रयोजन नहीं है, किन्तु परके साथ जो स्वस्वामी सम्बन्ध लगा रखा है वह झूंठा है, उसको बतानेका प्रयोजन है। अन्य के साथ अनादिसे जो कर्तृत्व बुद्धि चल रही है वह खतम हो जाय यही प्रयोजन है।

धनिक तिजोरीमें धन रख रहे हैं, जो कहते हैं सो ऐसा मानना झूंठ है। धन पुद्गल है पर द्रव्य है उसको रखनेकी क्रिया वाले आप

कौन ? आप तो केवल रखनेका विकल्प कर सकते हो उसीके कर्ता बन सकते हैं, धन के रखे जाने न जाने क्रियाका कर्ता तो वही पुद्गल द्रव्य है। संसारी जीव संसारमें बहुत कुछ पानेकी आशा रखता है पर क्या पा सकता ? केवल अपने विकल्पोंको कर सकता है। धन कमानेका विकल्प केवल कर सकते हो उससे आपके लिये कुछ होजाय इसकी आशा रखना मूढ़ता है, क्योंकि वह जड़ है वह आपके लिये क्या हुवा सकता ?

आत्मामें कोई विकल्प ही न उठे और अपने आपमें शांत रहे, केवल स्वभावकी क्रिया करे ऐसा उपाय करना चाहिये।

मैंने इसके करनेके उपाय बहुत ढूंढे। एकांतमें रहा, मौन धारण किया, इच्छित सामाजिक उपकार की प्रवृत्ति की। लेकिन किसी एक पर स्थित नहीं रह सका। एकांतमें हमेशा नहीं रहा जाता। कभी कभी धर्मात्माओंके बीच रहना भी आवश्यक हो जाता। जो धार्मिक भावके ही हों, उसीकी रुचि रखते हों, कभी कभी उनके साथमें रहना उचित है। जब जैसेमें भावोंकी निर्मलता रहे वैसा करना उचित है। प्रत्येक बातमें निजहितक्रिया होना जरूरी है। स्वाध्यायके ५ भेद हैं। १ वाचना २. पृच्छना ३. अनुप्रेक्षा ४. आम्नाय और ५. धर्मोपदेश। ये पांचोंके पांच कल्याणमें साधक कैसे हैं ? अपने लिये जो अध्ययन होता है वह स्वाध्याय कहलाता है। केवल दूसरोंके लिये शास्त्र सुनाना स्वाध्याय नहीं है। शास्त्रोंके पढ़नेसे अपने आप पर जो असर होता है, सम्यग्दर्शनकी निर्मलता होती है, ज्ञानकी वृद्धि होती है, परिणामोंकी निर्मलता बढ़ती है वह स्वाध्याय है। जिज्ञासु भव्य विनयपूर्वक गद्गद वाणीमें ज्ञानी पुरुषसे पूछता है कि हमारा हित क्या है ? जैसे मोही प्राणी अपने स्नेहीसे हमेशा रागकी बातें किया करता उसी तरह निमोही धर्मात्मा विशेष ज्ञानियोंसे धर्मकी चर्चा किया करता, बात मालूम रहनेपर भी विशेष निर्मलता या उपयोग रमानेकेलिये प्रश्न करना वह भी पृच्छना तप है।

मेरे सामने और कौन ज्ञानी है ? प्रश्न पूछकर वक्ताको नीचा दिखा

देंगे या अपना ज्ञानीपन लोगोंको जाहिर होगा आदि दूषित अभिप्रायोंसे पूछना पृच्छना स्वाध्याय नहीं है।

पठित या सुने गये पदार्थज्ञानको बार बार विचारना, उसमें हेय या उपादेयताका विचार करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। पाठ या ज्ञानकी बातें कण्ठस्थ करना आम्नाय तप है। आम्नाय करनेसे हर हालतमें स्वाध्याय चल सकता है। कभी पुस्तक-प्रकाश आदि साधन न जुटनेपर कण्ठस्थ पाठोंका विचार करके स्वाध्याय चल सकता है। दूसरी बात यह है कि कण्ठस्थ रहनेसे स्वयंके समझनेके लिये दूसरोंको समझानेके लिये सरलता होती, विशेषता रहती, निःशङ्क विचार करनेकी क्षमता प्राप्त होती है।

धर्मोपदेश देना पाँचवा भेद है। उपदेष्टा धर्मका उपदेश देकर अपने आपको सावधान बनाता रहता है। दूसरे ज्ञानलाभ और धर्मलाभ करें वह तो प्रयोजन गौण है लेकिन आत्मलाभ प्रधान है। हम धर्मकी बातें कहकर अपनी धार्मिकताको मजबूत बनाएँ, इसके लिये श्रोता लोग आधार हैं। दूसरेके लिये पुद्गलकी बात कही जाती, लेकिन आध्यात्मिक बात अपने आपसे करनेकी होनी है। धर्मोपदेष्टाके लिये श्रोता लोग उसकी धार्मिकताको पुष्ट करनेके अच्छे साधन हैं। श्रोता समझते कि वक्ताने हमें तत्त्वलाभ कराकर हमारा बड़ा उपकार किया लेकिन वक्ता समझता कि श्रोताओंका निमित्त हमारे लिये बड़ा उपकारी है।

तो यहाँ अपने परिणमनके कर्तापनेकी बात चल रही है। सो स्वाध्यायमें स्वकर्तृत्वको घटाकर प्रकरण स्पष्ट किया। प्रत्येक धर्मक्रियाका वही कर्ता है वही सम्प्रदान है।

आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी एक द्रव्यने दूसरेका कुछ कर दिया हो। लेकिन भूलसे मोही प्राणी ऐसा मानता हुआ अनेक प्रवृत्तियाँ उलटी किया करता है, या कहिये सारी क्रियाएँ उलटी करता तो कोई अत्युक्ति न होगी। धर्मके नामपर पुण्यके जो काम करता उसमें

भी परकर्तृत्वको पुष्ट करता। भगवानकी भक्ति करता लेकिन उन्हें परका उपकारी, धर्ममार्गमें लगानेवाले आदि कहकर उनको परकर्तृत्वके महान दोषसे लिप्त करते। वे तो अलिप्त ही हैं जो कि हम अपनी ही ऐसी औंधी कल्पना करके मिथ्यात्वको पुष्ट करते। अपना कल्याण चाहने वालोंको परकर्तृत्वका भूत मनसे सर्वथा निकाल देना चाहिये।

यहाँ कर्ता कर्मकी प्ररूपणा चल रही है। कर्म वह है जो परिणाम रहा है।

सूत्र—परिणामः कर्म ॥ २ ॥

अवस्था वालेका नाम कर्ता, अवस्थाका नाम कर्म और अवस्था होनेको क्रिया कहते हैं। निश्चयसे कर्ता कर्म क्रिया अभिन्न हैं। और वही स्वरूप रूप अवस्था है। दौलतरामजी कहते हैं—

चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना किरिया तहां ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोगकी निश्चल दशा।
प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा ॥

परिणाम अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। सत्पुरुषार्थ रूप परिणाम अच्छे हैं और असत्पुरुषार्थ रूप परिणाम बुरे हैं। अच्छे परिणाम मोक्ष मार्गके साधक हैं और बुरे मोक्षके बाधक और संसारके साधक होते हैं।

आकुलताको बढ़ाने वाला परिणाम असत्पुरुषार्थ है। इसका मूल परका सम्बन्ध माननेका अध्यवसाय है।

कर्मका अभिन्न सम्बन्ध उस द्रव्यसे है। एक द्रव्यका फल दूसरेमें नहीं, कभी नहीं होता अतः और दूसरे कारकोंके समान कर्म कारक भी उसी उपादान द्रव्यमें होना है। दूसरे द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें कर्म कहना लौकिक व्यवहारसे है, सो उसकी मान्यता त्याज्य है। अवस्था ही कर्म है, इस प्रकार कर्मका निश्चय करके अब क्रियाका वर्णन करते हैं—

सूत्र—परिणति : क्रिया ॥ ३ ॥

द्रव्यका परिणमन होना या उसकी अवस्था होना ही क्रिया है। क्रिया परका करनेका व्यवहार भिन्न अर्थोंमें होता है और होनेका अभिन्न अर्थोंमें। होना क्रिया अध्यात्ममें प्रयुक्त होती है। केवल होना क्रियाका प्रयोग करके कोई निबन्ध बनाया जाय तो वह रचना अध्यात्मकी होगी। साथ ही उसमें यदि कारकोंका प्रयोग द्रव्यके अभिन्न अर्थमें किया गया हो तो। जैसे—आपकी इच्छाको निमित्त पाकर वक्ताके उपदेश देनेका विचार होता है। मनमें उस तरहके विचार होनेसे उपदेश होता है, उस उपदेशको निमित्तमात्र पाकर आपमें धर्मकी लगन होती है। धर्मकी लगन होनेसे आपका धर्ममें लगन होता है आदि। इस तरह पदार्थोंमें स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता नजर आवेगी। संस्कृत व्याकरणमें भू धातु सबसे पहिले आती है, उस मूल धातुसे या उसके कृदन्त रूप बनाकर काम निकाला जा सकता है। 'भू' धातु सत्ता अर्थमें आती है, अर्थात् उसका अर्थ होता है सत्ता, और सत्ता अस् धातुसे बनता है। अस् धातु आती है भुवि होने अर्थमें। यह ऐसा हुआ कि लड़का कहे, बाप जाने और बाप कहे लड़का जाने। प्रयोजन यह कि 'अस्' और 'भू' दोनों समानार्थक हैं। एक काम खतम होकर दूसरेके शुरू होनेको होना कहते हैं। वह उत्पाद व्यय रूप है और अस् बतलाता है होना। भू सत् के विना और सत् भू के विना नहीं है, भू बतलाता है सत् ध्रौव्य को।

आप और हम क्या कर सकते हैं? केवल अपनी अवस्था। यदि कोई किसीका परिणमन कर सके तो संसारकी यह व्यवस्था चल ही नहीं सकती, यहाँ तक कि भगवानका भी तख्ता उलट देनेकी कोशिश होने लगेगी। किन्तु वस्तु स्वरूपसे ऐसा हो नहीं पाता। आज भगवानको मानने वालोंमें सच्चे भक्त कितने हैं? स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ने वाले ही ज्यादा हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका ही परिणमन कर सकता है,

दूसरेका नहीं। बड़े दिलके लोग मौतसे भी नहीं डरते। स्वकर्तृत्व और कर्मत्वकी श्रद्धा हमारे लिये बड़े कामकी चीज है। इससे अपूर्व शान्ति आ सकती है हमारी मान्यता मजबूत हो अपने ही कर्तृत्वकी। बन्धु मित्रादि चेतन तथा धन गृह आदि अचेतन पदार्थोंके कर्तृत्वका भारी भार सिरपर रखे रखना बड़े दुःखकी बात है। यह व्यर्थका विकल्प है। सब वस्तुएँ अपने अस्तित्वसे जिस तरहकी रहती हैं रह रही हैं, सभी हमारे परिचित बन्धु आदि अपने २ पुण्यसे सुरक्षित हैं। यदि उनके पापका उदय है तो आप स्वयं उनकेलिये घातक बन जावेंगे। आप उनका हित चाहेंगे किन्तु उनका बुरा ही जायगा। तो श्रद्धाको सच्ची बनाओ, दुःख नियमसे दूर होंगे। श्रद्धाको ठीक न बनाओगे तो दुःख दूर कदापि न होंगे। अब कर्ता, कर्म, क्रियाका लक्षण कहकर संयुक्तार्थ कहते हैं—

सूत्र—इति वस्तु स्वस्यैव स्वक्रिययैव स्वयं कर्तृ ॥४॥

इस प्रकार वस्तु अपनी ही क्रियाके द्वारा अपना ही स्वयं कर्ता होता है, वस्तुस्वरूपही ऐसा है सत्व। कारण यही है। ऐसा मानने वाला व्यक्ति आकुलित नहीं हो सकता और मिथ्या मान्यतामें फँसा रहेगा तो दुःखी अवश्य रहेगा। दूसरे पदार्थोंसे व व्यक्तियोंसे नहीं केवल अपने संकल्प विकल्पोंसे। सच्ची दृष्टि अनादिसे आज तक नहीं मिली, परके संग्रह विग्रहमें ही बुद्धि लगती रही है।

अब शङ्का हो सकती है कि वस्तु जब अपने आपसे परिणमती रहती है परसे नहीं, तो अनन्त काल तकका परिणमन एक साथ क्यों नहीं होता? यदि उत्तर दिया जाय कि एक समयमें एक पर्याय रूप ही परिणमन हो सकता है तो फिर प्रश्न उठता है कि किसी समयका किसी समयमें ऊटपटांग परिणमन क्यों नहीं होता? तो उत्तर है कि वस्तुके परिणमनका ऐसा ही स्वभाव है विभाव अवस्थामें तो अन्यको निमित्त पाकर परिणमता-स्वभावमें सदृश परिणमता। अपने अपने स्वभावसे अपने अपने रूप-क्रमबद्ध रूपसे परिणमन करना वस्तुका स्वभाव है।

विभाय अयस्थामें दूसरे पदार्थोंका निमित्त भी वैसा ही पड़ा करता। पदार्थोंमें ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है। और वस्तुका परिणमन व्यवस्थित रूपसे चलता रहता है। उपादानमें जैसी योग्यता और अनुकूलता होती है वैसा ही परिणमन होता है।

एक दृष्टिसे जब देखा जाता है कि सर्वज्ञदेवने जब सब जान लिया कि जिस क्रमसे जो परिणमन हो रहा है या होता रहेगा और जिस उपादानके परिणमनमें जो जिस रूपमें निमित्त पड़ना है वह उस समय उस रूपसे पड़ेगा ही। उसमें उपादानके साथ निमित्त भी क्या होना है सो भी ज्ञानमें आजाता है। केवल परिणमन रूप फल ही ज्ञानमें नहीं झलका है बल्कि उसकी सारी व्यवस्था भी भगवानके ज्ञानमें झलकी है। जैसे हमें कहीं पहुँचनेके लिये वहाँ पहुँचनेके फलके साथ वहाँ पहुँचनेकी सारी व्यवस्थाका भी ध्यान रहता है। इस तरह स्वयं परिणमते हुए भी पदार्थको अन्य निमित्त होते हैं इसका वर्णन करते हैं—

सूत्र—अन्यन्निमित्तमात्रम् ॥ ५ ॥

पदार्थके परिणमनमें भिन्न षट् कारक वाले अन्य सब पदार्थ निमित्त मात्र हैं। किसीके बढ़ावा देनेसे उसने कार्य किया, तो बढ़ावा देने वाले भी उस कार्यमें निमित्त हैं। कषायभाव होता है उसमें कर्म मिमित्त है, तो कर्मकेलिये भी कषाय निमित्त रूप हो जाती है। जगतके सारे पदार्थ उपादान भी हैं और वही निमित्तरूप भी हैं। प्रायः सभी आदमी बाप भी हैं और बेटे भी हैं। इसी तरह अभिन्न षट् कारकके सम्बन्धसे सारे पदार्थ उपादान हैं और वही भिन्न षट् कारकके सम्बन्धसे निमित्त रूप भी हैं।

जगतमें जितने पदार्थ हैं वे सब परिणमनशील हैं। वे सब किसी न किसी मिमित्तको पाकर परिणमन करते हैं। परिणमनेवाले उपादान हैं और उस परिणमनमें जो आश्रित सहयोगी हैं वे निमित्त हैं। निमित्त का उपादानमें कुछ नहीं जाता, फिर भी विलक्षण सम्बन्ध ऐसा है कि उपादानका परिणमन निमित्तोंको पाकर ही होता है।

इसमें क्या रहस्य है कि निमित्तके बिना परिमणन नहीं होता ? जिस क्षणमें जिस द्रव्यका जैसा परिमणन होनेवाला होता है उस क्षणमें जिन पदार्थोंकी उपस्थिति होती है, वे निमित्त कहलाते हैं। निमित्त उपादानके परिणमनमें प्रेरक नहीं हैं लेकिन उदासीन रूपसे सहयोगी अवश्य हैं। तथा जिनको निमित्त रूपसे देखते थे उन्हें ही जब उपादान रूपसे देखेंगे, उनके परिणमनपर विचार करेंगे तो उन उनके परिणमन में उपादान रूप वह पहिले वाली वस्तु इसके परिणमन की अपेक्षा निमित्त रूप कहलाती। इसी तरह और निमित्तोंके बारेमें जानना चाहिये। वस्तुओंके परिणमनमें ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध चलता रहता है। और अपेक्षा से उपादान निमित्त और निमित्त उपादान होता रहता है। यही इसका रहस्य है।

जैसे—कहा जाता है कि मैं बोलता हूँ, तो विचारिये कि बोलने वाला कौन है ? मेरी आत्मा ? नहीं। वह तो रूप रसादि मूर्ती अपनेसे रहित है, केवल चेतनासे अनुभवनीय है। और बोलनेकी क्रिया तो ओष्ट-दन्त तालु आदि शरीरके पुद्गलस्कंधोंसे हो रही है। लेकिन शब्द रूप परिणति तो ओष्ट तालु आदि की क्रिया रूप नहीं होती। उनकी क्रिया तो उन्होंमें रहती, लेकिन शब्द तो हमारे कर्ण पुट तक आते और अर्थबोधमें सहायक होते हैं, तो उन शब्द रूप पुद्गल वर्गणाओंका परिणमन ओष्टादिसे प्रथक, अपना है, लेकिन उसमें निमित्त कंठ तालु आदिकी क्रियाका निमित्त बनी, इसमें वात आदि निमित्त हैं और उसमें भी निमित्त आत्मा के इच्छा आदि विकल्प हैं। इस तरह निमित्तमें निमित्त चलते हैं। तो बोलनेका काम पुद्गलका है आत्माका नहीं। हां एक कार्य में निमित्त अनेक होते हैं। फिर भी निमित्त बिना वैभाविक कार्य नहीं होते। दृष्टि मुख्यतया उपादानपर होना चाहिये। निमित्तपर नहीं। निमित्त की दृष्टि स्थूल है पर्यायाधीन हैं, उपचरित है, संयोगी है, विकारी है, क्षणिक है, और इसीलिये असत्यार्थ है, लेकिन निमित्त रूप से असत्यार्थ नहीं है। निमित्त निमित्तकी दृष्टिसे सत्यार्थ है, निमित्तमें

निमित्तताकी दृष्टि असत्यार्थ या अभूतार्थ कभी नहीं है। निमित्तको जो उपादान रूपसे देखा जाता है उस अपेक्षासे असत्यार्थ है। एकांत दृष्टि मिथ्या होजाया करती है।

केमरामें सामने वाली चीजका निमित्त पाकर प्लेट स्वयं अपना रूप चित्राकार परिणम जाता। यदि सामनेवाली चीज जिसका आकार उसमें कहा जाता है वह उसमें आये, या उसके कुछ अंश प्लेटमें आवें तो वह चीज उतने अंशोंसे खाली होजाना चाहिये। उसमें कुछ न्यूनता आजाना चाहिये लेकिन ऐसा होता नहीं। अतः चित्ररूप आकृति प्लेट की ही है, वह उसका ही असर है। सामने वाली चीज जिसके समान उसमें आकृति है निमित्त है। ऐसे गहरे सम्बन्ध वाले निमित्तोंमें भी मूल चीजको समझ लेना, समझमें आती रहना निश्चयकी शैली है।

दो व्यक्ति दूर दूर खड़े हैं और झगड़ रहे हैं, तो उन दोनोंका क्रोध रूप परिणमन अपना अपना स्वयंसे हो रहा है लेकिन निमित्त एक दूसरेके अवश्य हैं।

वस्तुको स्वतन्त्र ढङ्गसे अनुभव करते रहनेमें ही शान्ति मिल सकती है। यदि यह दृष्टि न आई तो शान्तिका आना असम्भव है। अब निमित्तको पाकर जो कार्य होता है उसमें वह असर निमित्तका है या उपादानका ? उत्तर देते हैं—

सूत्र—निमित्त प्राप्योपादानं स्वप्रभाववत् ॥ ६ ॥

निमित्तको पाकर उपादान स्वयं अपने प्रभाववाला होजाता है। आत्मामें राग आदि विकार उसके चतुष्टयसे होते हैं। वह उसका ही विकार है। फिर भी उसमें कर्म आदिका निमित्तपना अवश्य है। यदि रागादि होनेमें कर्म आदिका निमित्त न माना जाय तो फिर उस संयोगी अवस्थाको हेय रूप समझ उसे दूर करनेका प्रयत्न कैसे किया जायगा ? निर्विकल्प अवस्थाके पहिले उपादान और निमित्त-रागादि भाव और उनके निमित्त कर्मका भेदपूर्वक ज्ञान होना जरूरी है। ऐसा भेद विज्ञान

न होगा तो वस्तुके शुद्धरूपको कभी नहीं पाया जा सकता। निश्चय और व्यवहार दोनोंका उक्त प्रकारसे पूरा पूरा पक्ष आजाय तब निश्चयकी स्थिरता होती है और फिर निर्विकल्प-अनुभवका लक्ष्य सफल होता है। भूतार्थ दृष्टि—उसका उसीमें परिणमनकी मान्यता—का लक्ष्य सर्वोपरि रहना चाहिये।

सम्यग्दर्शन पानेकी यह पहिली सीढ़ी है।

'तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है' यह लक्षण सम्यग्दर्शनका मोटे रूपसे (व्यवहारसे) कहा गया है। 'आत्म-श्रद्धानं' सम्यग्दर्शनका ठीक (निश्चयका) लक्षण है। सूक्ष्मतः देखिये तो जो ज्ञायकभाव है वह जीव है क्योंकि वही जीवका सनातन स्वरूप है। जीवके ज्ञायकभाव की ज्ञेयाकार परिणति अजीव है। यह अन्य पुद्गलादिकी भाँति अजीव नहीं कहा गया किन्तु जो न जीव खनावादी है सो अजीव इस व्युत्पत्ति से ध्रुव असाधारणभाव ज्ञानसे विपरीत अध्रुव होनेसे अजीव कहा गया है। ज्ञानमें ज्ञेयाकारका आना आस्रव, उनका स्थित रहना बंध, उनका रुकना अर्थात् ज्ञेयाकारोपयोग न होना सो संवर और उपयोगसे खतम होना निर्जरा और सम्पूर्णपने ज्ञानभावमात्र अनुभव रहना मोक्ष है। अथवा जीव चैतन्यस्वभाव है और रागद्वेषादि अजीव हैं अर्थात् ध्रुव एवं स्वभाव न होनेसे जीव नहीं है। यहाँ जीवमें रागादिका आना सो आस्रव व ठहरे रहना बंध है। जीवमें रागादिका न आने देना संवर व आगामी कालके लिये भी रागादि योग्यता नष्ट कर देना निर्जरा तथा अत्यन्त विशुद्ध स्वभावमात्र रहजाना सो मोक्ष है।

इसी तरह सात तत्त्वोंको अजीव (कर्म) में भी घटाइये। कर्म वर्गणाओंका कर्मपना होना, उसका आस्रव, उनमें कर्म रूपकी स्थिति पड़ना बंध, कार्माण वर्गणाओंमें कर्मत्व न होना संवर, कर्मोंका कर्मत्व क्षीण होना निर्जरा और सर्वथा कर्मत्वसे रहित होजाना सो कर्मरूप अजीवका मोक्ष है। जो घटना होती है वह परस्पर सम्बन्धसे होती है आश्रवादिक भी ऐसी ही घटना है।

एक गाँवमें एक साधु आये, लोगोंने आहारकी विधि लगाई, लेकिन विना आहार किये ही गुस्सा होकर चल दिये। लोग उनके पीछे पीछे दौड़े और वापिस गाँवको चलनेकी प्रेरणा की, लेकिन उन्होंने श्रावकोंसे कहा, जाओ तुम्हारा हम मुख नहीं देखना चाहते। तब श्रावकोंको भी अश्रद्धा होगई और साथ ही रोषमें आकर कहा अच्छा जाइये हम लोग भी आपका मुख नहीं देखना चाहते।

यद्यपि निमित्त नैमित्तिक भावसे सर्व व्यवस्थायें चल रही हैं तथापि जिस चीजमें जो पर्याय हुई तो वह उसीमें देखो। दर्पणके प्रतिबिंबमें हम खाली प्रतिबिंबको और खाली दर्पणको देख सकते हैं, यदि सूक्ष्म और भेददृष्टिसे देखें तो। इसी तरह जीवमें भी उसीके आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षको तथा अजीवमें उसीके आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षको देख सकते हैं। परस्परमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध रहते हुए भी उन्हें भूतार्थ दृष्टिसे अलग २ देखो। दोनोंको अलग २ देखकर फिर जीवमें स्वभावका आश्रय करके देखो। फिर उस स्वभावमें भी पर्यायको गौणकर अभिन्न शुद्ध रूपका अनुभव करो तो वह परम शुद्ध निश्चयनयका विषय हुआ था, जो कि सम्यक्त्वरूपका हेतु है।

गाली देने वालेने दूसरेको गुस्सा करा दिया। अब इसमें उपादान और निमित्त देखो। गाली देनेवाला अपनी उस कषाय परिणत आत्मा उपादान है और उस परिणतिका बाह्य निमित्त वह दूसरा आदमी है जिसे गाली दी जा रही है। इसी तरह गाली सुनकर गुस्सा करनेवाला जीव उस भावको पैदा करनेमें उपादान है और उसकी क्रोध परिणतिका बाह्य निमित्त गाली देनेवाला है।

इस तरह वस्तु स्वातन्त्र्य जब तक समझमें न आवे तबतक मान्यता सच्ची नहीं हो सकती और विना सच्ची मान्यताके ज्ञान यथार्थ नहीं कहला सकता और विना उसके सारी प्रवृत्तियाँ संसारकी कारण हैं। और जब तक यह दशा है तबतक शान्ति नहीं, और शान्ति नहीं तो सुख नहीं। अतः ठीक ही कहा है—

धन कन कंचन राजसुख सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसारमें एक जथारथ ज्ञान॥

यों तो मिथ्यादृष्टि भी नवमें ग्रैवेयकका अहमिद्र हो सकता है लेकिन जब तक स्वरूपकी दृष्टि नहीं तब तक वास्तविक शान्ति नहीं। वह तो मोक्षमें ही मिलेगी। द्रव्य जिस योग्यता वाली होती है उस योग्यताके अनुसार निमित्तको पाकर अपना असर प्रकट कर लेता है। असर कहो या कार्य अथवा परिणमन कहो एक ही बात है। असर पर्याय है क्योंकि वह विनाशीक है। तो पदार्थ जो परिणमन करता है वही असर है, पर्याय है यह असर निमित्तको पाकर व्यक्त हुआ। जैसे हम चौकीपर बैठे तो हमारा बैठना चौकीकी क्रियासे नहीं, किन्तु हमारे असरसे ही है। परन्तु हम यह अपना असर चौकीको निमित्त पाकर ही कर सके हैं अथवा अन्य जगह होते तो अन्यको निमित्त पाकर असर अपना लाते। सारांश यह है परस्पर निमित्तनैमित्तिकता होकर भी अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यमें अपनी परिणति नहीं लाता। अब प्रश्न होता है कि निमित्तको पाकर उपादान अपना प्रभाव व्यक्त कर लेता है इसमें कारण क्या है? उत्तर—

सूत्र—एष परिणममान द्रव्यस्वभावः ॥७॥

इस तरह परिणमन होना परिणममान द्रव्यका स्वभाव ही है। कोई कहे कि आखिरमें निमित्त प्रधान है कि उपादान? तो कहते हैं कि निश्चयदृष्टिमें निमित्त नहीं, उपादान प्रधान है। अध्यात्मका यही सार है, इसे ही समझानेकी सारी व्यवस्था है। इसको ही नहीं समझनेपर भटक रहे हैं। सूर्यके निमित्तसे काँचमें ही काँचकी चमचमाहट है, इसी तरह कर्म या और बाह्य निमित्तसे आत्मामें ही आत्माके रागादि विकार हैं। यदि ऐसा न हो तो इन्हें दूर करनेका प्रयत्न क्यों किया जाय। लेकिन इसके ऊपर भी स्वभावमें अभिन्नताकी दृष्टि आजाने पर आत्मा शुद्ध नजर आती है।

प्रत्येक द्रव्यका परिणमन उस ही द्रव्यमें होता है। फिर भी परिणमन अयोग्यमें योग्य और योग्यमें अयोग्य क्यों नहीं हो जाता ? ठीक व्यवस्था क्यों बनी हुई है ? इसका उत्तर है कि वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें अव्यवस्था नहीं होती। यदिमात्र निमित्तकी प्रधानतासे जगतकी व्यवस्था होती तब तो अव्यवस्था होती और अवश्य होती क्योंकि एक ही कालमें एक चीजकेलिये कई तरहके निमित्त मिलते हैं और ऐसे जबरदस्त निमित्त मिलते हैं कि यदि वस्तुमें अपने स्वभाव न छोड़नेका गुण मौजूद न होता तो निमित्त उपादानको आत्मसात् कर लेता उनका अस्तित्व ही खतम कर देता। लेकिन उपादान स्वयं अपनी शक्तिसे अपने स्वभावसे परिणमन करता रहता है। उस परिणमनमें उस समय वैसे ही निमित्त मिलते हैं और जैसे निमित्त मिलते हैं उन्हें निमित्तमात्र कर उपादान अपनी वैसी परिणतिसे परिणम जाता। निमित्त बलाधान करके उपादान को कभी नहीं परिणमा सकता। जिस क्षणमें जलकी अति शीत पर्याय होना है उस समय उसे बर्फ या हवा आदिका उस तरहका संयोग मिलेगा। यह कभी नहीं हो सकता कि जलकी पर्याय तो गरम होना थी लेकिन निमित्त बर्फका मिल गया इसीलिये ठंथा हो गया। यदि जलको गरम होना है तो उस क्षणमें उसे उस तरह अग्नि या सूर्य आदिके वैसे निमित्त मिलेंगे ही मिलेंगे सर्वज्ञदेवको सर्व ज्ञात है। इसलिये वस्तुका सुव्यवस्थित परिणमन उसके योग्य स्वभावसे है न कि निमित्तकी ताकत से। जीव और पुद्गलका जो विभाव परिणमन होता है वह भी निमित्तकी बलवत्तासे नहीं वस्तुकी उस वैभाविकी शक्ति के स्वभावसे है। जीव और अजीवमें एक वैभाविकी शक्ति भी है कि वह अपने परिणमनके कालमें उस तरहका निमित्त पाकर उस रूप परिणमन करती है।

कोई कहे कि निमित्त न मिलें तो जीव या अजीवका विभाव परिणमन कैसे हो ? फिर तो स्वभाव रूप परिणमन होगा। अतः

वैभाविक परिणमनमें तो निमित्तकी प्रधानता मानो। भैया विभाव तो कर्मोदयको निमित्त पाकर ही होता है, यह ठीक है तथापि जीव यदि अपने स्वरूपको भूलनेकी भूल न करे तो दर्शन-मोह उसे जबरदस्ती मिथ्यादृष्टि नहीं बना सकता। यदि कर्मका ही बल हो तो वह कभी जीवको सम्यग्दर्शन न होने दे, सम्यग्चारित्र न होने दे और मुक्तिका मार्ग बन्द पड़ जाय लेकिन बात ऐसी नहीं है। आत्मा जब अपनी भूल सुधारनेकी पर्याय करता है तो कर्मोंकी उपशम आदि अवस्था होती है। कर्मोंकी उपशमादि अवस्था आत्माकी ताकतसे नहीं हुई किन्तु वह भी उस क्षणमें उस पर्यायरूप होनेवाला था। इधर आत्माके उन भावोंका भी निमित्त वैसा मिल गया, अतः वैभाविक परिणमनमें भी वस्तुके उपादानकी मुख्यता है। बहिरंग या अन्तरंग निमित्तसे चीजमें असर नहीं आता, कर्मोदयरूप पुद्गलकी अवस्था उसकी है उसके असरसे है। उसके बाहिर नहीं। उसका कुछ भी आत्मामें नहीं आता। रागरूप असर कर्मका नहीं आत्माका है। हाँ कर्मकी पर्याय उसका रूप उस समय निमित्तमें है इसलिये उससे राग हुआ ऐसा कहा जाता। तो हमारा जिम्मेदार कौन? हमारे जिम्मेदार हम ही हैं। उस पदार्थका जिम्मेदार वही है। भाव अच्छा करे और फल उसका अच्छा न मिले यह कभी नहीं हो सकता। उसका वह अच्छा फल कब और किस रूप मिला यह हमारी समझमें न आवे यह दूसरी बात है। साधु ध्यान लगाये बैठे हैं, उनपर कोई दुष्ट उपसर्ग कर रहा है, तो उस समयके दोनोंके भावोंके अनुसार उन्हें फल अवश्य मिलेगा, साधुके सँवर और निर्जरा विशेष होगी और उपसर्ग करने वालेके अत्यन्त कुटिल पापका बंध होगा। जिसका कुछ यथासमय प्राप्त हो जायगा। कर्मोंकी व्यवस्था ऐसी है कि उसमें कभी अनियमितता नहीं आती। आबाधा कालको छोड़कर कर्म उदयरूप अवस्थामें अवश्य आवेगा, यदि उसका संक्रमण आदिरूप परिणमन नहीं होना है तो यह सब परिणमते हुए द्रव्यका

स्वभाव है जो अपनी योग्यतानुसार अन्यको निमित्त करके अपना प्रभाव प्रकट करता है। अब परिणामोंके विषयमें विवरण करते हैं :—

सूत्र— परिणामों द्वेधा स्वभावविभावभेदात् ॥८॥

परिणाम दो तरह के होते हैं। १ स्वभाव परिणमन और २ विभाव परिणमन। स्वभाव परिणमन सिद्धजीव, पुद्गल-अणु, वा शेष धर्मादि द्रव्यों में होता है और विभाव परिणमन अशुद्धजीव और पुद्गल स्कंधमें होता है।

स्वभाव परिणमन कहते हैं— स्व-निजके भाव-परिणाम से जो परिणमन हो उसको विभाव परिणमन कहते हैं। वि-विकृत जोभाव-परिणाम जो परिणमन हो उसे विभाव परिणमन कहते हैं। स्थूल रूपसे इसमें वाह्य निमित्तकी विशेषता दिखती है, किन्तु यदि निमित्तकी विशेषता प्रेरक रूपमें या प्रधान रूपमें लें तो सिद्धजीवों में वैभाविकी शक्तिकी सत्ता है और कार्माण वर्गणाएं भी वहाँ मौजूद हैं फिर उनके कर्म बंध होजाना चाहिये। लेकिन होता नहीं। क्यों? उस समय उस द्रव्यके उस वैभाविकी शक्ति रूप परिणमनकी वैसी योग्यता नहीं है। जीव स्वभाव रूप ही परिणमन कर रहा है, तो विभाव रूप कौन करे?

हां विभाव परिणाम संयोगज होने से विभिन्न रूपमें होते हैं। होने वालों के।

प्रत्येक द्रव्य में परिणमनकी शक्ति है। नहीं तो वह द्रव्य ही न रहेगा। यह परिणमन शक्ति सब द्रव्यों में पाई जाती है। विभाव रूपसे परिणमनेकी शक्तिको वैभाविकी शक्ति कहते हैं। और स्वभाव रूपसे परिणमनेकी शक्तिको स्वाभाविकी शक्ति कहते हैं।

शक्ति एक ही तरहकी है। उसके दो तरहके परिणमन होते हैं, स्वभाव रूप और २ विभाव रूप। विभाव रूप परिणमनमें, अन्य द्रव्य संयोगी निमित्त बनता है।

आत्मा में वैभाविकी शक्ति पाई जाती है इसलिये निमित्तको पाकर वभाविक रूप परिणमता। समुद्र में लहराने की शक्ति थी इस लिये हवाका निमित्त पाकर लहराता है। उसके स्वलक्षणमें हवा आदि का प्रवेश नहीं हो जाता। इसी तरह आत्मा की लहर क्रोधादिको समझना। वह आत्माके चतुष्टयसे परिणामी है। निमित्तसे वैभाविक नहीं परिणमता। हमेशा वैभाविक परिणमन इसलिये नहीं होता कि हमेशा उसमें योग्यता के अनुसार परिणमन होता है। जब विभाव रूपसे परिणमनेकी योग्यता थी तो कर्मोदयका निमित्त पाकर वैसा परिणमना था और जब स्वभाव रूप परिणमनेकी योग्यता होती है। तब निमित्त बने रहने पर भी स्वभाव रूपही परिणमन होता है। स्वभाव योग्यता आजानेपर निमित्तभी वद्ध नहीं रहता। सारांश यह है कि स्वाभाव परिणाम तो वह है जो काल द्रव्य के अतिरिक्त किसीभी अन्य द्रव्यको निमित्त न बनाकर हो स्वभावसे हो, निमित्त के आश्रय बिना हो। तथा विभाव परिणमन वह है जो अन्य द्रव्यको निमित्त पाकर प्रभाव बने। आत्मामें विभावका प्रवाह अनादिसे वह रहा है। एक बार भी स्वच्छल का वाह आने पर अनन्तानंतकाल (सदा) के लिये विभावप्रवाह समाप्त हो जाता है अब इन दोनों परिणामों में से स्वभाव परिणामका विवरण करते हैं। सूत्र—

स्वभाव परिणामो' नियतो विविध निमित्तान पेक्षत्वात् ॥६॥

स्वभाव परिणमन में नियतता होती है। उसमें अनन्त काल तक एकसाही परिणमन होता है। क्योंकि उसमें विविध निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं है।

एक जगह बहुतसी गोली रखी हों, एक भोला बालक उन्हें देखता है तो उनके रखे रहनेका क्रम या पुद्गल उसके ज्ञानमें आ गया लेकिन उनका विकल्प उसके नहीं होता। इसी तरह जंबूद्वीप आदि स्थान वा उनकी क्रमवर्ती पर्यायका ज्ञान होते हुये भी उनके विकल्प केवलज्ञानीके

नहीं होते जैसा जहाँ जितना है वैसा ज्ञानमें झलक जाने पर भी विकल्प पैदा नहीं होते अपनेको भी कभी कभी ऐसा होता है कि क्रमिक ज्ञान होकर भी उसके विकल्प नहीं होते। एक पदार्थ मेंअनन्त पर्यायें हैं वे सब पर्यायें क्रमिक हैं। वर्तमान पर्याय का वर्तमान रूपसे विकल्प त्रिकालज्ञ को नहीं होता। तो भूत भविष्यका विकल्प कैसे होगा? फिर भी ज्ञान में सब है। यहां बालकके दृष्टान्तमें बालकको कहीं निर्विकल्प न समझ लेना। वह तो स्थूल दृष्टान्त है।

इस बातको प्रवचन सारमें अधिक स्पष्ट किया है वहाँसे जानना। सब जाना वही अनन्तकाल तक जानते, इसीमें नियतता सिद्ध है।

सिद्धों के ज्ञान सुख आदिकी अवस्था बतलाने में नहीं आ सकती इसी तरह धर्मादि अन्य अमूर्त द्रव्यों की अवस्थायें भी। क्योंकि जहां विषमता रहित समरूप-एक-रूप-परिणमन होता है उसकी प्रतीति होकर भी वह बतलाने में नहीं आता। इसीलिये लोग भगवानको कहने लगते हैं कि भगवान को क्या सुख है? क्योंकि विषयीको तो विषयकाही सुख सुख नजर आता वह क्या जाने अतीन्द्रिय सुख कैसा होता? लेकिन सुख वास्तव में इन्द्रियातीत ही है वह असीम अक्षय और परम आह्लादमय है। वह एकरूप है नियत है किसी परकी अपेक्षा नहीं करता।

चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदि इन्द्रिय सुखोंका तिरस्कार कर क्यों छोड़ते हैं? तिरस्कार करना यह तो व्यवहारमें हम कहते लेकिन वे विशुद्धात्मायें अपने आत्मा के सुखमें जब लीन हो जाती तो उत्कृष्ट सुखमें ही रस लेने लगते हैं फिर इस तुच्छ इन्द्रिय सुखको कौन देखे। जहां अकुलता है वहां तो दुःखही है, संसारके सारे प्राणी अकुलतामें पड़े पड़े दुःखी हो रहे हैं जो इसे हटाते हैं, वे सुखी हो जाते हैं।

तो स्वभाव परिणमन नाना निमित्तोंकी अपेक्षा न रखनेसे होता है। सिद्धोंके चाहे वे तीर्थंकर चक्रवर्तीया सामान्य नाम धारी किसीभी

पर्यायसे मुक्त हुये हों गुणोंमें सब सिद्ध समान हैं। तो आदिनाथ स्वामीकी आत्मा ५०० धनुष और महावीर स्वामी की ७ हाथ यह अन्तर कैसा ? यह तो पुद्गल के निमित्तसे लम्बाई चौड़ाईका विचार हुआ। पूर्व पर्याय में नाम कर्म से मिले शरीरके प्रमाणसे जो अभावके प्रदेशोंका प्रमाणका वह शरीर नष्ट होने पर प्रदेशों की घट बढ़ होनेकी कारणता न होनेसे उसी आकारमें रह गये लेकिन इससे आदिनाथ या महावीर स्वामीके आत्मगुणोंमें होना पूरक नहीं पड़ता। परिणमन सबका एक सा है। चैतन्य पर दृष्टि देनेसे यह बात समझमें आ जायेगी।

एक एक द्रव्यके अनन्त गुण हैं। एक एक गुणके अनन्त पर्यायें हैं और प्रति पर्यायके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं तथा ऐसे अनतानंत पुद्गल द्रव्य हैं, अनंतानंतजीव हैं, असंख्यात काल हैं, और एक एक धर्म अधर्म आकाश द्रव्य इन सब द्रव्यों के गुणों की पर्यायों को सिद्ध जानते हैं। ऐसे ज्ञाता एक सिद्ध ऐसे अनन्त सिद्धोंको उनको इस ज्ञान सहित वे सब सिद्ध जानते हैं इस तरह सभी सिद्धोंके ऐसा ज्ञान समान होता है। सिद्धोंके अनन्त सुख और वीर्यादि अनन्त सब गुण समान होते हैं। इस तरह उन सबमें एकसाही परिणमन है। उसमें उन के स्थूल निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं है। अब स्वभाव परिणामका संक्षेप में वर्णन कर अब विभाव परिणामका कुछ विवरण करते हैं—

विभाव परिणामो नियतोऽनियतश्च ॥१०॥

विभाव परिणाम नियत भी है, और अनियत भी है। अमुकके बाद अमुक और अमुकके बाद अमुक ऐसा प्रति समयवर्ती परिणाम नियत परिणाम है। और अमुकके बाद अमुक ऐसे क्रमके स्वभावको जो परनिमित्त बिना स्वयं न रखे वह अनियत परिणाम है। इन दोनों से नियत परिणाम को सहेतु कहते हैं :—

सकल विशेषज्ञाभ्यां ज्ञातश्चात्र यदा यदपि भवेत्तस्य तदात्र भवनाच्च नियतः ॥११॥

सर्वज्ञ वा विशेष ज्ञानी, अवधि ज्ञानी व मनः पर्यमज्ञानी वा निमित्तज्ञानी आदि द्वारा भविष्यज्ञात हो जानेसे और जहां पर जो भी होना होवे उसके वहाँ उस रूप होनेसे विभाव परिणाम नियत है।

मानलो ३ वर्षका आगामी ज्ञान हो गया तो उस ३ सालके बीच में जो भी होगा वह जाननेसे नियतता हुई। और जब भगवान अनन्त समयवर्ती सब जानते है तो उसमें जो जब जैसा होता है वह वहां वैसा ही जाना गया है। अथवा कहो कि जब जैसा जहाँ जाना गया है वैसा ही होता है। ऐसा सम्पूर्ण ज्ञान होकर भी उनका विकल्प उनके नहीं होता।

लोग कहते हैं कि ईश्वर या खुदाकी मरजीके बिना पत्ता भी नहीं हिलता, उसका मतलब यही है कि उनके ज्ञानमें जो आया है वही होता है अन्यथा कुछ भी नहीं होता। क्योंकि जो होना है या होता है वही तो उन्हें ज्ञात है उन्हें कोई दूसरी तरह से ज्ञात तो है नहीं।

तो फिर पुरुषार्थ करने की जरूरत नहीं रही? हाँ कुछ भी मत करो न बोलो और न सोचो भी यदि ऐसे पुरुषार्थ होने हो सकते हों तो होओ। यदि हो सकते हों तो यह ही बड़ा पुरुषार्थ होगा। और करना यही चाहिये। हम संसार का क्या कर सकते हैं। कुछ नहीं ऐसा निश्चय कर अपने में निश्चल हो जाओ। रोष तोष करने से होता क्या है? जो भगवान ने देखा है वही होता है। कोई कहे कि हम अन्तर डालेंगे तो आज भगवानने वैसाही देखा है जैसा तुम अन्तर डालने की बुद्धिसे करोगे।

भगवानने ऐसी व्यवस्था नहीं की कि ऐसा होना चाहिये, किन्तु जो कुछ जैसा हो रहा है वैसा उन्होंने जाना है। इसीलिये भगवान

झूठे नहीं पड़ते। हम जैसा करेंगे निमित्त जुटावेंगे वैसा ही वे जानते हैं। विभावोंका नियत परिणाम होनेमें पहिला हेतु दिखाया कि केवलज्ञानियोंने वैसाही जाना है इस कारण वह परिणमन नियत कहलाया दूसरा हेतु यह हुआ कि जो पदार्थ जिस समय जहाँ जैसा होना होता है वह वहाँ वैसाही होता है उसमें फरक नहीं पड़ता, इसलिये भी निर्यमितता है।

केवलज्ञानीके ज्ञानको न विचार यदि हम इस तरह पदार्थके परिणमनको विचारेंगे तो उससे भी परिणामकी नियतताका बोध लेगा। और उसके परिणमनकी नियतता उस पदार्थके समस्त पर्यायोंकी प्रकल्पना से ही हैं। केवलज्ञान वैसा जानता है जैसा होना है, अतः उस ज्ञानसे पदार्थकी निर्यमिनता मानना उपचारसे हैं।

पदार्थकी उस रूप होती हुई पर्यायको कोई बदलना चाहे तो नहीं बदल सकता।

नेमिनाथ भगवानकी दिव्य ध्वनि में यह बात कही गई कि अबसे १२ वर्ष बाद द्वारिकाका नाश द्वीपायन मुनिके निमित्तसे होगा और कृष्णकी मृत्यु उनके भाई जरतकुमार द्वारा होगी।

कई व्यक्तियोंने अपनी भोली बुद्धिसे यह सोचा कि द्वारिका और कृष्णकी रक्षाके लिये उनके घातक निमित्तोंको हटा देना चाहिये। ऐसा ही किया गया, लेकिन वे निमित्त उस समय आ ही जुटे कि द्वारका भस्म हो गई। कृष्ण जी और बलभद्र जी को अपने पिताके लिये अत्यन्त विवश हो उस धधकती हुई द्वारका में छोड़कर भविष्य वाणी की कृतिकी प्रेरणासे भाग जाना पड़ा। वहाँ कृष्णकी मृत्युका निमित्त जरदकुमार भी आ पहुंचा और पीताम्बर ओढ़ कर सोते हुये कृष्णको हिरण समझ बाण चला दिया और कृष्णका मरण हुआ।

बहुत छोटी अवस्थामें मैं जब सागर विद्यालय में प्रारम्भिक कक्षा का शिक्षार्थी था प्रातःकाल घूमने जाया करता था। एक दिन मनमें

आया कि लोग कहते हैं कि भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही होता है, तो आज मैं इस बातको खंडित करता हूं। मैं हमेशा जिधर घूमने जाता हूं उधर न जाकर दूसरी तरफ जाऊँगा, और मैं दूसरे रास्तेमें मुड़ गया। फिर विचार आया कि कहीं भगवान ने यही देखा हो कि आज यह इधर ही जायगा तब मैं पुराने रास्ते पर लौटा। लेकिन फिर विचार बदला और नये रास्तेसे जानेका उद्यम किया। इतनेमें विचार आया कि देरी होरही है, चल अपन तो पुरानी जगह पर जाकर ही जल्दी लौट चलें। पीछे मनमें यह समाधान आया कि भगवानने ऐसा ही आजका देखा होगा कि दो बार दूसरी रास्ता पकड़ अन्तमें अपनी पुरानी रास्तेपर ही इसका जाना होगा।

निमित्त ज्ञानी या अब भी कुछ-कुछ बातें आगे पीछेकी बताते हैं। तो जो होना है वह होकर रहता है।

सिनेमाके चित्रपट पर जो चलती हुई चीजें या व्यक्ति दिखाते हैं, क्या रीलमें वैसे चलते हुए चित्रित हो सके हैं, नहीं। उस चलती हुई चीजके एक-एक सेकण्ड के अनेकों चित्र लेकर और फिर उन्हें लगातार दिखानेसे चलती हुई दिखाई देती है।

कोई कहे पेटमें पहुँचना होगा तो पहुंचेगा नहीं तो नहीं, और भोजन बन्द करदें, तो उतने समयके लिये उसे सचमुचमें आहार न मिलना होगा इसलिये उसने ऐसा ठाना।

क्रमसे नियमित परिणमन तो नियमित ही होते हैं, तब व्यर्थ ही विकल्प बढ़ाकर दुःखी क्यों होते हो। यह बात कोई सन्तोष देनेकेलिये कल्पित नहीं कही जा रही है, यह तो जिनागमकी और वस्तुस्वभावकी बात है।

अब कोई प्रश्न करे कि कार्य दैवसे होते कि पुरुषार्थ से ? उत्तर है कि पुरुषार्थकी प्रधानतासे। क्योंकि दैव भी पुरुषार्थसे ही बनता है। दैवका मतलब भाग्य या कर्म किया जाता तो वह कर्म पौद्गलिक है,

और पुद्गल की वह विभाव पर्याय है, विभाव परिणति उसमें स्वयंसे है, उसकी परिणतिसे जीवका पुरुषार्थ, जीवकी इच्छाएँ नहीं हो सकती। पुरुषार्थके प्रेरक आत्माकी कल्पनाएँ हैं वे आत्मासे ही होती हैं कर्मसे नहीं। कर्म को निमित्त कहते हैं लेकिन वह गौण है, उसका फल पुरुषार्थ मानना अभूतार्थ है। यदि पुरुषार्थको प्रधान न माना जाय तो जीवकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती। कर्मकी परम्पराका खतम होना असम्भव हो जाय लेकिन आत्मा जब अपनेमें मह और क्षोभको हटाने का पुरुषार्थ करता है तब अपनी शुद्ध अवस्था पा लेता है।

अथवा अपेक्षासे दोनों अपनी-अपनी जगह बड़े हैं बड़ा और छोटा यह आपेक्षिक कथन हैं। नहीं तो न कोई बड़ा है और न छोटा। बड़े और छोटेकी तुलना अपेक्षासे ही हो सकती है अन्यथा नहीं।

इसका एक उदाहरण है—

दो व्यक्तियोंका इसपर विवाद चला कि दैव बड़ा है या पुरुषार्थ। आपसमें सुभाव न होनेपर राजाके पास गये। राजाने अपना मत देने के लिये ३ दिनका उनको समय दिया, और दोनोंको एक जगह रखवा दिया। दोनोंको भोजन नहीं पहुंचाया गया। दैव वाला सोचता रहा मिलना होगा मिलेगा ना मिलना होगा ना मिलेगा, व्यर्थ चिन्ता करने से क्या? पुरुषार्थवादी सोचता हैं चलो कुछ प्रयत्न करना चाहिये, इधर उधर खोजनेपर उसे दो लाड्डू मिले, वह अपने पुरुषार्थ पर प्रसन्न हुआ और १ लाड्डू स्वयं खा दूसरेको दूसरा लाड्डू दे अपने पुरुषार्थके फलको प्रदर्शित किया। ३ दिन बाद राज सभामें पहुंचे, दोनों ने अपनी लाड्डू वाली घटना सुनाई। राजाने कहा ठीक है एक को लाड्डू पुरुषार्थ से मिला तो दूसरेको भाग्यसे। दोनों बराबर रहे। उसका दैव भी पूर्व पुरुषार्थसे उपार्जित था।

जो जो देखी बीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी नहीं होत सयाने काहे होत अधीरा रे॥

कविका यह उद्धरण हृदयमें लिख रखने योग्य है। हम किसीकी आपत्ति या इष्टके वियोगमें इसका उपदेश दूसरोंको खूब देते हैं लेकिन अपनेपर बीते और इसके अनुसार अचल और निर्मल रहा जाय तभी उसके समझने समझाने की सार्थकता है। फिर अकाल मृत्यु कैसे घटित हो ?

अकाल मृत्यु का मतलब यह नहीं कि उसकी मृत्यु किसी दूसरे समयमें होने वाली थी और होगई दूसरे समयमें। मृत्यु तो उसी क्षण में होने वाली थी जिस क्षणमें हुई। लेकिन आयु कर्मकी उदयके क्रमिक निषेक, जो अधिक समय तक की स्थितिके थे वे परिणामोंकी संक्लेशता से उदीरित होगये और थोड़े समयमें ही खिर गये यह अकाल का मतलब है।

जैसे किसी मनुष्यको ३० वर्षकी अवस्था तक मनुष्य पर्याय में रहना था लेकिन आयु कर्मके निषेक उसके ६० वर्ष की स्थिति वाले थे। तो वे ६० वर्ष की स्थितिवाले निषेक ३० वर्षके भीतर किन्हीं परिणामों की संक्लेशता आदिका कारण पाकर उदीरणा रूपमें आ जावेंगे और ३० वें वर्षमें ही खतम हो लेंगे। इसी से उदीरणा होकर उदयके कालके घटनेको अकाल कहा है।

वस्तुके इस नियमित परिणमनपर निश्चय कर आकुलता व्याकुलता हटाना चाहिये, व्यर्थ ही सिर फोड़ी करनेसे दुःखके सिवा और क्या हाथ आवेगा ?

वस्तुके इस परिणमनकी चर्चा केवल कहने और सुननेकेलिये नहीं है। इसमें हेय क्या है और उपादेय क्या है यह समझकर उपादेय पर चलनेकी यह सारी प्रक्रिया है।

वस्तुके परिणमनका यथार्थ ज्ञान न होनेसे अथवा उसकी श्रद्धा दृढ़ न होनेसे पर पदार्थमें प्राणी भटकता रहता है। उसका झूट-मूट कर्ता बनता है। आत्माका सुख-फल भी उसमें देखता है। मूलको छोड़

निमित्तोंको जुटानेमें लगा रहता है और इतनी तत्परतासे कि मूलको देखनेका भी होश नहीं आता। उसका अवसर भी आए तो उसे ठुक देता है।

वस्तुके परिणमनकी व्यवस्था न समझनेसे ही लौकिक पुरुषोंके द्वारा भगवानको सृष्टिके कर्त्तारूपमें उपस्थित किया जाता है। उसे पाप-मोचक और दयालुकी दृष्टिसे देखा जाता है। सो वह तो अत्यन्त पवित्र है। अब हमें अपनी शक्ति संभालना चाहिये।

संसारके प्राणियों और पदार्थोंसे तरह २ के नाते कायम किये जाते हैं। जब अपने दूषित लक्ष्यकी पूर्ति उनसे नहीं पाता तो उन्हें शत्रुताकी दृष्टिसे देखने लगता है। कहाँ तक कहा जाय वस्तुकी नियमित परिणति को देख उसे उलंघने की चेष्टा न करके स्वभावमें रहा जाय यही सार बात है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब प्रत्येक कार्य नियत हैं तो उनका होना तो सुनिश्चित ही है फिर पुरुषार्थ करनेकी क्या जरूरत है इसके उत्तरमें कहते हैं—

सोऽपि प्रतिक्षणपरिणतिपूर्वकः ॥१२॥

वह परिणाम।-कार्य भी प्रतिसमयकी परिणतिपूर्वक होता है। कहीं ऐसा नहीं है किसी वस्तुमें दो दिन बाद कार्य अमुक होना है तो इस बीचमें वस्तुके कोई कार्य या परिणमन नहीं होते हों किन्तु वस्तु प्रतिसमय परिणमन करता है और वे ही सब परिणत वस्तुके कार्य कहलाते हैं। आत्मा भी प्रतिसमय परिणमता रहता है और जो परिणमना है वही पुरुषार्थ है। सर्वज्ञदेवने भी कहीं कोई मुख्य-मुख्य कार्य देख रहा हो ऐसी बात नहीं हैं किन्तु सर्वज्ञ भगवान प्रतिसमयके सर्व परिणमनोंके ज्ञाता हैं। वह विभाव परिणाम भी जिसे नियत सिद्ध किया है प्रतिसमयकी परिणतिपूर्वक होता है। जब द्रव्य परिणमन शून्य एक समय भी नहीं रह सकता फिर इस प्रश्नका तो रंच भी अवकाश नहीं है।

दो हेतुओंसे विभाव परिणामोंका नियत परिणाम दिखाकर अब यह बताते हैं कि विभाव परिणाम अनियत भी हैं।

सूत्र—विशिष्टक्रमवर्तक गुणाभावादन्यन्निमित्तमात्रं प्राप्य स्वप्रभावेनैव प्रभवनाच्चानियतः ॥१३॥

पदार्थमें इस नामका कोई गुण या भाव नहीं है कि जो यह विशिष्ट क्रम बनावे कि इसके बाद यह पर्याय होगी। क्रमवर्तित्व तो जरूर होगा, क्योंकि पर्याय क्रमसे ही होती है। यह भावी गुण होते हैं, और क्रमभावी पर्यायें होतीं हैं। लेकिन इस पर्यायके बाद यह पर्याय हो ऐसा क्रम करनेवाला द्रव्यमें गुण नहीं है। परिणमनशीलता और क्रम-भाविता अवश्य है परन्तु ये दोनों साधारणभाव हैं।

दूसरी बात यह है कि विभाव दूसरे निमित्तको पाकर होता है। जैसे—भिखारी मिला तो दयाके परिणाम होगये। क्रोधीका निमित्त मिला तो क्रोधके परिणाम होगए। फिर भी मूलवस्तु अपने परिणमनमें स्वतन्त्र है, अपने भावको लिये हुए है। ऐसा नहीं है कि वह विभाव परिणमन होना तो नहीं था लेकिन निमित्त मिल गया सो हो गया। निर्मल केवलज्ञानमें यह सब परिणमन जैसाका तैसा प्रतिभासमें आता है। विभाव जैसा बननेवाला होता है वैसा निर्मलज्ञानमें प्रतिभासित हो जाता है। त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोंके पुंजको द्रव्य कहते हैं। तो अनन्त पर्यायें हो चुकनेपर द्रव्य कहलायगा, ऐसा नहीं है द्रव्य तो सदा पूर्ण है, यह तो ध्रुव बतानेको कहा व आधार बतानेकेलिये कहा गया 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'। उत्पाद और व्यय वर्तमान, समयवर्ती कालकी अपेक्षासे है और ध्रौव्य त्रैकालिक अपेक्षासे है। वस्तु तो सर्व-विकल्परहित है। प्रति वर्तमानकाल सहित त्रैकालिक तत्त्वका नाम द्रव्य है यह भी कह सकते हैं।

अकालिक द्रव्यको समझनेके लिये कालिकतासे वर्णन किया।

द्रव्य अकालिक है निर्विकल्प है और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कालरूप है। अनन्तकाल या वर्तमानकाल कहनेसे कालका भेद पड़ता किन्तु द्रव्य तो प्रति समय परिपूर्ण रहता है। फिर भी द्रव्य कोई न कोई कालमें ही मिलेगा। चाहे वर्तमानकाल को देखो या त्रैकालिकलम्बाई को देखो तो भी पर्याय आई। किन्तु द्रव्य इससे अनिर्वचनीय है।

तो द्रव्यमें विभाव परिणमनके लिये इसके बाद यह ही हो इस नियमितताका कोई गुण नहीं है। निमित्त जैसा मिलता है वैसा हो जाता है।

अलग २ दृष्टियोंसे भिन्न २ तरहका प्रतिपादन होता है। एक दृष्टिसे विभाव परिणति नियत है, दूसरी दृष्टिसे अनियत है। निमित्त वैसा मिलनेपर पर्याय वैसी हो ही ऐसा भी नियम नहीं है। इसके लिये उपादानकी योग्यता प्रधान है।

द्रव्यदृष्टिसे देखो तो एक बड़के बीजमें वृक्ष-फल उनके बीज और उन बीजोंमें वृक्ष-फल, इसी तरह अनन्त वृक्ष-फल और बीजकी शक्ति है। लेकिन पर्यायसे देखो तो ऐसा नहीं है। वर्तमानमें वह बीज ऐसा नहीं है इसलिये ऐसा ही मान बैठें तो नियतवाद सत्कार्यवादका प्रसंग आजायगा।

गाड़ी अपनी तेज स्पीडसे दौड़ रही थी लेकिन जैसा पटलियोंका निमित्त मिला वह मुड़ गई। वह तो अपनी चालसे चलनेका ही काम कर रही थी।

उसी तरह द्रव्य चलता रहता है (उत्पाद व्यय करना रहता है) निमित्त जैसा मिलता है वैसा परिणम जाता है। निमित्त पटलीके समान है। फिर भी वस्तुमें ऐसे परिणमनेकी योग्यता न थी, निमित्त मिलनेसे ही परिणम गया सो भी बात नहीं। निमित्त प्रेरक होकर पदार्थको कभी नहीं परिणमाता। उस समय पदार्थके वैसे परिणमनेकी योग्यता थी और निमित्त भी वैसा मिल गया अतः उस तरहका परिणमन हो गया।

यही कारण है कि साख निमित्त मिलनेपर भी वस्तु अपने परिणमनसे वैसा परिणमता है, वस्तु अपनी ही एकतामें गत है।

सूत्र—निमित्तसन्निधानेऽपि वस्तुस्वैकत्वगतमेव ॥१४॥

वस्तु अपनी एकतामें ही मौजूद है। कई चीजोंका बहुत बारीक चूर्ण बना लेनेपर भी उन सब चीजोंके कण अलग-अलग ही रहते हैं। उस चूर्णको पानीमें घोलकर रस निकाल लेनेपर भी उन सब चीजोंके कण या अणु उस रसमें अलग-अलग ही हैं। एक दूसरेमें मिले नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपसे सत् और परके स्वरूपसे असत् है। परके चतुष्टयसे निवृत्तिका स्वभाव प्रत्येक वस्तुमें है तभी वह वस्तु बनी हुई है। कहा भी है—'स्वपरोपादानापोहननिष्पाद्य' हि वस्तुत्वम्।' कितने ही निमित्तोंका सन्निधान हो फिर भी वस्तु अपने स्वचतुष्टयके दुर्गमें ही निवास करती है। अन्य वस्तुके प्रवेशकी बात तो दूर ही है, अन्य वस्तुओंके निमित्तसे स्वयंमें प्रकट होने वाले परभावोंको भी प्रत्येक पदार्थ दूर करनेमें लगा रहता है। चूंकि निरन्तर निमित्त सन्निधान है अतः निरन्तर ही दूर करता रहता है परभावोंको। दर्पण अपनी स्वच्छता की क्रियामें रत है, किन्तु दर्पणके समक्ष जो पदार्थ रंग-बिरंगे रहते हैं उनका वह वर्ण समीपवर्ती सूक्ष्म-स्कंधोंको उस रंगरूप में रंगनेका निमित्त बनता हुआ दर्पणके समीप पहुँचता है तो दर्पण उस प्रतिबिम्ब को लौटाता है, वह निरन्तर लौटाता है सो दिखने वालोंको ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रतिबिम्बको दर्पणने ग्रहण किया। लौटानेका प्रमाण यह है कि दर्पणसे ४ हाथ दूर रखी हुई चीजके प्रतिबिम्बको देखोगे तब वह ८ हाथ दूर रखे हुए जैसा प्रतीत होगी। यही बात जीव द्रव्यके विषयमें भी है। जीव कर्मोदयनिमित्तसे होनेवाले परभावोंको लौटानेमें ही लगा रहता, वह निवृत्तिस्वभावके व्रतको कभी भी नहीं त्यागता। वस्तु तो अपने ही सत्त्वसे सत् है। सभी वस्तुओंने अपना यह व्रत कभी भंग नहीं किया न करेंगी तभी यह व्यवस्था कायम है। अन्यथा एक राज्यके

सँभालमें इतनी गड़बड़ियाँ चलती हैं तब जगत व्यवस्था की तो कल्पना भी नहीं रहती। इस व्यवस्थाका मुख्य कारण अगले सूत्रमें कहते हैं—

सूत्र—परस्य परैः सम्बन्धाभावात् ॥१५॥

चना भूनो तो आगी, रेत, कड़ाही आदि सामग्री जरूरी हैं लेकिन उन्हें सेंका किसने ? उन्हीं चनोंने। निमित्तकी चीजें निमित्तरूप रहीं। आपसे पूछा जाय कि आप कहाँ रहते हो, तो क्या कहोगे आकाशमें ? नहीं। हम हममें हैं, आकाश आकाशमें है। जीव और पुद्गलोंके चलनेमें धर्म द्रव्य निमित्त है, लेकिन धर्मसे वे चलते हों निश्चयसे ऐसा नहीं है, वे अपनेसे ही चलते हैं, धर्म द्रव्य तो स्वयं निष्क्रिय है। हम जो दुःखी और सुखी होते सो अपनी परिणतिसे होते हैं। समवशरणमें निर्मल परिणाम और सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र तक हो जाता है, सो वह सब जीवोंके अपने परिणामोंसे ही होता है। भगवानका निमित्त सन्निधान होनेसे उनसे हुआ कह देते हैं। एक वस्तुके स्वरूपमें दूसरा नहीं चला जाता। हम हममें हो है दूसरेमें नहीं। परका परके साथ सम्बन्ध नहीं है।

तो हम इस पर्यायमात्र ही नहीं हैं, आगे पीछे के भी सुध लो। यह पर्याय भी खतम करके दूसरीमें जाना पड़ेगा। परिणाम अच्छे बनावेंगे तो शुभगति या परम्परासे पंचम गति भी प्राप्त कर सकेंगे अन्यथा दुर्गतियोंमें भटकना पड़ेगा। गृहस्थी नहीं छूटती तो भी यथाशक्ति धर्म धारण कर, सुखी बनो। बाह्यके सुखकी मान्यताको त्यागो और अपूर्व सच्चे सुखका आस्वादन करनेकी रुचि पैदा करो। ऐसा ही पुरुषार्थ करो। वस्तु स्वातन्त्र्य को देखो।

एक द्रव्यका दूसरेसे सम्बन्धका अभाव है। जगतमें जितने पदार्थों का समुदाय है वे सब अपने-अपने से ही रहते हैं। आपका चित्त पुत्र स्त्री, धनादिमें है, इसका मतलब है कि उनका विकल्प आपके मनमें बस रहा है। आपका चित्त उनमें नहीं पहुँच गया है और न वे आपके

चित्तमें आगये हैं। जगतके पदार्थ अपनी एकतामें ही रहते हैं। मैं किसीको सुखी या दुःखी करता हूं या मुझे कोई सुखी या दुःखी करता है यह कितनी भूल भरी बात है। मैं किसीका या मेरा दूसरा क्या कर सकता है ? दुनियाँ शान्ति चाहती है तो इस तथ्यको समझे। दुनियाँ के बड़े-बड़े नेता और वैज्ञानिक शान्तिके उपाय सोचनेमें लगे हैं लेकिन सचमुच वे शान्ति चाहते नहीं हैं, अथवा चाह करके भी उसके सही रास्तेको नहीं पहिचान पाये हैं। यदि वे इस वस्तु स्वरूपको समझ जाएँ तो सारे उपद्रव मिट जाएँ, कलहका नाम न रहे। नेताओंकी बात छोड़िये, आप अपने जिस परिवारमें रहते हैं, उनमें इसी मान्यताके अनुसार प्रवृत्ति करते रहें कि मैं तो अपनी एकतामें रहता हूं, किसीका कुछ नहीं कर सकता। तो आपकी और आपके सम्बन्धसे होनेवाली कलह और अशान्ति मिट जाय। यह आध्यात्मिक बात सबको दिलमें उतार लेना चाहिये यदि दुःखसे पिंड छुड़ाना चाहते हैं तो।

वस्तुको देखो सब गुणोंका स्वलक्षण अपनेमें ही रहता है। वस्तु अपनेमें पूर्ण स्वतन्त्र है। वस्तु स्वतन्त्र है, तो उसके गुण स्वतन्त्र हैं, गुणोंके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद स्वतन्त्र हैं, और वस्तुकी प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है। ज्ञानगुणका जो काम है वह दर्शनका, सुखका नहीं, अमूर्तत्त्वका जो काम है वह सुख आदिका नहीं। उन गुणोंमें भी उनके जो शक्ति अंश हैं वे भी स्वतन्त्र हैं। जैसे मान लो गायके दूधमें ५० डिग्री चिकनाई है और भैंसके दूधमें ७५ डिग्री, तो उन ५० या ७५ अंशोंमें अपना-अपना स्वरूप और स्वत्त्व है। उनका अपना-अपना अस्तित्व न हो तो सब अंश एक कहलाएंगे फिर गुणोंकी पृथक सत्ता से कल्पना न हो सकेगी।

सूक्ष्मतासे देखने पर शक्तियोंकी पर्यायें भी स्वतन्त्र मालूम देंगी, क्योंकि किसी २ समयकी पर्यायकी कोई पर्याय हेतु नहीं है। पूर्व पर्याय को उत्तर पर्यायका हेतु मानना उपचारसे है। निश्चयसे अन्य पर्याय

कारण नहीं। क्योंकि जब पूर्व पर्याय थी तब उत्तर पर्याय न थी, और जब उत्तर पर्याय हुई तब पूर्व पर्याय न रही। एक पर्यायसे दूसरीका एक समयमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता तो हम उत्तर पर्यायका हेतु पूर्व पर्याय को कैसे मानें। वह उत्तर पर्याय पूर्व पर्यायके बाद आई इसलिये उपचार से कह सकते हैं।

तो वस्तुके स्वतन्त्र होनेसे उनमें रहने वाली शक्तियाँ, शक्तियोंके अंश और पर्यायें सब स्वतन्त्र हैं। हाँ उनके सत् अलग-अलग नहीं हैं, सत् वस्तुका एक ही है। तो 'परस्य परैः सम्बन्धाभावात्' सूत्रके अनुसार एकका दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

एक दृष्टान्त दूसरी जगह आचुका है कि धर्मशालामें ठहरे बाप ने लड़केको लड़केरूप से नहीं पहिचाना, तब उसके पेटके दर्दमें चिल्लाने पर उसे धर्मशालासे निकलवाने का यत्न किया। दर्दमें लड़केकी मृत्यु होगई लेकिन जब यह जाना और माना कि यह मेरा लड़का था तब मूर्च्छित हो गया। पहले उसके विकल्पमें उस व्यक्तिके प्रति पुत्रत्वका विकल्प या मोह नहीं था तब उसकी तरफसे बेफिक्र था, परन्तु वह विकल्प आनेपर दुःखी हो गया। लेकिन दोनों हैं पूर्ण स्वतन्त्र। हम अपनी भूलसे दूसरे पदार्थको दूसरे व्यक्तिको अपना-अपना सम्बन्धी मान सकते हैं यह केवल आपके विकल्पसे माना हुआ है, नहीं तो आपका कहलानेवाला शरीर भी आपसे अति पृथक् और पूर्ण स्वतन्त्र है। उसका एक अणु भी आपमें प्रवेश नहीं करता और न आपका एक प्रदेश भी उसमें मिल जाता। फिर गुण पर्यायें तो परवस्तुसे अलग-अलग होंगी ही। बाह्यवस्तुका विचार बाह्यसे अलग होनेके लिये है न कि बाह्यके विकल्प करते रहनेके लिये। हमें उनसे भिन्न स्वभाव वाले स्वयंमें ठहरना है तो हमें सोचना चाहिये कि हम क्या हैं? हम हम हैं, पर पदार्थसे नहीं हैं। ये दो बातें हरएक द्रव्य वा उनकी गुण पर्यायों में लगाना चाहिये। दोनोंसे एक भी न मानने पर वस्तु सिद्ध

न हो सकेगी। यदि इतना ही कहें कि हम हैं, और यह भेद न करें कि हम पर नहीं हैं। तो आपका अस्तित्व स्वीकार करके भी परके साथ अस्तित्वका सम्बन्ध जुट जानेसे आप अन्य सब पदार्थमय कहलाएंगे। यदि आप दूसरी बात कहें कि हम पर नहीं हैं, और यह न कहें कि हम हैं तो आप अपने अस्तित्वको अपने स्वरूपको स्थिर न कर सकेंगे। जैसा—आपका कहलाने वाला लड़का तैसे संसारके अन्य लड़के हैं। आपका लड़का भी आपसे जुदा है और संसारके दूसरे लड़के भी। केवल इतना ही अन्तर है कि एक लड़केमें आपने अपनेपन का संस्कार बना रखा है, सो माननेकी ही मात्र बात है, सम्बन्ध उससे दूसरे लड़कों के समान जरा सा भी नहीं है। घरमें पैदा होनेसे अपना नहीं होगया क्योंकि घर भी तो आपका नहीं है, भूटमूट मान रखा है। सिद्ध सिला पर सिद्ध हैं और निगोदिया भी हैं तो निगोदियोंका सिद्धसे कोई रिश्ता जुट गया कुटुम्बी होगये ? और एक जगह रहनेका एक रिश्ता भी मान लो तो उनमें क्या कोई तरहकी एकता आगई ? सो नहीं। जो जीव पर वस्तुमें मूढ हैं वे अपनी भूलसे दुःख पाते हैं। एक व्यक्ति का नाम बेवकूफ था और उसकी स्त्री का नाम फजीहत। एक दिन दोनोंमें लड़ाई हुई तो स्त्री भाग गई। बेवकूफ फजीहतको ढूंडने चला लोगोंसे पूछता फिरे कि हमारी फजीहत आपने देखी। एक ने उसका नाम पूछा, उसने अपना नाम बेवकूफ बता दिया। उसने जवाब दिया कि आप बेवकूफ हैं तो फजीहत तो हर जगह मिल जायगी।

यदि हम अपने स्वरूपमें बेवकूफ हैं तो फजीहतसे पाला पड़ेगा और वह आपको हर हालतमें दुःखी करती रहेगी। अपने दिलमें यह निश्चय करो कि हमारा किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं, शरीरका स्कंध साथमें रहता है इसलिये अपना मान लिया था और दूसरे सब तो अलग दीख रहे हैं। पर्यायके साथ सम्बन्ध लगा रखा है, सो वह तो क्षणिक है, कुछ दिनमें खतम होगी, तब फिर हमारा किससे क्या

सम्बन्ध रह जायगा ? हां उनसे सम्बन्धकी भावनाका सम्बन्ध लेकर जरूर जा सकते हैं, लेकिन ऐसी आपकी भावनाका सम्बन्ध आपको परेशानीकी जगह ले जायगी। अतः विचारो कि—

प्रत्येक द्रव्य अपने चतुष्टयसे है परसे नहीं। परद्रव्य क्षेत्रकाल भावसे नहीं। मैं अपने चैतन्य स्वरूप द्रव्यसे हूं, अपने प्रदेशों के विस्तारका आकारवाला हूं। मेरी चित्परिणति वर्तमानमें प्रति समय जो हो रही है, यह मेरी स्वाभाविकी नहीं, मैं स्वभावतः शुद्ध परिणति वाला हूं। मेरे स्वभावकी परिणति वही है जो परके आश्रय बिना होती है। परिणतियाँ तो सभी चाहे स्वाभाविकी हों या वैभाविकी, निजकी परिणतियाँ हैं। मैं चैतन्य भावमय हूं। इस तरह मैं अपने चतुष्टयसे हूँ, परसे नहीं। अतः निजको निज और परको पर समझो। वस्तुतः कोई किसीका कर्ता नहीं, अतएव सबकी सत्ता बनी है। अब जो एक दूसरेका कर्ता लोकमें देखा जाता है उस विषयका कुछ स्पष्टीकरण करते हैं—

सूत्र—अन्योऽन्यकर्तृत्वमुपचारः ॥१६॥

अन्य पदार्थको अन्य पदार्थका कर्ता कहना उपचारमात्र है। जिस पदार्थको निमित्त पाकर उपादानमें जो उत्पाद होता है उसका वह निमित्त कर्ता कहलाता है। इस निमित्त-नैमित्तिकभावसे परिणमते हुए लोकको देखकर जो जीव अपनी दृष्टि निमित्तपर ही गढाकर निमित्ताधीन बन जाते हैं वे आकुलताके पात्र होते हैं।

एक राजा पशुओं की बोली जानता था। रानी ने उसे सिखानेके लिये राजासे आग्रह किया, राजाने कहा कि यदि हम तुम्हें सिखावेंगे तो उसी समय हमारी मृत्यु हो जावेगी। रानी इसकी उपेक्षा कर सिखानेकी बात पर अड़ी रही। राजाने उसे कुछ समयके बाद पशु भाषा सिखानेका वचन दे दिया। अब ज्यों-ज्यों मृत्युका समय नजदीक

आता गया त्यों-त्यों राजा और उसके हितैषी चिंतित होने लगे। किसी समझदारको यह पता पड़ा तो राजाको सुझाया कि आप अपनी नासमझी से मौतके मुँहमें जा रहे हैं, और चिंतामें पड़ रहे हैं। यदि आप रानीको भाषा सिखानेसे इंकार करदें, तो आपको क्यों मरना पड़े और क्यों चिंतित होना पड़े। रानी ज्यादा हट करे तो दो चाँटा जमाओ और कहो तू मेरी मौतकी प्यासी बन रही है। राजाके समझमें बात आगई। ऐसा ही किया और मृत्युके मुख दुःखसे बच गया।

संसारके प्राणी इसी तरह अपनी कमजोरीसे दुःखी हो रहे हैं, बहाना बनाते हैं स्त्री पुत्र धन आदिका, कि ये हमको कल्याण करनेमें बाधक हैं। तुम कल्याणमें लगोगे तो तुम्हें रोकनेवाला कौन है? और केवल बहाना बनाते रहना है तो बात दूसरी है।

दुनियाँ में कोई कितना भी बड़ा नेता, धनी नामवर, ताकतवर कलाविद् और वैज्ञानिक बन जाय, किन्तु शान्ति मिलेगी तो स्वचतुष्टय-रूप अपनी श्रद्धा करनेसे।

शरीरमें इन्द्रियाँ हैं तो बनी रहें. इनके विषयोंमें हम अपना उपयोग न घुमावें तो ये क्या हमको जबरदस्ती विषयोंमें फँसावेंगी? सो नहीं, आपका उपयोग अपनी ओर होगा तो इनका व्यापार अशुभमें न हो शुभमें होगा और इसके लिये आपको पुरुषार्थ विशेष न करना पड़ेगा। जब आपको वीतरागतामें रस आने लगेगा तब उसकी छवि देखनेको आँखका उपयोग होगा ही, कान भी वही सुनेंगे और वाणीसे भी वही बात मिलेगी। हाथ और पैरों का भी उपयोग शुभके निमित्त होने लगेगा, लेकिन आप अपनी चीजसे तो अनभिज्ञ रहें, और धर्म करनेका ढोंग करें तो उससे क्या कल्याण हो सकता है? अपने परिणामको पहिचानो। अब जीव अपने परिणामका ही कर्ता है इस विषयको स्पष्ट करते हैं:—

सूत्र—स्वपरिणाम कर्तृत्वं निश्चयः ॥१७॥

निश्चयसे वस्तु अपने परिणामोंका ही कर्ता है। अपने स्वरूपका अनुभव करने लगोगे तो कदाचित् इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति विषयोंमें भी चली जायगी तो उसमें आसक्ति न आ पावेगी और आत्मा शीघ्र ही स्वरूप में आनेके लिये उद्यत होगा। इस तरह अनासक्ति के कारण प्रगाढ़ बंधसे बच जाओगे और कालान्तरमें उस शक्तिका प्रादुर्भाव होगा ऐसी दृढ़ निर्मलता जागेगी कि उसे विचलित करनेमें इन्द्रियाँ या दुनियाँ के और पदार्थ असमर्थ रहेंगे, तब तुम्हारा साध्य नियमसे सिद्ध होकर रहेगा। यह प्रक्रिया भेदविज्ञानसे ही होगी। भेदविज्ञान वस्तुस्वरूपके अनुकूल स्वतन्त्र की श्रद्धामें है।

अतः दुनियाँको अपना मानना या उनमें कर्तृत्वकी श्रद्धा करनी झूठी है। संयोगधीन दृष्टिसे ऐसा माना जाता है। जो अपनेपर दया करता है, अपने प्रतिभासमात्र रहता है उसका दुःख मिट सकता है, उसे शान्ति आ सकती है अन्यथा नहीं। इसके लिये स्वाश्रित दृष्टि होना आवश्यक है। इसके लिये अपनी परिणतिका ही अपनेको कर्ता मानो। जो परिणमता है वह कर्ता है, जो परिणाम है वह कर्म तथा परिणति क्रिया है। ऐसी वस्तुस्थिति है तब परके कर्ता मत बनो, सब पदार्थ अपनी-अपनी सृष्टिको करते हैं कोई किसीकी नहीं। परको कर्ता मानना ईश्वरको कर्ता मानना जबरदस्त भूल भरी कल्पना है।

जितने भी दुःख हैं, अशांतियाँ हैं वे सब परकर्तृत्वकी मान्यतामें हैं, यदि यह भूल दूर हो तो हमारी अपार शक्ति हमारे विकासमें केन्द्रित होजाय। चारों तरफ उसका उपयोग जाकर जो शक्तिका दुरुपयोग हो रहा है वह न होकर उसका सदुपयोग होने लगे। शक्ति तो सबमें है, पुद्गलके अणु-अणुमें अनन्त शक्ति है लेकिन उसका दुरुपयोग होनेसे कोई अच्छा महान् फल नहीं दिखता। परकर्तृत्वकी बुद्धि को खतम करदें तो हमारा उच्चपद प्रगट हुए बिना न रहेगा।

इस कर्तृ कर्म अधिकारमें वस्तुस्वभावको देखकर यह जाना जा

रहा है कि कोई पदार्थ किसीका कर्ता नहीं। सब अपनेमें परिणमन कर रहे हैं। किसीने किसीको किया यह निमित्तको देखकर उपचारका कथन है। वस्तुका स्वभाव अपने असरका अधिकारी है, दूसरेका असर लेनेका कोई अधिकारी नहीं है। उपचार और व्यवहार दृष्टि संयोगाश्रित कल्पना है वह सर्वथा मिथ्या नहीं है। उपादानका वह असर दूसरे पदार्थोंसे क्यों नहीं प्रगट होता? उसमें वही निमित्त कारणरूप है या उसी निमित्तसे वह पर्याय प्रगट होना होती है तथा उपादानकी वहाँ योग्यता प्रकट होती अतः दूसरे निमित्त उस असरके लिये निरर्थक हैं। एक झगड़ालू आदमीको शाँत पुरुष समझाता है. झगड़ालू शाँत हो जाता है, तब लोग कहते कि यह शाँत पुरुषके असरसे शाँत हो गया। लेकिन उस व्यक्तिके भावोंकी जो शाँत पर्याय हुई वह क्या समझानेवाले से आई? नहीं, यह उसीकी अवस्था है। असर तो उपादानका उपादान में है। यह विचारिये कि प्रभाव या असर द्रव्य, गुण और पर्यायमें से क्या है? तीनोंमें से एक भी न हो तो वह असत् कहलायगी सत् रूप न होगी। जैसे हौआ। बच्चेको डरानेके लिये माँ इस शब्दका प्रयोग किया करतीं, लेकिन वह हौआ क्या चीज है इसे न माँ जानती है और न बच्चा। इसका सत् कुछ नहीं, केवल उनकी कल्पनाओंमें नामका सत् है, क्योंकि वह न कोई द्रव्य है न गुण और न पर्याय।

तो पदार्थमें जो प्रभाव पैदा होता है या जिसे कहते हैं असर हुआ, वह असर या प्रभाव द्रव्य तो है नहीं क्योंकि एक परम्परावाला नहीं है। तो गुण है क्या? वहभी अनादि अनंत और अहेतुक होता है, सो प्रभाव ऐसा है नहीं, तब क्या है? पर्याय। "उसमें ऐसा असर हुआ" का यही मतलब होता है कि उसमें ऐसी पर्याय हुई। तो ऐसा असर होता किसमें? उपादानमें, क्योंकि निमित्तका हो तो उसीमें तन्मय होना चाहिये, सो निमित्तमें तो होता नहीं, उसका गठबन्धन तो उपादानसे ही है। किसी द्रव्यकी पर्याय किसी द्रव्यमें से निकलकर दूसरेमें नहीं

पहुंच सकती। फल भी निमित्तका ही मिलेगा जिसमें कि वह तन्मय है। जो उपादानमें परिणति, दशा, कार्य या अवस्था है वही प्रभाव या असर शब्दसे कही जाती हैं। वह निमित्तका कुछ भी नहीं है। निमित्तके जुटने से होता है इसलिये उसका कह देते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि बच्चा रोते-रोते चुप सा हो जाता है लेकिन माँ या बापके दिखने पर फिर रोने लगता है, तो बतलाइये कि वह रोने रूप असर बापका है या बेटे का? बापका असर तो उसमें ही होना चाहिये और इसलिये उसे ही रोना चाहिये, लेकिन बच्चा रो रहा है यह उसीका असर है, बाप को निमित्त करके उसने यह असर पैदा किया है। विवक्षित द्रव्यको निमित्त करके वह उपादान असर कर पाता है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी ऐसा ही है। असर उपादानका ही है। इसके लिये अनेकों दृष्टान्त हैं। जैसे—एक कटोरामें जल है, उसमें लाल रंग डाल दिया गया। अब बतलाइये जल लाल हुआ या रंग? तो कहना होगा कि रंग लाल हुआ है, वह जलका निमित्त पाकर जलके प्रत्येक अंशके समीपमें फैल गया, और वह जल उस रूपमें प्रतीत हो गया। कभी-कभी रंगके नीचे बैठ जाने से ऊपरकी ललामी फीकी पड़ जाती है तो ऐसा क्यों होता है? अगर जल ही लाल होता तो उसे फीका नहीं पड़ना चाहिये था। उस रंगीले जलसे कपड़ा रंगा तो वह लाल हो गया। क्या हुआ? जलके अन्शोंमें जो रंग घुल गया था वह कपड़ेके निमित्तसे उसमें चिपट गया और गरमीसे पानी भाप बनकर उड़ गया, जैसा कि उसका स्वभाव है। अतः सिद्ध है कि जलमें जो रंगाईका असर है वह जलका नहीं रंगका है। उसी तरह उस रंगसे रंगे हुए कपड़ेमें ललाई रूप असर उसी रंगका है कपड़ेका नहीं।

भीतमें कलई पुती है। भीत सफेद है यह जो कहा जाता तो सोचो कि सचमुच सफेद भीत है या कलई? सफेद तो कलई ही है। सफेदी रूप असर कलईका ही है भीतका नहीं, लेकिन भीतका आश्रय

पाकर वह उस रूप फैल गई। तो वस्तु ही दूसरेको निमित्तमात्र करके अपनेमें प्रभाव पैदा करता है।

ताजियामें जो हुसेन बनता और वह जो क्रिया करता वह किसका असर है। हुसेन तो बहुत समय पहिले गुजर गये, यह असर तो उस आदमीका ही है जिसके मनमें वैसी क्रिया करनेका विकल्प आया। किसीने अपनेमें भूत आनेका बहाना बनाया और उछल कूद की, लोग डर गये और उसकी मिनौती करने लगे तो यह किसका असर है? क्या भूत का? या उस बहाने बाज का? नहीं यह तो उन्हींका असर है जिनमें यह असर पैदा हुआ है यानी बहानेवाजों का।

भगवानकी मूर्ति बनाकर पूजा करते और परिणामोंको निर्मल करते तो यह किसका असर है? क्या भगवानका, या मूर्तिका? नहीं, मूर्तिके आश्रयसे आपका है। आपमें वीतरागताकी चाह रूप कल्पना हुई उससे मूर्तिको आश्रय बनाया और परिणामोंको निर्मल किया। यहाँ आत्मामें मूर्तिसे कुछ भी नहीं आया, मूर्तिका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मूर्तिमें ही रहा लेकिन व्यवहारमें जिस निमित्तको लेकर प्रभाव होता है उसमें उसका (निमित्तका) उपचार करके उसको कहते हैं। निमित्त व उपादान दोनों स्वतन्त्र हैं। उपादानमें पर्याय होती है सो निमित्त आ ही जाय ऐसा भी नहीं है। क्योंकि जैसे यह उपादान स्वतन्त्र है उसी तरहसे वह निमित्त भी तो स्वतन्त्र है, वह इस उपादान की अपेक्षा निमित्त है, लेकिन निमित्तरूप वस्तुके परिणमनकी तरफ ध्यान देंगे तो वह उपादान होगा और यह निमित्त आदि। विवक्षासे वही निमित्त और वही उपादान बनता है। तो जब एक उपादान स्वतन्त्र है तो दूसरा क्यों न होगा? किसीकी प्रेरणासे किसीकी उपस्थिति नहीं होती। लेकिन यह तो सुनिश्चित है कि पदार्थकी उस तरहकी पर्याय होते समय उस रूप निमित्त होते अवश्य हैं। उसमें प्रेरणा न उपादानकी तरफसे और न निमित्तकी तरफसे। सब अपने २

परिणमनमें हैं, उस समयकी पर्यायमें उस विवक्षित उपादानको उस समयकी उपस्थित-सहायक वस्तुके लिये निमित्त कहा जाता है। और होता भी यही है कि परको निमित्त पाकर ही द्रव्य विभाव करता है।

आपका कहलाने वाला लड़का कुमार्गगामी होगया तो आप दुःखी क्यों होते हो ? आप सोचते कि पाल पोस कर बड़ा किया, पढ़ाया लिखाया और कमाने खाने लायक बनाया। सो ऐसा सोचना ठीक नहीं। उसके पुण्यसे ऐसा हुआ, उसका पुण्य था, तो आप न करते, दूसरा कोई करता। तो आपने उसके प्रति जो कर्तृत्वबुद्धि लगा रखी है उसीसे दुःखी हो रहे हो। जीव जब तक यह कर्तृत्वबुद्धि रहती है, तब तक दुःखी ही रहता है, चाहे घरमें रहे या वनमें. बड़ा कहलावे या छोटा।

सुखी तो वे ही हैं जिन्होंने कर्तृत्वबुद्धिको छोड़ स्वरूप में श्रद्धा जमाई है। कहा भी है—

'गेही पै गृह में न रचै ज्यों जल में भिन्न कमल है।"

कई लोग ऐसा सोचते होंगे कि मनमें राग न होने पर रागकी क्रिया कैसे की जाती होगी ? यह तो बहानाबाजी सी लगती है, और भैया ! कई ऐसे भगत हैं कि मनमें वैराग्य नहीं और वैराग्यका ढङ्ग करना पड़ता, साझेदारका कपट जाननेपर मित्रता नहीं रहती फिर भी मित्रताका व्यवहार करना पड़ता है। कई कार्य ऐसे भी होते रहते हैं जिन्हें करना नहीं चाहते और करना पड़ते हैं। बहुत लड़कियोंको सुसराल जानेका हर्ष होता है लेकिन दिखावेकेलिये मायकेसे जाते समय दुःख प्रगट करना पड़ता है। मातायें बच्चेको दुःखी नहीं देखना चाहतीं लेकिन कभी-कभी पीट ही देती हैं, जिसका कभी-कभी पश्चात्ताप भी होता है। हमारे अनुभवमें ऐसे कई अवसर आते ही रहते हैं जिन्हें नहीं चाहकर भी करना पड़ता है। हम इस पर ध्यान न देते हों यह दूसरी बात है।

निज सहज स्वरूपको जिन्होंने पहिचान लिया है, पूर्ण सुखमय सहजवृत्तिसे ही जिनका अभिन्न रिश्ता होगया है उन सद्दृष्टियोंको बाह्य में किससे सन्तोष होगा, फिर भी पूर्ववद्ध कर्मविपाकसे कहो अथवा स्वयंकी स्वरूपाचरणका अदृढ़तासे कहो गृहका शिष्यका कार्य करना पड़े तो वह कभी दर्शनकी भूल नहीं कही जा सकती उस तत्त्वद्रष्टाकी। अपनी निज शक्ति ज्ञायकशक्ति है जिसके विविध कारणोंसे विविध परिणमन होगये वस्तुतः सामान्यभावसे देखो तो ज्ञायकभाव अब भी अन्तः प्रकाशमान है। ऐसे दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर उसकी ओरसे उपेक्षक बनकर जीवनको व्यर्थ मत खोओ। निश्चय-स्वाश्रित दृष्टिसे देखो अपना कर्ता, अपना कर्म, अपनी क्रिया क्या है ?

तो वास्तवमें करने वाला कौन है ? इसे निश्चयदृष्टिसे कहते हैं कि—'स्वपरिणामकर्तृत्वं निश्चयः' पदार्थका कर्तृत्व अपने परिणमनमें ही है यही निश्चय है। पदार्थ अपनी ही परिणति या दशाका कर्ता है, दूसरेका नहीं यही निश्चयकी बात है।

जो परिणमरहा है वह कर्ता, जो परिणाम है वह कर्म और जो परिणति है वह क्रिया है, वस्तुतः ये तीनों एक चीजें हैं।

अपने विभावभाव रूप असरको कर्मका निमित्त पाकर हम ही करते हैं। जब ऐसा जान लिया तो हम हमको ही करते हैं दूसरेको नहीं। फिर व्यर्थ ही पर पदार्थोंमें क्यों रोष और तोष किया जाता है ? सच्चा संतोष तो स्वकी श्रद्धा और परिणतिमें है। हम कभी दुनियाँके पदार्थोंसे खीजने लगते हैं और कभी उनसे संतुष्टसे हो जाते हैं, लेकिन ये दोनों ही आपकी विभाव दशाएँ हैं। वह संतोष भी तुम्हारे दुःखका ही कारण होगा, क्योंकि वह वास्तविक नहीं है। वह बाहिरी निमित्तोंसे बनाया गया है और निमित्त निमित्त हैं हम नहीं, हमारे नहीं। उनकी परिणति हमारे आधीन नहीं। वे परिणमन करते-करते जब तुम्हारे अनुकूल पड़ गये तब संतोष मान लिया और जब आपके प्रतिकूल पड़ेंगे

और नियमसे पड़ेंगे क्योंकि उनकी सतत निर्बाध गति हो रही है वह तुम्हारे वशकी नहीं है, तब तुम्हें विकलता होगी और अपनेको असहाय अनुभव करोगे तो वास्तविक संतोष और सुख परकर्तृत्वबुद्धि छोड़ स्व को पहिचानो और उसमें भी ऐसे ही लीन रहनेकी कोशिश करो कि स्वकर्तृत्वका भी विकल्प हटकर चिदानन्दमय होजाओ।

कर्ता कर्मका निरूपण होरहा है वास्तवमें तो कोई किसी पदार्थका परिणमन नहीं करता। वही पदार्थ अपना परिणमन करता है, क्योंकि निश्चयमें अभिन्न षटकारक हैं। इसी निश्चयमेंसे अब अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा कर्ता बताते हैं।

किसी भी बातको जाननेके लिये ४ बातें आवश्यक होती हैं—
१. व्यवहारनय, २. अशुद्ध निश्चयनय, ३. शुद्ध निश्चयनय और ४. परम शुद्ध निश्चयनय।

इनमें परम शुद्ध निश्चयनय किसीका भी कर्तृत्व स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसमें कर्तृत्व कर्मत्व आदिके विकल्प ही नहीं होते। आत्मा शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अशुद्ध रागादि भावोंका कर्ता है, और व्यवहारसे कर्मोंका कर्ता कहा जाता है।

इसके बाद निश्चय नयसे करते हैं। सो वह २ तरहसे कहा जाता है।

निश्चय सामान्यमें अशुद्ध और शुद्ध दोनोंका अन्तर्भाव होता है। यदि परिणमन अशुद्ध हो और उसे कर्ता बताया जाय तो वह अशुद्ध निश्चयनय होगा। और यदि परिणमन शुद्ध हो और उसका कर्ता बताया जाय तो वह शुद्ध निश्चयनयका विषय होगा। यहाँ अशुद्ध निश्चयसे कर्तापन बता रहे हैं—

सूत्र—अशुद्धनिश्चयेनात्मनो रागादिकर्तृत्वम् ॥१८॥

अशुद्ध निश्चयसे आत्माके अशुद्ध भावोंका कर्ता है, क्योंकि वे

अशुद्धभाव निमित्त रूपकर्मके नहीं होते। उपाधिजन्य हैं फिर भी हैं तो आत्माके परिणमन। यदि रागादि विकार कर्मके परिणाम हो जाएँ तो फल कर्म पर होना चाहिये जीवपर नहीं। किन्तु प्रभाव जिसका जिसपर पड़ता है वह उसीका प्रभाव माना जाता है। फल भी वही होता है। रागादिका फल कर्मपर नहीं होता। फल उसका आत्मा ही भोगता है। इसलिये उसका कर्ता आत्माको ही कहा जायगा। वह अशुद्ध निश्चय-नयसे कहा जायगा।

इस विषयमें कितने ही मतभेद चल रहे हैं। १. कोई कहते हैं आत्मा हमेशा निर्विकारी है, अज्ञानसे रागादिका कर्ता मान लेता है। २. कोई कहता है कि आत्मामें समस्त पर्यायें भरी हुई हैं। और जब जिस पर्याय प्रगट होनेका समय आता है तब अशुद्ध या शुद्ध परिणमन करने लगता है। ३. कोई यह भी मानता है कि रागादि आत्माके स्वभाव हैं।

१. पहिली बात पर विचारिये—"राग कर्मका है, उसे अपना मानता है यही अज्ञान है" ऐसी मान्यता किसकी है? यह मलिनता किसकी है? यह अज्ञान किसका है? आत्मा का। तो यह बड़ी मलिनता आत्माकी हो गई। राग हो गया है यह भी तो मलिनता है और वह आत्माकी ही है। ऐसा भी मानता हैं तो राग हो गया इसे छोटी मलिनता कहिये और राग मेरा है इसे बड़ी मलिनता कहिये। "राग मेरा है" यह मान्यता भी कर्म है परन्तु इसे भावकर्म कहते हैं। राग भावकर्मका है यह कुछ अभेददृष्टिसे कथन है। यह मलिनता तो आत्माकी है। यदि सर्वथा यह आत्मा निर्विकारी है तो फिर अच्छा क्या है? फिर करनेको क्या रहा। राग मेरा नहीं है यह मान्यता भी उसकी रागकी पर्याय है और उसका कर्ता कर्म कदापि नहीं है, वह कर्म के चतुष्टयसे नहीं आत्माके चतुष्टयसे है। शङ्का हो सकती है कि रागादि विकार आत्माके ही हैं तो उन्हें दूर न होना चाहिये हमेशा रहना

चाहिये, तब संसारी अवस्थासे छुटकारा कैसे होगा ? तो कहते हैं कि वे औपाधिक हैं जिस उपाधिसे होते हैं वह उपाधि दूर होनेपर वह विकार भी दूर होजाता है। यह अशुद्ध निश्चयनयका कथन हुआ। अतः स्पष्ट है कि रागादिका कर्ता आत्मा है किन्तु अशुद्ध निश्चयनयसे है। अब अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे आत्माके कर्तृत्वका विवरण करके शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे आत्माके कर्तृत्वको दिखाते हैं—

सूत्र—शुद्धनिश्चयेन स्वच्छभावकर्तृत्वम् ॥१६॥

शुद्ध निश्चयनयसे आत्माके निर्मल स्वभावानुरूप परिणामका कर्तापन है। अर्थात् स्वयंकी ज्ञानमयताको प्रतीत करलेने वाला यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे निर्मल भावोंका कर्ता है। निर्मल भावोंके पैदा होनेकी तरकीब है अन्तर्दृष्टि। अन्तर्दृष्टि होनेसे शरीराश्रित होनेवाली प्रवृत्तियोंमें मंदता रहती, और जो शरीरको नहीं चाहता उसे शरीर मिलता भी नहीं। जो शरीरकी रुचि रखता है वह मरकर दूसरा शरीर पा लेता इसतरह उसकी परम्परा चलती रहती। यदि कोई पूछे कि शरीर मिलनेकी दवा क्या है ? तो उत्तर होगा शरीरको अपना मानना, और शरीर न मिलनेकी दवा क्या है ? शरीरको अपना न मानना। जिसे अपना मानो उससे सम्बन्ध बना रहता, और अपना मानना छोड़दो तो उसका सम्बन्ध खतम हो जाता, लोक-व्यवहारमें भी यही चलता है। साराँश यह कि निर्मल पर्यायका उपाय निर्मलदृष्टि है। आप कहें कि हम तो मलीन हैं निर्मलकी दृष्टि कहांसे लाएँ ? यदि निर्मल हो तो उसके लिये उपायकी आवश्यकता क्या ? और यदि निर्मल नहीं तो उसकी दृष्टि कहांसे लायगा ? तो उत्तर यह है कि निर्मल पर्याय या निर्मलता प्राप्त करनेकी दृष्टिसे तो पुण्य बंध होता है, किन्तु निर्मल द्रव्यकी दृष्टि रखना मोक्षका उपाय है। जैसे— अरहंत सिद्ध भगवान अपने चतुष्टयसे हैं तो उनकी भक्ति करनेसे क्या होता है। सँवर और निर्जरा भी कदाचित् होती लेकिन निर्मल पर्यायका निमित्त करके जितने

त्तण भक्तिरूप अनुरागदृष्टि है उनमें तो पुण्यबंध ही है। और जब भक्ति करते-करते निर्माण द्रव्यपर भाव स्थिर हो जायगा तब सँवर और निर्जरा भी है। तो बाह्य सँयोगरहित आत्माकी जो स्वाभाविक दशा है वह निर्मल पर्याय है। लेकिन निर्मल द्रव्य मलीन पर्यायमें भी रहता है व निर्मल पर्यायमें भी। यदि आत्माओंमें निर्मल तत्त्व न हो तो किसके लक्ष्यसे निर्मल बनें? वह निर्मलतत्त्व निगोदिया जीवमें भी है और सिद्धोंमें भी है। उसकी दृष्टिसे पर्यायको भी निर्मलता आ जाती। मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि समस्त ज्ञान एक ज्ञान स्वभाव वा शक्तिके परिणमन हैं। तो वह ज्ञान या जीव निर्मल है या समल? वास्तवमें दोनों कल्पनाओंसे रहित हैं। समयसारमें कहा है कि जीव न प्रमत्त है और न अप्रमत्त। अग्नि कैसी है? सो कहो। आकार बताओगे? सो नहीं शुद्ध अग्नि कैसी है सो बताओ। यह काठकी अग्नि है, यह कंडे की है, यह पत्थर कोयलाकी है, यह इतनी लम्बी चौड़ी आकार वाली है यह इतनी इत्यादि बातें अग्निके शुद्ध रूपको नहीं कहती हैं यह तो बाह्य काष्ठ आदिके सम्बन्धसे कथन हुआ। सम्बन्ध वाली पर्याय रहित उसके स्वलक्षणको बताओ—उष्णताको। आकार प्रकारमें कोई भी रूप रहे लेकिन अग्नि तो इन रूपोंसे रहित दाह स्वरूप है। इसी तरह आत्मा शुद्ध पर्याय और अशुद्ध पर्याय इन दोनोंसे रहित अपने लक्षणमय है। उस स्वलक्षण द्रव्यपर नजर रखना निर्मलपर्याय होनेका उपाय है। उसको उपादान करके जो भी किया जाता है वह उसके प्रगट होनेका कारण होता है। ऐसा लक्ष्य करके ही अनन्त जीव सिद्ध हुआ है और होवेंगे। यहाँ जो एक सामान्यभाव है वह तो परम शुद्धनिश्चयनयका विषय है और जो निर्मल परिणमन है वह शुद्धनिश्चयनयका विषय है।

इस तरह निश्चयसे आत्मपरिणामका आत्माको कर्तापना बताया। अतः अपनी जिम्मेदारी समझो। यह मनुष्य पर्याय यह जिनवाणीका समागम महान पुण्यसे मिला है। यह अवसर स्वरूपको समझ मोहसे

बच निकलनेका है। किसीकी नाराजी और खुशीको न देखो अपनेको देखो। अपनेको प्रसन्न अर्थात् निर्मल बनाओ। आप प्रसन्न हैं यह पूछने और समझनेका यह मतलब लगाना चाहिये कि आपमें निर्मलता है या नहीं। लेकिन विषयी जीव उसका मतलब लगाते कि हाँ कमाई धमाई अच्छी है, कुटुम्ब परिका सब अच्छा है, सो हमारी खूब प्रसन्नता है यह तो निर्मलताके उल्टे अर्थमें सोचना हुआ निर्मलताकी बातको समलतामें लगाते सो ठीक नहीं। लेकिन परबुद्धि जबतक रहती तबतक ऐसी ही औंधी समझ और प्रवृत्ति चलती रहती है। बहिरात्मा तो अन्तरात्माकी भाषा भी नहीं समझते उनके अन्तरंग परिणमनको अनुमान करनेकी बात तो दूर ही है। बहिरात्माओंकी समझ और प्रवृत्ति को ४ बहरोंके दृष्टान्तसे समझिये—

एक गडरिया जो कि बहरा था अपनी बकरियाँ चरा रहा था। उस रास्ते एक मुसाफिर निकला वह भी बहरा था। दोनोंकी संकेतों सहित बातचीत हुई। गडरियेने संकेतसे मुसाफिरको बताया कि मैं रोटी खा आऊँ जब तक आप इन बकरियोंको देखते रहें, मुसाफिरने यह बात मंजूर करली। गडरिया रोटी खाने गया और खाकर आया तो कृतज्ञता में मुसाफिरको १ लँगड़ी बकरी इनाममें देने लगा। मुसाफिर समझा कि वह यह कह रहा है कि बकरीको आपने लँगड़ी करदी। वह अपनी सफाई पेश करने लगा, इतनेमें एक घुड़सवार निकला, वह भी बहिरा था। मुसाफिरने उससे इन्साफ करनेको कहा। तो दोनों उसकी तरफ इशारा करके अपना-अपना भाव स्पष्ट करना चाहें, लेकिन बहिरा घुड़सवार कुछ और ही समझा। वह समझा कि दोनों हमारे घोड़े को अपना बता रहे हैं हाथका इशारा कर करके। वह बोला कि यह घोड़ा मेरे घरकी घोड़ीका पैदा हुआ है तुम्हारा नहीं। यहाँ भी मामला सुलझनेकी बजाय उलझता गया, आखिर पासके गाँववाले पटेलसे न्याय करानेकेलिये पहुंचे, भाग्यसे वह भी बहिरा था। जब ये तीनों उसके पास

पहुँचे तब उसकी स्त्रीसे लड़ाई हो रही थी। वह समझा ये तीनों हमारी लड़ाईके बीचमें पड़ रहे हैं सो उन तीनोंको मार भगाया।

इसी तरह संसारी जीव सम्यग्ज्ञानसे बहिरे हैं। सम्यग्ज्ञानकी बात समझमें नहीं आती अतः अपने-अपने अभिप्रायसे उल्टा ही उल्टा समझ रहे हैं। स्वरूपकी समझसे दूर रहते हैं। यह सब बुराई परकर्तृत्व बुद्धि के त्यागसे दूर होगी। उसको हटानेका काम सर्वप्रथम सारी शक्ति लगाकर करना चाहिये। यह कोई महत्त्वहीन काम नहीं है इसके बराबर कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। इसके बिना संसारके बड़े कहलाने वाले कार्य तो अर्थशून्य हैं हीं लेकिन मोक्षकेलिये किया गया व्रत तप भी इसके बिना निरर्थक हैं। आखिर यही बड़ा काम न करनेसे ही तो हमारा संसार बना हुआ है। लेकिन हमें इसकी गरुवाई पर या तो खयाल नहीं जाता अथवा जाता है तो इस रूप कि कर्तृत्वबुद्धिको खतम करना और सम्यग्दर्शन पैदा करना हमारी शक्तिसे तो परे है, कोई विरले इसे सिद्ध कर पाते होंगे हमको तो यह नसीबमें नहीं है। किन्तु हे भोले प्राणी! यह समझले कि मैं इसे प्रगट करनेका साहसभर करलूँ फिर तो काम बननेमें देरी नहीं। हम अपने स्वरूपको अनुभवमें लावें इसमें कौन क्या बाधा दे सकता है बहिर कर्तृत्वबुद्धिको दूर कर अन्तरङ्गकी तरफ लक्ष्य देनेकी केवल जरूरत है।

कर्ता कर्मके प्रकरणमें यहाँ तक हो चुका कि दूसरे पदार्थका कर्ता निमित्तसे उपचारसे या व्यवहारसे है। अशुद्धनिश्चयनयसे अशुद्धभावोंका कर्ता है और शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध भावोंका कर्ता है। अब परम शुद्ध निश्चयनयसे कहते हैं—

सूत्र—परम शुद्ध निश्चयनयेनाकर्तृत्वम् ॥२०॥

परम शुद्ध निश्चयनयसे द्रव्य अकर्ता है क्योंकि यह नय सर्वविशुद्ध को विषय करता है। परम शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो यह आत्मा जो कि अनादि अनन्त अहेतुक, सदाशिव, बंधनमुक्त चैतन्यप्रभु है वह

कर्तृत्वकी कल्पनासे रहित है। ऐसा चैतन्यप्रभु घट-घटमें विराजमान है, प्रत्येक शरीरोंमें वह व्याप रहा है, मूर्तीक शरीरमें अमूर्तीक भगवान व्यापक है। जो कि चेतनाशक्तिसे भरपूर हैं। पूर्ण स्वतन्त्र और शक्तिमान हैं। जितने भी पुद्गल स्कंध हैं वे सब उसके सम्बन्धसे हैं। उस चैतन्य प्रभुके बिना कोई पुद्गल स्कधरूप आकार नहीं बनता। अपनी चैतन्य सृष्टिका मूल अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यप्रभु है फिर भी सृष्टि परम शुद्ध निश्चयनयमें नहीं है। उस चैतन्यमें दर्शन ज्ञान सुख आदि नहीं, वह अभेद स्वरूप है। यह भेद इस नयको नहीं सुहाता। यह सुहायगा व्यवहारनय या विशेष निश्चयनयमें। परम शुद्ध निश्चयनयसे तो वह जैसा है सो है, अवक्तव्य है लेकिन ज्ञानकी अपेक्षासे देखा—चैतन्य ज्ञानी हुआ। इसी बातको लेकर यह सिद्धान्त निकला कि जीव अज्ञानी है, चेतनारहित है, यह योग्य विशेषज्ञोंका कहना है। उनका कहना है कि ज्ञानके समवायसे आत्मा ज्ञानी है स्वरूपसे नहीं। इस समवायका ही उन्हें भ्रम है। आपेक्षिक दृष्टिसे तो ज्ञानके विकल्पसे रहित आत्मा है। यह ठीक है लेकिन साथमें यह भी नहीं कह सकते वह अज्ञानी है, क्योंकि यह भी एक कल्पना या भेद करना हुआ। जब भेद करके ही कहना है तब तो आत्मा ज्ञानवान है यही कहा जायगा। यह नहीं कहा जायगा कि आत्मा स्वरूपसे अज्ञानी है। अन्तरात्माका लक्ष्य वह आत्म-स्वभाव है जो परिणतिका लक्ष्य नहीं रखता, हाँ परिणति उसके है।

द्रोणाचार्य शस्त्रविद्याकी परीक्षा लेनेकेलिये दुर्योधन आदि अपने सब शिष्य कौरव पाण्डवोंको बुलवाते हैं। एक वृक्ष पर कागजकी चिड़िया लटकाई जाती है, और उसकी आँख वेधनेको कहा जाता है। क्रम-क्रम से सब शिष्यांसे पूछा जाता है चिड़ियाका लक्ष्य करके कि तुम्हें क्या दिखता है? कोई कहता कि हमको केवल चिड़िया दिखती है, कोई कहता कि चिड़ियाके साथ हमें वृक्षकी डाली भी दिखती है। इस तरह चिड़ियाकी आँख वेधनेकेलिये एक एक तैयार होता और प्रश्नका उत्तर ठीक न होनेसे अनुत्तीर्ण होता जाता। अन्तमें अर्जुनका नम्बर आता

है, वे चिड़ियाकी आँख वेधनेकेलिये तैयार होते, तब द्रोणाचार्य उनसे भी वही प्रश्न दुहराते हैं। अर्जुन जवाब देते हैं कि मुझे चिड़ियाकी आँख और बाणकी नोक केवल यही दीखते हैं। यह उत्तर मिलनेपर द्रोण अर्जुनको अपना निशाना लगानेकी आज्ञा देते हैं और अर्जुन शीघ्र ही अपने लक्ष्यमें सफल होते हैं। मतलब यह कि लक्ष्यके अनुसार ही पदार्थका रूप दिखता है व सिद्धिकी सफलता है। हमें अपना लक्ष्य निमित्तके सम्बन्धका नहीं। अशुद्ध पर्यायका नहीं और शुद्ध पर्यायका भी नहीं होना चाहिये किन्तु पर्यायातीत सत् चित् रूप द्रव्यका ही देखने का होना चाहिये। अत्यन्त भिन्न चेतन अचेतन पदार्थ, दया, दान और भक्तिरूप शुभ पर्याय तथा रागद्वेषादि पर्यायका लक्ष्य तो सर्वथा खतम करना ही चाहिये। फिर अपने ज्ञान दर्शन और सुख आदि स्वरूपभेदकी भी दृष्टि हटाकर एक सत् मात्र द्रव्य पर ही दृष्टि पहुंचाना चाहिये।

अनेक रूप जो है वह एकसे है। उस रूपको सर्वपर्यायोंसे अछूता देखा जा सकता है। तो जो एक है वह अनादि अनन्त और अहेतुक है।

इतना सब कहनेका साराँश यह है जीव परम शुद्ध निश्चयनयसे कर्तृत्वसे रहित है। साँख्य मानते हैं कि पुरुष एक होकर भी अनेक रूप है और अकर्ता है, इसको यदि सुलझे हुए रूपमें अपेक्षासे देखें तो परम शुद्ध निश्चयनयमें घटित हो सकता है। किन्तु परम शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा ऐसा है अशुद्ध निश्चयनयसे ऐसा है और व्यवहारसे ऐसा है इस तरह आत्मा अलग-अलग प्रकाश नहीं है। एकको ही दृष्टिभेदसे देखनेपर वैसा दीखता। एकांत सामान्य दृष्टिसे देखनेपर अद्वैतवाद आदि हुए। अवक्तव्य आदिका ध्यान जानेपर तत्त्वोपप्लववाद चला। विशेषपर जोर देनेसे वैशेषिक और केवल प्रतिसमयकी पर्यायका लक्ष्य करनेसे बौद्ध आदि मतोंका आविर्भाव हुआ। और अनेक धर्मोंका समन्वयात्मक द्रव्यका अनुभव किया जाना जैनधर्ममें है। धर्मका उद्देश्य चैतन्योपलब्धिता है। समस्त कर्ता भोक्ता आदि भावोंका प्रलय होजाने

पर वह चेतन तत्त्व अनुभवमें आता जो कि प्रत्येक शरीरधारियोंमें वह समाया हुआ है। आत्माको ईश्वरकी निगाहसे देखो तो वह ईश्वर ही है। और संसारीकी दृष्टिसे देखो तो संसारी है। जिसे विकारी या संसारी आत्मा कहते उसे कोई जीवात्मा कहते और अन्तरात्मा होकर जो स्वरूपमय होजाते हैं, वे परमात्मा हैं। परमात्मा एक नहीं अनन्त हैं और ऐसे परमात्मा स्वरूपमें लीन कर्तृत्वसे रहित वीतरागद्वेष और कृतकृत्य हैं, परमात्मा अनादिसे हैं व होते जा रहे हैं। आत्मस्वभावके परिणाम करनेसे ऐसा सच्चा रूप जो अनन्तकालसे ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण करते रहने पर भी कभी नष्ट नहीं हुआ और न कभी हो सकता है, दृष्टिगत होजाता है।

केवल उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपर दृष्टि दो तो द्रव्यका सत्यरूप नजर न आवेगा। द्रव्यका सत्यरूप इन भेदोंके भीतर और इनसे परे एकरूपमें प्रवेश करने पर प्राप्त होता है। परिणामी परिणाम और परिणतिका वहाँ भेद नहीं है। वह परिणामी परिणति और परिणाम से रहित है, पर्यायसे रहित है सो भी नहीं। यह सब होते हुए भी वह अभेदरूप है।

सभी पदार्थ ध्रुव–अध्रुव, एक–अनेक, सत्–असत्, नित्य और अनित्य हैं। ये भेद भेदकी दृष्टिसे ठीक होनेपर भी पदार्थ भेदातीत हैं। वे अपने स्वरूपसे जैसे हैं वैसे हैं, बचनसे वह रूप कहनेमें नहीं आ सकता। बचनसे कहने पर उसकी वास्तविकतामें कमी पड़ती है जाननेमें। तो जिसमें अनन्त धर्म होकर भी कर्तृत्व आदि भेद नहीं है वह ऐसा द्रव्य है। ऐसा जीव द्रव्य न संसारी है और न सिद्ध। संसारी और सिद्ध ये पर्यायें हैं, वह पर्यायभेदसे रहित चिद्रूप है।

उस चिद्रूप निर्मल जीवको देखनेसे पर्यायमें निर्मलता प्रगट होती है। द्रव्य दृष्टिसे वह चैतन्य जैसा सिद्धमें है वैसा निगोदिया में भी है। जो उसे देखता है वह उसमय हो जाता है। गठरीमें लाल

बंधे होकर भी जब तक उनकी खबर न हो तभी तक उनकी चाहमें भटकता और दुःखी होता, लेकिन उनकी सुध आनेपर वह भटकना और दुःख नहीं रहता। उसी तरह हम अपने ज्ञान और सुखको जब तक निहारते नहीं हैं तभी तक उसके लिये भटकना और भटकनेका दुःख है नहीं तो भ्रमण और दुःख क्यों हो।

एकके कहनेपर ७ बातें आती हैं, जब कि पदार्थ अनेकांतमय है तब वह ७ तरहसे कहा जाकर समझा जा सकता अतः उन तरीकोंको सप्तभंगीके नामसे कहा जाता। मुख्यमें ३ भेदसे कह सकते हैं—१ अ-विरोधी, २. विरोधी और ३. अवक्तव्य। अविरोधी इसलिये कहा गया कि हरएक पदार्थके साथ अपेक्षासे विरोधी धर्म भी लगा हुआ है। किन्तु इन दोनों धर्मोंको एकसाथ कहना विचारना चाहें तो नहीं कह सकते इसलिये अवक्तव्य भेद हो जाता। ४. उसी पदार्थको यदि हम वस्तुके एक-एक धर्मकी मुख्यतासे कहें तो कह सकते हैं अतः विरुद्धा-विरुद्ध धर्मयुक्त चौथा भेद हुआ। जब हम उस एक-रूपसे अविपरीत धर्मकी मुख्यतासे कहें अवक्तव्यके अभिप्राय पूर्वक तब पंचवां भेद होगा। और अवक्तव्यके साथ जब हम विरोधी धर्मोंकी प्रधानताको लेकर कहें तो छटवाँ भेद होता और यदि अवक्तव्य धर्मके साथ दोनोंको एकसाथ कहना चाहें तो सातवाँ भेद बनता। इन ७ भेदोंसे प्रत्येक पदार्थ भली भांति समझा जा सकता है। इनके विना वस्तुका स्वरूप ध्यानमें नहीं आ सकता। लेकिन इनमें से एक-एकमें दृढ़ता लानेकेलिये एव अर्थात् ही और जोड़ना चाहिये। उसका अभिप्राय होगा कि इस दृष्टिसे पदार्थ ऐसा ही है। यदि एव न लगावें तो शङ्काको स्थान बना रहता है कहनेमें दृढ़ता नहीं आती। और ही कहनेसे निश्चय हो जाता। और यदि आपेक्षिक अर्थ वाची 'स्यात्' पद न लगावें तो पदार्थ एक धर्म वाला बनकर ही रह जायगा जबकि उसमें अनन्त धर्म हैं। जैसे—ढालू या ऊँची जगहमें रेलको चलानेमें दोनों तरफ इञ्जिन लगाते हैं, यदि एक तरफ ढलने लगे तो दूसरी तरफका इञ्जिन उसको खींचे रहकर

गिरनेसे बचाये रखे और ऊँचाई में चढ़नेमें कमजोरी रहती हो तो दूसरी तरफका इञ्जिन जोर देकर उसको गतिमान रखे। इसी तरह पदार्थको समझनेका भी तरीका है, ७ भेदोंमें इसीलिये आगे और पीछे क्रमसे 'स्यात्' और 'एव' ये दो पद जुड़े रहते हैं. जिनके मतलब हैं, 'दृष्टिकोष से' और ही। तब उनके पूरे नाम ये होंगे—१. स्यात् अस्तिएव, २. स्यात् नास्तिएव, ३. स्यात् अवक्तव्य एव, ४. स्यात् अस्ति नास्तिएव, ५. स्यात् अस्ति अवक्तव्यएव, ६. स्यात् नास्ति अवक्तव्यएव और युगपत् तीनों धर्मोंकी विवक्षामें, ७. स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यएव।

जो कहते हैं कि 'ही' लगानेपर एकांत आ जाता सो ऐसी बात नहीं है, अपेक्षाके साथ 'ही' लगानेपर एकांत नहीं आता। अपेक्षाको विवक्षा छोड़ देने पर 'ही' लगाने से अवश्य ही एकांत होगा। और विवक्षा 'ही' की हो ऐसे निश्चय और दृढ़तापूर्वक किसी अभिप्रायसे कहा जाय तो एव न भी लगाने पर दोष नहीं आता क्योंकि उसके अभिप्रायमें फरक नहीं है। यदि 'ही' लगाकर भी अभिप्रायमें दृढ़ता नहीं है तो भी वैसा कहनेमात्रसे वस्तुका यथार्थ बोध नहीं होता।

अतः इन ७ तरीकोंसे पदार्थको यथार्थ समझ उसके भेद विकल्पों को भी दूर कर सामान्य अकर्तृत्व रूप स्व द्रव्यका अनुभव करना चाहिये। ऐसा अनुभव करनेसे शुद्ध स्वभाव दशा प्रगट होती है। यहाँ यही कर्ता यही कर्म हो जाता है।

आगे कहते हैं कि वह कर्तापन क्या है जो अभिन्नकारकरूप है—

सूत्र—परिणमनमेव कर्तृत्वम् ॥२१॥

अर्थात् परिणमन ही कर्तृत्व है। और जब परिणमनका विकल्प ही नहीं तब कर्तृत्वका उपयोग कैसा ? जब हम भींटको नहीं देख रहे हैं तो हमारी दृष्टिमें तो वह है ही नहीं। उसका अस्तित्व नहीं है ऐसा नहीं किन्तु हमारी दृष्टिसे उसका अस्तित्व नहीं है। परिणमनकी निगाह

से देखनेपर व्यक्तियाँ आतीं। शक्तिको देखनेमें परिणमनका विकल्पही नहीं इसलिये वह अकर्ता रूप है।

स्वानुभूति करनेकेलिये इस अकर्तृत्वको लक्ष्यमें रखना जरूरी है। अथवा अकर्तृत्वको परिणतिकेलिये स्वानुभूतिका लक्ष्य रखना जरूरी है। दोनोंका मतलब एक ही हैं।

हमें स्वानुभव के पुजारी बनना चाहिये। पुजारी तो सभी हैं कोई किसीके कोई किसीके, कोई शरीरके तो कोई पुत्रके, कोई पतिके तो कोई पत्नीके, कोई धनके तो कोई नामके, कोई भगवानके तो कोई अपने। तो इन सबमें भगवानके और अपने पुजारी बनना चाहिये, क्योंकि भगवानका पुजारी बननेसे अपना पुजारी हो जाता है और अपना पुजारी होनेसे भगवानका पुजारी होजाता है। भगवान और अपनेमें भेद नहीं है, दोनोंका एक ही मतलब है। फरक है तो केवल इतना ही कि भगवान के पुजारीके समय विकल्प हैं और अपने पुजारीके समय विकल्प नहीं हैं। सो अकर्तृत्वरूप उस निर्मल भगवानको अपनी ही पूजा साधनासे सिद्ध करना चाहिये।

कर्ता कर्मके प्रकरणमें यह बात बताई गई कि प्रत्येक वस्तु परका कर्ता है तो किस नयसे। अशुद्ध रागादि भावोंका कर्ता है तो किस नयसे और शुद्ध भावोंका कर्ता है तो किस नयसे। परको कर्ता समझना, या अपनेको परका कर्ता समझना अथवा अपने विभावभावोंका कर्ता मानना दुःखकी परम्परा चलाना है। जिसपर अधिकार हो, जिसे किया जा सकता है, उसीके करनेमें शांति मिल सकती है नहीं तो विपदा है।

एक कहावत है कि एक धोबी कुतिया पाले था, उसके बच्चे हुए। धोबी उनको बड़े प्यारसे खिलाता और बच्चे उसे लात मारते, ऊपर चढ़ते, पूँछ मारते और चाँटते थे। गधेने सोचा हम इतनी मेहनत करते हैं लेकिन धोबी हमको प्यार नहीं करता, इन कुतियाके बच्चोंको प्यार करता है इसका कारण यही मालूम पड़ता है कि वे उसे लात मुँह मारते

हैं इसीलिये धोबी उनसे प्यार करता है, ऐसा मान उसने सोचा हम भी ऐसा ही करेंगे। दूसरे दिन प्यार पानेके लिये जब धोबीको लात फटकारी धक्का दिया तो धोबीने उसकी खूब पिटाई की। अनधिकार चेष्टाका फल ऐसा ही होता है। हम परके कर्ता बननेका झूठा अधिकार करते हैं तब हमको संसारकी कसायोंकी पिटाई खाना पड़ती है।

जिसका जो स्वभाव नहीं उसका उसे करना क्या हो सकता है? कुछ नहीं। जितने भी पदार्थ या प्राणी संसारमें दिख रहे हैं उनके अनुकूल या प्रतिकूल होनेका क्या अपेक्षा करना। किसीके नाराज या खुश होनेसे हमारा अच्छा या बुरा नहीं हो सकता। अच्छा या बुरा तो हमारे अच्छे-बुरे कर्तव्योंसे होता है। जब भला करेंगे तो दुनियाके लिये भले ही रहेंगे। और नहीं तो दुनियाको खुश रखनेकी कितनी ही चेष्टा करें सब व्यर्थ हैं, अपनेको खुश अर्थात् निर्मल परिणामी रखने का एकमात्र प्रधान कार्य है। मम-इदं—अर्थात् यह मेरा है ऐसी बुद्धि हमारे मनको गंदला करती और हमको विकारोंकी तरफ ले जाती है। ममेदं बुद्धि स्वयं एक जबरदस्त विकार है जिससे कि और अनेक विकार पैदा होते हैं। यह सब अज्ञानका फल है। इस ही अज्ञानका अब सूत्र से प्ररूपण बताते हैं—

सूत्र—विभावपरयोः कर्तृत्वबुद्धिरज्ञानम् ॥२७॥

विभावभाव या पर पदार्थोंकी कर्तृत्वबुद्धि अज्ञान है। सबसे जुदे अपने स्वरूपमें रहे तो कोई हानि नहीं, जहाँ बाह्यमें इच्छा की कि विनाश हुआ।

एक राजाका नौकर हमेशा उसके बिस्तरा लगाया करता था। एक दिन उसके मनमें आया कि आज इस बिस्तरेपर लेट कर तो देखें कैसा आराम मिलता है, यह सोच राजाकी शैय्या पर आराम करने लगा, एकाएक उसकी नींद लग गई। राजा जब आया तो उसने इस अपराध पर उसे कोड़े लगवाने शुरु किये। लेकिन दुःख मनानेकी बजाय

वह हँसता ही रहा, तब राजा ने कहा कि तुम हँस क्यों रहे हो ? तो उस नौकर ने उत्तर दिया कि मेरे क्षण भर आराम करने का मुझको इतना दण्ड मिल रहा है परन्तु आपका क्या हाल होगा जो कि जीवन भर इस पर आराम कर रहे हैं, यह सोचकर हँसी आ रही है। यह सच है विषय कषायका फल दारुण दुःख है। तो परमें रत होने, परका आश्रय करने, उस परके कर्ता बननेकी सजा तो बहुत भारी है। हम संसारमें जो रुल रहे हैं यह उसीकी सजा है। परमें हितकी बुद्धि रखना और सुखकी आशा करना उलटा अहित और दुःखका कारण है। सुख तो स्वभावोपासनासे ही होगा। मान लीजिये जवाहरलालजीको दुनियाँ ने बड़ा मान लिया तो इससे उनका क्या हुआ यदि वे अपनी आत्माके लिये कुछ नहीं कर रहे हैं तो ? और कर रहे हों तो उतना सुफल उनके भावसे ही मिलेगा। इस तुच्छ पर्यायकेलिये कुछ चाहना, प्रभाव और यशकी वांछा करना ठीक नहीं, ऐसा करना चाहिये कि चित्प्रतिभास रूप अपनी स्थिति बनी रहे। ऐसी स्थिति आने पर ही शान्ति मिलेगी। अनपढ़ पशुओं को भी सम्यग्दर्शन होजाता है तो हमको क्यों नहीं हो सकता ? यदि इसे करोगे तो सदाकेलिये शान्ति मिल जावेगी। सरल शान्त निजदृष्टि वालेको विपत्ति नहीं होती।

एक किसानकी स्त्री बहुत शान्त थी, एक दिन किसानने सोचा कि आज इसे पीटनेका कुछ बहाना बनाना चाहिये। तब खेतपर जाकर हल में एक बैल सीधा और दूसरा बैल दूसरी दिशामें मुँह कर जोत दिया। उसने सोचा कि जब स्त्री रोटी लेकर खेत पर आवेगी और यह हाल देखेगी तो जरूर कुछ तीखी बात करेगी, तब मुझे उसे पीटनेका मौका मिल जायगा। स्त्री जब खेतपर उसका भोजन लेकर आई तब हल जुताईका यह हाल देख समझ गई कि आज पतिदेव पीटनेका बहाना ढूंढ रहे हैं। उसने किसानको भोजन दिया और यह कहती हुई चली गई कि औंधा जोतो चाहे सीधा, मेरा काम तो रोटी देनेका था सो देकर चली। उसने कुछ भी गुस्सा नहीं किया और न उसकी मूर्खता पर रतस

खाया। इस तरह वह पिटनेसे बच गई। संसारकी पिटाईसे बचना हो तो यही नीति निर्धारित करके चलना चाहिये कि हम तो हमारा काम करते हैं कोई सीधा चले तो और उल्टा चले तो, इसके लिये वह जिम्मेदार हैं। हाँ विकल्प आये तो हितमित प्रिय वचनसे समझा दो।

हम भी आपसे कहने मात्रका कर्तव्य पूरा कर रहे हैं फिर आपकी मंशा, जैसा चलना चाहें सो चलें। लेकिन यह न होगा कि पानी छूना न पड़े और तैरना आजाय। प्रयोजन यह कि मोह न छोड़ना पड़े और कलह-विपत्तियाँ मिट जाएँ यह नहीं हो सकता। आत्माकी शक्ति अचिंत्य है। स्वभावकी दृष्टि केवल धर्मके पुरुषार्थमें लगनेसे आवेगी। अथवा धर्मपर लगनेकेलिये मात्र स्वभावकी दृष्टि करनेका पुरुषार्थ करना है। लेकिन मन ढाला नहीं रहता अतः जब स्वानुभूति नहीं रहती तब उस अन्तरात्माके भगवत्पूजा जप, तप और दानादिककी प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं। उसका पुरुषार्थ तो रत्नत्रयके लिये ही होता है, लेकिन बीचमें शुभभावकी प्रवृत्तियाँ भी आये बिना नहीं रहतीं। शुद्धस्थानसे हम इतने दूर हैं कि वहाँ पहुंचनेके यत्नमें बीचमें इन मार्गों से गुजर लिया जाना पड़ता है। तो ये विभाव और परमें जो कर्तृत्वबुद्धि है वही दुःखका कारण है। जहाँ कल्पनामें यह आया कि यह मेरा है, वहीं आकुलता या दुःखका कारण है। जहाँ सम्बन्ध बनाया कि उसी समयसे दुःख पीछे लगा। तो दुःखका कारण दूसरा हुआ कि हमारी कल्पना। विभावमें कर्तृत्वबुद्धि करना सो अज्ञान है और परमें कर्तृत्वबुद्धि करना सो अज्ञान है। हमेशा गोदमें रहने वाला भी बच्चा मर जाता और जंगलमें पड़े रहने वाले बच्चे हृष्टपुष्ट होकर बड़े होते; अपना २ भाग्य है। और ऐसा एकांत भी नहीं है कि साधनोंमें पले बच्चे मर ही जाते हों बड़े न हो पाते हों और जंगली साधनहीन बच्चे बचपनमें मरते ही न हों, लेकिन अपने-अपने भाग्यसे जीवोंकी दशाएँ होती रहतीं, उस भाग्यको भी उन्होंने ही स्वयं बनाया है। मतलब यह है कि हम किसी का कुछ बनानेवाले या बिगाड़नेवाले कदापि नहीं हैं, और न हमारा

बनाने और बिगाड़ने वाला कोई मित्र-शत्रु है, किन्तु परकर्तृत्वकी मान्यता हो तो वैसा मालूम पड़ता और फिर उनमें इष्ट-अनिष्ट कल्पनाएँ पैदा होतीं और उसीसे राग द्वेषकी प्रवृत्तियाँ चलतीं। अगर कर्तृत्वबुद्धि न हो तो रागद्वेष क्यों हों? तो रागद्वेषको नष्ट करनेके लिये परकर्तृत्वबुद्धिको खतम करना पहिला और प्रधान कर्तव्य है। इसको खतम किये बिना कोई वीतरागी बनने का प्रयास करे तो वह ढोंगमात्र होगी। क्षणिक मंदता अथवा विशेषमंदता होकर भी रागद्वेष के जालसे छुटकारा तब तक नहीं हो सकता जबतक कि उस कर्तृत्वबुद्धि का उन्मूलन न करदिया जाय।

एक सेठके ४ लड़कोंमें सबसे बड़ा अधिक कमाऊ था। उसकी स्त्री हमेशा कहती कि तुम न्यारे क्यों नहीं होजाते? दुनियाँ भरके लिये कमाई करते रहते हो। एक दिन उस बड़े लड़केने अपने अलग होनेका विचार प्रगट किया। पिताने कहा ठीक है ६ माह ठहर जाओ। इसी बीचेमें सब भाई और पिता यात्राके लिये निकले। रास्तेमें एक जगह बड़े लड़केको १५) देकर भोजनका सामान लानेको कहा, वह गया और एक सौदा करके १) कमाई करके १६) का भोजनका सामान ले आया। दूसरे दिन उससे छोटे लड़के को १५) देकर भोजनका सामान लानेके लिये भेजा। उसने चतुराई की और १५) का माल लिया जिसमें १५) ही मुनाफाके मिल गये। वह ३०) की भोजन सामग्री ले डेरे पर आया। तीसरी बार तीसरे लड़केको उतने ही रुपये देकर वही आज्ञा दी। वह रास्तेमें भटक गया और ऊबड़ खाबड़ जमीनमें से शहरकी ओर जाने लगा, तब एक जगह पैरकी ठोकर लगकर गिर पडा। उसने और किसी को न लग जावे इस दयासे उस पत्थरको उखाड़कर फेंका तो उस गड्ढे में अशर्फियोंका ढेर मिला। वह भी बाजारसे मनमानी भोजन-सामग्री ले डेरेपर आया। अब चौथे लड़केको भी वही आदेश था, वह गया तो शहरके बीच मन्दिर देख उसका मन भगवानकी पूजाका हुआ तो पूजा की सामग्री ले मन्दिरमें पूजा करने लगा और ध्यान यहाँ तक लगा कि

भोजनका समय बीत चुका लेकिन उसका ध्यान नहीं टूटा। उस मन्दिर के अधिष्ठाता देव ने खुश होकर सोचा इसे तो ध्यान ही करने दो इसका काम मैं किये देता हूं। सो इस लड़केका ही रूप बना गाड़ियोंकी गाड़ियाँ भोजन आदिका सामान ले और साथमें अटूट धन लेकर सेठके डेरेपर गया और सबको अच्छी तरह भोजन कराया। जब शामको उस लड़केका ध्यान टूटा और डेरेको कुछ मामूली भोजन-सामग्री ले वापिस आया तब उसने डेरेपर यह चमत्कार देखा। अब सेठने चारों लड़कोंको बुलाकर कहा कि देखो तुममें से हरएकको मैंने १५), १५) दिये और उससे कमाई करके जो अपने भोजन आदिकी व्यवस्था तुम चारोंने की है वह सब तुम्हें मालूम है। अब देखलो किसका कितना भाग्य है? बड़े लड़केसे कहा कि तुम यह मत समझो कि हम ही कमा कमा कर सबको खिलाते हैं, अपना-अपना भाग्य सबका है नहीं मालूम किसके भाग्यसे तुम्हारी कमाई होती है। बड़े लड़केके ध्यानसे न्यारेपनका भूत भाग गया और सब आनन्दसे रहने लगे।

सारांश यह कि कर्तृत्वबुद्धि त्यागो। कर्तृत्वका आदर करना संसार और दुःखका कारण है। सब व्यक्ति और तमाम पदार्थ अपने अपने चतुष्टयसे हैं। कौन किसकी द्रव्य, गुण, पर्याय, आकार या प्रकृतिको देता है? सब अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्तासे चल रहे हैं। हम बीचमें व्यर्थ ही अनेक तरहके सम्बन्ध जोड़ते। सम्बन्ध सर्वथा नहीं तोड़ सकते तो न तोड़ो सद्गृहस्थ बन करके तो रहो। सम्बन्ध करे मात्र बाह्य सम्बन्ध तो जानो, उसमें अपनापन तो मत समझो। परकर्तृत्वबुद्धिका ही अज्ञान अज्ञान है, ज्ञानकी कमी होनेरूप जो अज्ञान है वह तो दुःख-दाई है, क्योंकि उस अल्प सम्यग्ज्ञानसे भी आकुलताका पोषण नहीं होता किन्तु आकुलताके विलयका वही कारण है।

अज्ञानी जीव सोतेसे उठतेके साथ परकर्तृत्व सम्बन्धकी निगाह दौड़ाने लगता, दुनियाके सम्बन्धमें अपनापन जोड़ने लगता, मैं स्त्री हूं;

मैं पुरुष हूं, मुझे यह करना है, वह करना है, बाह्य प्रवृत्तियोंमें अपने मन वचन कायको तन्मय कर देता है, और सोता है तो उनकी ही भावना लेकर और स्वप्नमें भी उन्हींको देखता है। किसी जागृत अवस्था अथवा स्वप्न अवस्थामें शुभ विकल्प भी होते हैं लेकिन अज्ञानता यदि है तो उनकी भी जड़ परकर्तृत्वसे उत्पत्ति होनेके कारण वे शुभ विकल्प भी अकिञ्चित्कर ही रहते।

तब बाह्य पदार्थोंके संस्कारोंको मिटाओ। अपने ध्रुव एक स्वाभाविक रूपको देखो। अपनेको चैतन्यस्वभावी द्रव्य अर्थात् भगवानरूप देखो। उस द्रव्यदृष्टिमें—

मैं सुखी–दुःखी, मैं रङ्क–राव, मेरे धन गृह में गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।

आदि भावोंकी मान्यताका उदय नहीं है।

मुझे भूत लगा है यह भावना होते २ बिना भूतका भूत चढ़ आता, जैसी मान्यता पूर्वक भावना बनाते हो वैसी होने लगती है। अपनेको पर्याय रूप मानो तो चेष्टाएँ भी वैसी ही होंगी। और द्रव्यरूपसे देखोगे तो वैसे बन जाओगे। आजकल का मनोविज्ञान भी बहुत कुछ इसी तरहसे कहता है। मनोविज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि बच्चेकी बुद्धि पढ़नेमें जिस विषयकी विशेष रुचि रखती हो उसे वह विषय पढ़ानेसे उसका ठोस विद्वान हो सकता है सो ठीक ही है। रुचिके अनुसार होने वाले कार्य ही सफल होते हैं, चाहे वे संसारके हों या मोक्षके। मोक्षके लिये भी सर्वप्रथम उसकी रुचि चाहिये, उसके बिना उसका प्रयत्न न बनेगा। अपनेको अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगमें लगाओ। वातावरण भी ज्ञानोपयोगका बनाओ। बच्चोंको ऐसे संस्कार पढ़ने दो कि उसकी विशेष रुचि धर्मकी तरफ हो और उसको धर्मकी शिक्षा भी पर्याप्त दिलाओ ताकि उसीका रंग पक्का हो। ऐसे ज्ञानप्रचारके कार्य यद्यपि भले हैं तो भी इन अच्छे कार्योंको भी अलिप्तबुद्धिसे करो। किसी वस्तुसे आपका

सम्बन्ध नहीं, तथापि परकर्तृत्वका हठ करोगे तो केवल क्लेशके अन्य कुछ हाथ न आवेगा।

एक बच्चेको हाथी देख उसे खरीदनेकी हठ पड़ गई। पिता ने कुछ देकर महावतसे कहा, दरवाजेके सामने हाथी खड़ा करदो। हाथी दरवाजेके सामने खड़ा कर दिया और बच्चेसे कहा कि हाथी खरीद लिया। तब उसने कहा कि अपने घरमें बाँधो, यह भी कर दिया तब बच्चा बोलता है, हमारी इस छोटी लुटियामें रखो। अब बतलाइये यह बालहठ पूरा हो सकता है ? कदापि नहीं। इसी तरह अज्ञानी प्राणी भी पर पदार्थोंका हठ किया करता है। उसे सम्भव असम्भव का विवेक नहीं होता। परमें कुछ भी नहीं कर सकता लेकिन उसका हठ अनादिकालसे बनाये हुए है। मिथ्यादृष्टिका नाम ही तो बाल है, मिथ्यादृष्टिके मरणको बालमरण कहा है। मिथ्यात्वमें ही तृष्णाका प्रचार होता।

एक श्मश्रुनवनीत व्यक्ति था। एक दिन भूखमें किसीके यहाँ मट्ठा पीनेका अवसर आया तो मट्ठा पीते-पीते उसकी मूंछ पर कुछ मक्खन लग गया, तब धन जोड़नेका उसने यह सरल तरीका समझा। वह दिनमें कई बार घरों घर मट्ठा पीनेको जाता और मूंछ पर लगे मक्खनको पोंछकर संग्रह करता जाता। एक बर्तनमें जब कुछ संग्रह हो चुका तो झोंपड़ीमें उस मक्खनके बर्तनको टंगा देख, विचार करता है कि मक्खनको बेचकर बकरी लूंगा, उसके मुनाफेसे गाय, और फिर मुनाफा होते-होते मैं एक सेठ बन जाऊँगा, शादी होगी, बच्चा होगा। बच्चा जब मुझे भोजनके लिये बुलाने आयेगा तो मैं उसे इंकार करूंगा जब वह चलनेके लिये हठ करेगा तब मैं गालमें एक थप्पड़ जमा दूंगा। इस कल्पनाके साथ उसका हाथ भी सचमुचमें चांटा लगानेके अनुरूप उठ गया, तब ऊपर मक्खनके बर्तनमें हाथ लगकर वह नीचे जलती हुई आगमें गिर पड़ा, आग भड़कने लगी। वह बाहिर निकलकर लोगोंका

पुकारता है कि दौड़ो-दौड़ो मेरा महल, स्त्री पुत्र और धन जलकर राख हुआ जा रहा है। लोग दौड़े और केवल फूसकी झोंपड़ी जलती देख बोले, कहाँ जल रहे हैं तुम्हारे स्त्री, बच्चे और धन असबाब। उसने अपने कल्पना की स्त्री, बच्चे और वैभवका वर्णन किया. तब वे बोले ठीक है तुम केवल ख्याल ही ख्यालमें रो रहे हो। उनमेंसे एक चतुर व्यक्ति सबको इशारा कर कहता है कि ठीक आप लोग भी ख्याल ही ख्यालमें अपना जीवन स्वाहा किये जा रहे हो, अपने दुःखका अन्त न पाकर दुःखका रोना रोते रहते हो, नहीं तो किसका है धन, मकान, स्त्री, पुत्र और वैभव ? लोगोंकी समझमें आई कि हमारी गति भी इस दरिद्री किन्तु तृष्णालु मनके पुलाव बाँधनेवाले श्मश्रुनवनीतकी तरह होरही है। जिसे हम अपना जानते हैं वह सपना होकर रहजाता है, पर्याय छोड़नेपर एक कण भी साथमें नहीं जाता। हाँ वे कर्म रज अवश्य साथ जाते हैं जो हमें वहाँ भी रुलानेको तैयार रहते हैं।

तो भाइयो एक अखण्ड स्वतन्त्र निज द्रव्यको संभालनेसे और उसीमें पुरुषार्थ (रम रहनेका) करनेसे दुःखका पीछा छूटेगा और अनन्त सुख प्रगट होगा। अतः परके कर्तृत्वबुद्धि रूप मिथ्या अभिप्रायको छोड़ो। विभाव और परभाव पदार्थमें कर्तृत्वबुद्धि करना मिथ्या अभिप्राय है। वह क्यों होता है ? सो कहते हैं :—

सूत्र—कैवल्यपरयोर्भेदविज्ञानाभावात् ॥२३॥

आत्माकी एकत्व अवस्था वा परपदार्थका भेद विज्ञान न होनेसे मिथ्या अभिप्राय वा कर्तृत्वबुद्धि बनी हुई है। यहाँ कैवल्यका मतलब केवलज्ञान अर्थ नहीं लेना किन्तु एकता अर्थ ग्रहण करना।

जबतक कैवल्य-चैतन्य प्रतिभासकी बुद्धि न जागेगी तबतक कर्तृत्वबुद्धि नहीं हट सकती। परपदार्थोंमें बुद्धि इसलिये है कि अनादि अनन्त चैतन्य बुद्धिको नहीं पहिचाना। परके मनमें क्या भाव बैठा है ? कितनी मलिनता है परका भार कितना लाद रक्खा है ? जब ये बातें हैं

तो धर्म कैसे पैदा होगा ? पुण्य भावना भी करता है तो वहाँ भी कर्तृत्वबुद्धि लगी रहती है इसलिये धर्ममें नहीं बढ़ पाता। लोग ऐसे क्षेत्रोंमें क्यों अधिक जाते जहाँ पुत्र और धनादि की प्राप्तिका अतिशय दिखता ? ये सब मिथ्याभावके कार्य हैं। उससे परमात्माको भी सरांगी के रूपमें देखते, उससे कुछ पानेकी कल्पना और आशा करते। दूसरे मत वाले भी एक तरहकी कर्तृत्वबुद्धि रखते हैं और सरागताकी पूजा करते हैं, और अब तो कुछ रूढ़ जैन भी कर्तृत्वबुद्धिसे भगवानको पूजने लगे। हाँ अन्तर इतना है कि दूसरे लोग हिंसाके द्वारा भी पूजा मिथ्या-देवोंकी करते हैं, किन्तु वे जैन शुद्धद्रव्यसे वीतरागी देवको सरागताकी मान्यता पूर्वक पूजते हैं। मिथ्यात्व दोनोंमें है, हाँ तरतमता अवश्य है। भाव ऐसा बनाना चाहिये कि कैसी भी आपत्ति आजाओ लेकिन धर्मका भाव न छूटे भगवानसे केवल स्वरूप प्राप्तिकी आशा लगावे वह भी अपनेमें सहा, भगवानको सांसारिक वांछासे पूजा करके कभी भी सौदा न पटावे। इस तरह स्वभावका अवलोकन होजाय तब जैन कहलानेका पात्र है।

भावना ऐसी निर्मल रखो कि कोई कभी भी प्रश्न करे कि क्या चाहते हो तो उत्तर निकला कि चैतन्यमय आत्माकी दृष्टि। यह चैतन्य भाव चिंतामणि रत्न है। यह रत्न जिसको मिल गया उसे फिर किसी की चाह नहीं रहती। कार्यका सिद्ध होना और इच्छाका अभाव होना दोनों एक बातें हैं। जैसे मकान बनानेकी चाह है और बन गया, यानि उस विषयक इच्छाकी पूर्ति होगई या उस विषयक इच्छाका अभाव होगया। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। इच्छा नहीं होनेपर ही तो पूर्ति होना कहते हैं। तब इच्छाकी पूर्ति होना जब सुखका कारण मालूम करते हैं, तो उसके अभावमें सुख होता है यह बात आई। मान्यतामें इस बातको लाओ कि इच्छाके अभावमें सुख है। सम्यग्दृष्टि इच्छाका अभाव ही चाहता है इच्छाको नहीं। तो इच्छापर दृष्टि न दे उसके अभावपर दृष्टि देना चाहिये। यह आत्माका केवल चैतन्य प्रतिभास

और परपदार्थोंका भेद विज्ञान होनेसे होता है। यदि आत्माको राग-द्वेषादिमय विचारोगे, मतिज्ञानादि रूप विचारोगे और यहाँ तक कि केवलज्ञान रूप विचारोगे तो भी कैवल्य अर्थात् आत्माका एकद्रव्यस्वरूप न विचारा जायगा। इन समस्त पर्यायोंसे अतीत ध्रुव स्वभावका और स्वभाववालेका प्रतिभास होना कैवल्य प्रतिभास है। उसे न पहचानने से भेदविज्ञान नहीं हुआ कहलाता। भेदविज्ञान होनेपर पर अथवा पर्यायोंसे अतीत शुद्ध चैतन्यका प्रतिभास हुए बिना नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति बहुत होते हैं जिन्हें शरीरसे जुदा आत्माकी श्रद्धा नहीं है। वे एक तरहके चार्वाकमतवाले समझो। क्योंकि इनके भी चार्वाकोंकी तरह खानपान इन्द्रियविषय और वचन आदिका व्यापार नास्तिकतापोषक होता है। आज प्रायः इसी मतको माननेवाले हैं। भले ही कोई अपने मतके पक्षका ढिंढोरा पीटता रहे, तोता रटंत रूढ़ि निभाता रहे, किन्तु उसे विषयोंमें ही रुचि रहती है, उसी की बातें सुनना चाहते, उसीमें उसका ध्यान खूब लगता है। ऐसा व्यक्ति मजहबी बौद्ध, जैन और चार्वाक आदि कोई भी हो सकता है। प्रायः भावसे लोग नास्तिक मिलते हैं। जिनमें लोग लुभा जाते हैं वे पदार्थ क्या हैं? अत्यन्त भिन्न जिसे लोग सुन्दर समझते वह तो दुःखदाई चीज है।

सुन्दर शब्दका भी दुःख देनेवाला अर्थ होता है। सु उपसर्ग पूर्वक 'उन्दि' क्लेदने धातुसे अरच् प्रत्यय होकर सुन्दर शब्द बना है जिसका अर्थ हुआ कि जो अच्छी तरहसे दुःख दे वह सुन्दर है। मोह, रागद्वेष आदि राक्षस परकर्तृत्वबुद्धिसे लग रहे हैं। मोहसे युद्ध ठानो तो मोह आदि राक्षस भाग सकते हैं। इससे युद्ध करनेको विवेक चारित्र और क्षमादि भावोंकी सेना चाहिये जबकि मोह राक्षसकी सेना राग द्वेषादि हैं। जब तक यह पुरुषार्थ न हो तब तक कर्तृत्वबुद्धि लगी रहती है। सीता का भाई भामण्डल जब वह इस बातसे अजान रहा कि यह मेरी बहिन है तब उसके प्रति तीव्र विषयानुराग रहा और जब जाति स्मरण

हुआ और मालूम पड़ा कि यह मेरी बहिन है तब अपनी कुदृष्टि पर पश्चात्ताप हुआ।

इसी तरह जब तक परपदार्थोंको अपना माननेके कारण उत्पन्न हुई कर्तृत्वबुद्धि न हटेगी तब तक वास्तविक रूप प्राप्त न होगा। यह कैवल्य-अनुपम चैतन्य पुंज है, इसका भास होनेपर बाह्य पदार्थोंसे सारा सम्बन्ध छूट स्वभावमें स्थिरता होती है। खाना-पीना और धन्धा आदि सब हेय दिखने लगते हैं, यहाँ तक कि इनके हेयपनेका विकल्प दूर होकर निर्विकल्प आत्म रमणता होने लगता है। और सिद्ध पर्याय प्रगट हुए बिना नहीं रहती। हरएक समझदार का लक्ष्य अपनी सिद्ध पर्याय प्रगट करनेका होना चाहिये। जिसने अपना यह लक्ष्य न बनाया हो वह जैन नहीं है। जैन जिनको मानता है, और जो जिनको मानता है वह अपनेको जानता है। अपनेको जाने बिना जिनेन्द्र को नहीं जान सकता और जिनरूप जाने बिना वास्तविक श्रद्धा नहीं हो सकती।

सबका लक्ष्य अपने स्वरूपको प्रगट करनेका होना चाहिये यह लक्ष्य बननेपर हर परिस्थितिमें चित्तका समाधान बना रहेगा और धीरे-धीरे संकल्प विकल्पों की मंदता होगी, भेदविज्ञान पुष्ट होगा। यदि पहिले भेदविज्ञान नहीं हुआ है तो इस लक्ष्यको बनानेपर उसके होनेमें कठिनाई न होगी। हरएक परिस्थितिमें निरोगी, रोगी धनी, दरिद्री, कुटुम्बके परिकरमें अकेलेमें चित्तको चञ्चल न होने दे। धर्मका ध्यान हमेशारहे जो कि रत्नत्रयरूप है। मुँहसे वैसी ही बात निकले, उसीकी सुननेकी उत्कंठा रहे। बाह्य पदार्थोंको अपने कार्यमें बाधक समझे अथवा आगे निर्मलता विशेष होने पर यह अनुभव करे कि पहिले बाधक इनको समझता रहा। ये तो अपने स्वरूप में हैं, मैं ही इनको निमित्त मानकर स्वयं विपरीत परिणति करता रहा, अब न ये मेरे साधक हैं और न बाधक। मुझे अपने स्वरूपकी खबर आनेपर सारे पदार्थोंका परिणमन अपने-अपने मय दीख रहा है, यानि कोई भी

परिस्थिति में रह कर उस परिस्थिति के मूल स्वरूप की ओर अग्रसर होना है।

इस तरह कैवल्यका लक्ष्य न होगा, भेदबुद्धि न होगी तो संसार और कर्तृत्वबुद्धि खतम न होगी। अतः निज स्वभावके दर्शन करो और सारे द्वंद फंदों से बचो। भव-भवमें कुटुम्ब, धन धान्य, यश और वैभव पाये हैं, लेकिन वे हमारे होकर कहाँ रहे? अरे इसी पर्यायमें क्या क्या बातें नहीं बीत चुकी हैं कि जिनपर विचार करनेसे उनका परत्व प्रगट न होता हो। जब तक इनकी बुद्धि थी तब तक हर कोई दुःखी समझता था अपनेको, लेकिन जब अपनी समझ आई तब वह दुःखका भार दूर होगया। आनन्दका स्रोत बहने लगा। आनन्दमें तो वही है जिसकी पर्याय पर दृष्टि नहीं है। शरीर आदि संयोगी पदार्थ तो सुख को घातने वाले आकुलता पैदा करनेके कारण हैं। हाँ इनमें कर्तृत्व-बुद्धि न रहे तो ये आकुलता पैदा करनेमें असमर्थ रहते हैं और सुख शान्तिका साम्राज्य रहता है, परम सन्तोष रहता है। शास्त्रका निचोड़ इतनेमें ही है कि शरीर और आत्मा भिन्न २ हैं। प्रथमानुयोग, करणा-नुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके सम्पूर्ण विवेचन का सार यही है। तो भेदविज्ञानके लिये इसी शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है धनादि की नहीं। कम्पनीके मालिक लोग कभी कभी अपने मजदूर भाइयोंको सुखी समझकर उनसे ईर्षा करने लगते हैं। लेकिन वे उनकी नजरोंमें सुखी होकर भी दुःखी हैं। सारा संसार दुःखकी चक्की में पिस रहा है, और इसका अन्त तब तक नहीं आता जब तक कि भेदज्ञानको न पा लिया जाय। बाह्य पदार्थोंमें सुख ढूंढनेकी जितनी अधिक कोशिश की जायेगी उतनी ही अधिक उलझन पैदा होती जायेगी। विश्रामके लिये बाह्यदेशसे उपयोग हटाकर स्व में ध्यानी होना चाहिये। जैसे कोई विलायत गया है तो भारतमें अपने नगर और घर पर आनेके लिये उतना ही लम्बा रास्ता पार करना पड़ेगा तब घर आ सकेगा. उसी तरह अपनेमें आनेके लिये बाह्य संयोगी पदार्थ, शरीर, कार्माण स्कंध,

रागद्वेषादि भाव कर्म और मतिज्ञानादि रूप पर्यायकी बुद्धि वाली दूरी को हटाते हुए अपने घर (आत्मामें) आना पड़ेगा, ऐसी दशा आनेपर उसका जो अनुभव होगा वह बतानेमें नहीं आ सकता। कुछ अंशों तक समझा सकते हैं लेकिन वह तो अनुभवकी ही चीज है। पर को पर और स्व को स्व जानना कर्तृत्वबुद्धि हटानेसे ही सम्भव होती है। ऐसा होनेपर सँवर और निर्जरा होने लगती है और मोक्षमार्गमें आगे आगे बढ़ता जाता है। और फिर उसका मोक्ष लक्ष्य प्राप्त होकर रहता है।

इस लक्ष्यके लिये भेदविज्ञान पर सबसे पहिले दृष्टि पहुँचना चाहिये। लड़केसे कोई कामके लिये कहो किन्तु यदि उसका ध्यान खेलने में होगा तो वह आपकी बातको अनसुनी कर देगा। तो अपने-अपने सुखके लिये सब हैं, हम भी आप सब भी, कोई किसीके लिये कुछ नहीं करता। यदि दूसरेके लिये दूसरा किया जाता तो भगवान पर हम लोगों का बड़ा एहसान होता क्योंकि उनकी हम बहुत लोग पूजा-भक्ति करते हैं। लेकिन उनकी भक्ति करके हम लोग उनका कुछ नहीं कर देते अपनी रागकषाय की ही पूर्ति करते हैं। तब परमें भ्रमबुद्धि क्यों लगाये हो। परिग्रह आदिसे ममता तोड़ो। और जिन्हें परिवार परिग्रहकी विशेष झंझट नहीं है उन्हें तो इसके लिये तन-मनसे लग जाना चाहिये। सत्सङ्गति, स्वाध्याय और विद्याध्ययनमें अधिकसे अधिक समय दें।

एक चतुर आदमीने सबका सौदा अच्छा कर दिया लेकिन पीछे अपने लिये खरीद की तो बचा खुचा खराब माल मिला। सो ऐसा क्यों, पहिले स्वदया करो पीछे परदया। पहिले अपना कल्याण करो पीछे दूसरेका। दुनियाके घर जाने और अपना घर न जाना तो क्या स्थिरता प्राप्त कर सकेगा ? कदापि नहीं। कई लोग हठ करते हैं कि पहिले हमारा यह काम हो तब पीछे भोजन करेंगे, तो बहुतों को यह भी हठ करना चाहिये कि पहिले स्वानुभूति कर लेंगे पीछे भोजन करेंगे। अपने सुखी दुःखीपनकी और पोजीशनका विकल्प हटाओ और शरीर

का भी विकल्प पैदा होनेसे रोको तब अपने आपको देख सकोगे। जब अपने आपको देख लोगे तो दुनियाको देखनेसे भ्रष्ट न होओगे।

यों तो शूकर कूकर भी अपना भरण पोषण करके जीवन पूरा कर लेते हैं लेकिन ऐसे जीवनका महत्त्व ही क्या जिसमें स्वरूप प्राप्तिके लिये कुछ भी पुरुषार्थ न किया गया। आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं या आगे होंगे वह सब भेदविज्ञानका ही फल है, ऐसा ज्ञान इसे करने का सच्चा पुरुषार्थ करो। संसार जिसे पुरुषार्थ कहता है वह पुरुषार्थ नहीं है, वह तो तृष्णार्थ या संसारार्थ है। पुरुषका वास्तविक अर्थ है आत्मा, तो आत्माके लिये जो प्रयत्न किया जाता है वह वस्तुतः पुरुषार्थ है। अथवा जो प्रयोजन पुरुषके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है उसके लिये प्रयत्न करना वह पुरुषार्थ है। ऐसा प्रयोजन मोक्ष ही हो सकता है। हमें मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध करनेका अधिकार मिला है इसका हमें लाभ लेना चाहिये और मोक्ष प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये सबसे पहिले भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अज्ञान और ज्ञानका दिग्दर्शन कराकर भेदविज्ञानसे क्या मिलेगा या क्या लाभ है इसे दिखाते हैं:—

सूत्र—भेदविज्ञानतः स्वस्याकर्तृत्वाधारणेसति पुनरभेदज्ञानस्वभावस्थैर्यं शिवोपायः ॥२४॥

भेदविज्ञानसे अपने आपको अकर्ता सिद्ध कर लेने पर मोक्षका उपाय बनता है, अभेद अर्थात् विकल्प रहित ज्ञान स्वभावकी स्थिरता प्राप्त होती है। सबसे पहिले मोक्षमार्गपर चलनेको भेदविज्ञान चाहिये। वह उसकी पहिली सीढ़ी है। जब मैं अपने ध्रुव चैतन्य मात्र हूं। इसके अतिरिक्त जितनी क्षणिक पराश्रित पर्यायें हैं, मैं नहीं हूं। मै तो एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूं। उस एकमें यद्यपि विशेष भी है लेकिन वह गौण है और सामान्य मुख्य है अन्तरात्माकी दृष्टिमें । बैभ वव भ.व

भी कर्म के निमित्तसे होने वाले विशेष पर्याय रूप भाव हैं वे भी मेरे नहीं हैं। ऐसा अनुभव आजाने पर खाना, पीना, चलना, बैठना आदि तो स्पष्ट ही जड़की क्रियाएँ नजरमें आतीं।

ऐसा भेदविज्ञान किसीको अधिक परिश्रमसे और किसीको कम परिश्रमसे भी प्रगट हो जाता है। शिवभूति मुनिको गुरुने 'मानुष मा रुष' अर्थात् रागद्वेष मत करो यह सिखाया। बहुत सीखनेपर भी ऐसी प्रवृत्तिको वे सिद्ध न कर सके। एक जगह महिलाको उड़दकी दाल धोते हुए देखा, उस दालसे छिलके अलग किये जा रहे थे। उस क्रियाको देखकर उन्हें बोध होगया कि माष माने उड़द, तुष माने छिलकोंसे अलग है। इसी तरह हमारी आत्मा उड़दके सार भागके समान शुद्ध है और रागद्वेष आदि छिलके के समान अन्य हैं। दृष्टि अपने पर गई कि भेदविज्ञान हुआ।

अपने आपको ध्रुव, निश्चल और कृतकृत्य समझनेके लिये भेद-विज्ञानकी आवश्यकता है। भेदविज्ञान होनेपर कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती, और यदि कर्तृत्वबुद्धि रहे तो समझो कि भेदविज्ञान नहीं हुआ। उसका बोध ध्रुवचैतन्य पर दृष्टि जानेसे होता है। मैं अनादि अनन्त ध्रुव हूं, जब अपने आपको अभेद स्वभावी ज्ञानमात्र जाना और उसीमें स्थिर होगये तो यही मोक्षउपाय है जिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र कहते हैं। भेदविज्ञान होनेपर परका लक्ष्य छूटनेसे स्वका अनुभव होने लगता है, और स्वमें विशेष स्थिर रहनेका भी अवसर आता है। तत्त्वाभ्यास भेदविज्ञानका कारण, भेदविज्ञान अनन्तानुबंधीके उपशमादि का निमित्त व उपशमादि दर्शनका निमित्त है। इस प्रक्रियाके पहिले जितने भी प्रयोग होते हैं भेदविज्ञान पानेके वे व्यवहार मात्र हैं। अथवा स्वरूपकी प्राप्ति जिन प्रयोगोंके बाद नहीं होती, अर्थात् जो स्वरूपप्राप्ति के व्यवहारसे भी कारण नहीं पड़ते वे व्यवहाराभास हैं।

एक पुरुष यात्रामें चलते-चलते रात्रि हो जानेके कारण रास्ता भूल गया। उसे मालूम पड़ा कि मैं रास्ता भूल गया हूं, अतः आगे जाकर भटकना ठीक नहीं, वह वहीं स्थित होगया। इतनेमें बिजली चमकती है और कुछ फासलेपर उसे सही रुख्य रास्ता दिख जाता है। लेकिन बिजलीका प्रकाश तो क्षणभर के लिये था अब तो वही अँधेरी की अँधेरी। अतः वह उस मुख्य रास्ते तक पहुंचनेके लिये असमर्थ हो वहीं ठहर जाता है यह सोचकर कि जब प्रभात होगा तब आगे बढ़ूँगा। इतनेमें बिजलीका क्षणिक प्रकाश हुआ और उसमें सड़क दीख गई और सड़कके पासकी बटिया भी। बिजलीके प्रकाशसे पहिले उसे जो भ्रम और उद्विग्नता थी अब उसमें नहीं है, रात्रिका अँधेरा होनेसे मार्गपर चलनेके लिये असमर्थ तो पहिले था और अब भी है लेकिन अब दिशा और रास्तेका ज्ञान होनेसे मनोवृत्तिमें अन्तर आजाता है। शान्ति और सन्तोषके साथ रात्रि बिताकर प्रभातका प्रकाश होनेपर पगडंडीके द्वारा मुख्य रास्तेपर पहुंच जानेका पूर्ण विश्वास पा लेता है। अनाकुलतासे अब रात्रि व्यतीत की, प्रभात होता है वह इष्ट गली पर पहुंच जाता है और आनन्दित होता हुआ चला जाता है। जब इष्ट स्थान निकट रह जाता है तब उत्साहसे तेजीके साथ चलकर स्थान पर पहुँचकर शान्ति और विश्रान्ति पाता है।

इसी तरह मिथ्यात्वमें चलते २ जब यह विकल्प आया कि हमारा पथ यथार्थ नहीं है, और वह रुक जाता है उस मिथ्या मार्ग पर आगे चलनेकेलिये। यह दशा मिथ्यात्वके मंदोदयकी है। ऐसी मंदोदयकी अवस्थामें गुरुके उपदेश आदिका निमित्त पाकर यथार्थ प्रतिभास होना बिजलीके प्रकाशके समान है जिससे कि उसे अपने पथका ज्ञान होजाता है और आकुलता व्याकुलताकी अशान्तिसे बच शान्ति और निर्भ्रान्ति का अनुभव करता है। यह अविरत सम्यक्त्व चौथे गुण स्थानकी अवस्था है। फिर भी चारित्रमोह सम्बन्धी रागद्वेषकी रात्रिमें समय

निकालना है, जब रागद्वेष मंद पड़ने रूप प्रभातका उदय होता है तब देश संयमकी गली पर चलता है। यह संयमासंयम सफलसंयम रूपी मुख्य सड़क तक पहुंचनेके लिये पगडंडीके समान है, पगडंडीमें जैसे झाड़-झंखाड़ होते हैं और उनसे बचते हुए सावधानी पूर्वक चलना पड़ता है उसी तरह गृहस्थीमें भी कई तरहकी उलझनें समस्याएँ सामने रहती हैं, उन्हें सुलझाते हुए, अन्यायसे बचते हुए चलना पड़ता है। दान, पूजा, अतिथिसत्कार आदिकी प्रवृत्ति चलती रहे, किसीसे वैर विरोध न होजाय आदिकी सतर्कता रखते हुए श्रावकके दर्जों में चलना पड़ता है। फिर परिणामोंकी विशेष निर्मलता आनेपर सफलसंयमको ग्रहण करता है। यह उस मुख्य रास्तेके समान हैं जिसपर आनन्दसे पूर्ण निराकुलतासे चला जाता है, जिसमें कि गृहस्थी की सारी झंझटें छूट जाती हैं। टोटा, नफा और बाल बच्चों के भरण पोषण आदिकी सारी चिन्ताएँ छूट जाती हैं परिवार ही उनके भावमें नहीं रहता। तब वह ज्ञान ध्यानमें तन्मय हुआ चलता चला जाता है। बढ़ते २ जब मंजिल पास आती है तब तेजीसे बढ़ता है और असंख्यात गुणी निर्जरा करके अपनी कैवल्य अवस्थामें पहुँच जाता है।

तो पहिले सही दिशाका पता लगानेकेलिये भेदविज्ञान मुख्य कारण है, तब शान्ति पानेका पात्र बन सकता है। वैभव, धन, प्रतिष्ठा और पुत्र आदिकेलिये जीवन समझना ठीक नहीं हैं। किन्तु "गेही पै गृह में न रचै ज्यों जल में मित्र कमल है" को चरितार्थ करते हुए चलना चाहिये। ऐसे सद्गृहस्थ पर भी दरिद्रता इष्टवियोग और अनिष्ट संयोग आदिके उत्पात हो सकते हैं, लोगोंकी दृष्टिमें वह दुःखी दिख सकता है लेकिन वह अपनेमें अपूर्व सुखका आस्वादी होता है, वह बाह्य दुख को दुःख अनुभव नहीं करता। उसे स्पष्ट दिखता है कि न परमें मेरा कुछ है और न मुझमें परका कुछ। वह प्रलयकी स्थिति आने पर भी भयभीत नहीं होता निराकुल रहता है।

तो भेदज्ञान द्वारा अकर्ता निश्चय करना, फिर अभेद स्वभावी जो ज्ञान-दर्शन है उसमें स्थिर हो जाना मोक्षका उपाय है। व्यवहारका उचित बहुत काम भी व्यवहारिक भेदज्ञान बिना नहीं चलता। चांवलसे कंकड़ आदिको अलग न समझे तो उन्हें कैसे अलग करे? इसी तरह भेदज्ञानसे पर्यायको भिन्न समझ द्रव्यपर दृष्टि देना चाहिये। यद्यपि द्रव्यमें पर्याय भी है लेकिन वह अध्रुव है अतः उसमें हेयपना ही है। जो रहे न, क्षणिक हो उससे क्या नाता लगाना? और लगाओ तो दुःखी हो मैं तो चित्पिंड अकर्ता हूं। ऐसा अनुभव आने पर जब स्वभावमें स्थिरता आजाय तो उसमें ध्याता-ध्यान और ध्येयका विकल्प नहीं रहता उसीतरह कर्ता, कर्म और क्रिया ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय इनका विकल्प नहीं होता। ऐसे ही कार्यका पुरुषार्थ होना उत्तम है और तो सब गन्दगी है। परकी रुचि करना परको हितकर समझ उसे सन्मान देना अपने कल्याणके प्रोग्रामको बिगाड़ना है। स्वभावमें रुचि हो तो मोक्षमार्ग और नहीं तो संसार है ही। जैसे शिकारी कुत्तेके पीछा करनेपर खरगोश भागता है, छुपता है, फिर पीछे आते देख अन्यत्र भागता छुपता है उसी तरह स्वभावका ध्यान होने पर रागद्वेषादि रूपी शिकारियोंके द्वारा पीछा करने पर अविरती या देशसंयमी अपनेको उससे बचाता अपने आपमें छुपता लुकता रहता है और कहीं रक्षाका सुयोग्य (संयमका) स्थान पा निराकुल हो जाता है।

यदि वेदना या पीड़ा दूर करना हो तो उसकी एक औषधि है। कर्तृत्व बुद्धिको हटा लेना। बाह्यसे ममता मोड़ लेना या कहिये मुँह मोड़ लेना। आँखें बन्द कर अपनेमें देखना शुरु किया कि कहीं वेदना का नामोनिशान भी नहीं है। किसीके लेखा जोखा करनेकी आदत है तो भेदविज्ञानका करो। घर बाहिर की सारी चीजोंमें निज परका भेद करो। यदि ऐसा प्रयत्न करेंगे तो सफलता जरूर मिलेगी। प्रयत्न कभी भी असफल नहीं होता, जो जितना करेगा उसको उतना लाभ अवश्य

मिलेगा, लेकिन प्रयत्न हो सच्चा। झूठे प्रयत्नका फल तो दुःख ही होगा।

तो मोक्षका पहिला कदम है भेदविज्ञान। जो परभावोंसे रहित है जिसमें परका कोई सम्बन्ध नहीं। घर मित्र बन्धु अरहत और सिद्ध सब पर हैं। मेरी आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीरका जो सम्बन्ध दिख रहा है वह दिखने भर का है, आत्माके प्रदेशोंसे यह अछूता ही रहता है। उसके एक भी प्रदेशमें प्रवेश नहीं करता इसी तरह कार्माण वर्गणाएँ जो आत्मप्रदेशों के साथ रहती हैं वे भी अछूती हैं। वे चेतनप्रदेशको कभी स्पर्श करके जड़ रूप नहीं करते। कार्माणसे बने कर्म और उनसे होने वाले राग द्वेषादि भाव भी मेरे नहीं हैं, ये पराश्रयसे होते हैं, अतः मेरे स्वभाव नहीं हैं। इसलिये ये भी भिन्न हैं। और कर्म सापेक्ष अपूर्ण ज्ञान भी मेरा नहीं है, मेरे स्वभावमें अपूर्णता नहीं है। मेरा स्वभावपूर्ण चैतन्य रूप है। वह केवलज्ञानरूप भी नहीं है वह तो प्रतिसमयकी वर्तना करने वाला उत्पादव्ययरूप है, पर्यायरूप है, किन्तु मैं तो अनादि अनन्त ध्रुव और एकरूप हूं। फिर यह विकल्प खतम होकर भी जो अनुभव में आवे वही अपना रूप है। जो समझाया नहीं जा सकता फिर भी निश्चयनय जहाँ तक वचनकी पहुंच है वहाँ तक वस्तुतत्त्वको दिखाता है।

ऐसी अन्तरवृत्ति करने से हमारा काम बनेगा तभी अकर्तृत्व समझा जायगा। लोग कहते हैं कि शिव ने अपनी स्त्री पार्वती को आधे अङ्गमें बसाया था, सो शिव नाम आत्माका लो जिसकी अनुभूति रूपी रमणी अर्धाङ्गमें नहीं सर्वाङ्गमें सर्व प्रदेशोंमें व्याप रही होती है। ऐसे शिवकी दशा प्रयत्न करके हर कोई पा सकता है। प्रत्येक अनन्त आत्माएँ शिव हैं, यदि वे स्वानुभूति रूपी रमणीको रमा लें तो मोक्षधाम उनका सुनिश्चित है। यह सब निर्भर करता है परमें परत्वबुद्धि करके परविकल्प से दूर होकर स्वमें स्वका अनुभव लानेसे। यदि दृष्टिको इस तरफ लावे

तो यह कोई कठिन बात नहीं है क्योंकि यह तो स्वाश्रय स्वतन्त्र और निर्वाधवस्तु है।

वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानकर इस बात का भेदविज्ञान हो कि मैं अकर्ता हूं ऐसा निश्चय कर अपने उपयोगमें स्थिर होना मोक्षका उपाय है॥

सूत्र—सच सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रत्रयात्मक एव ॥२५॥

और अध्यात्म दृष्टिसे जाना गया वह मोक्षका उपाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है। इन तीनों की एकतारूप है। पृथक् पृथक् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण नहीं हैं। वह तीनों एकरूप कैसे हो जाते हैं? चैतन्यका प्रतिभास होने पर सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान तो साथ ही साथ होते ही हैं और स्वरूपकी स्थिरता भी जब होती है तो तीनों एकरूप होते हैं।

निर्विकल्पानुभूति तीनोंकी एकतारूप है, वह चित्प्रतिभास स्वरूप है। सम्यग्दर्शन होने पर ही तीनोंका प्रारम्भ हो जाता है स्वभाव स्थिरताकी पूर्तिमें सब पूर्ण हो जाते हैं। श्रद्धागुणकी सम्यक्दर्शन पर्याय प्रकट होने पर ज्ञान भी सम्यक् जम पाता है। सम्यक्दर्शनसे पहिले जो ज्ञान था ज्ञान तो वही है लेकिन पहिले वालेमें दृढ़ता नहीं थी जैसे बुखार अपने आपको आवे उसका अनुभव हो और एक दूसरेको आवे उसको जाननेका अनुभव हो दोनों अनुभवोंमें जैसा फरक है वैसा ही सम्यक्त्व होनेसे पहिले वाले मिथ्याज्ञानमें और बादवाले सम्यक्ज्ञानमें अन्तर है। और स्वरूपमें जो स्थिरता है वह सम्यक्चारित्र है ज्ञानका स्वभाव जाननेका है, उसमें रागादिका प्रवेश नहीं। उसमें रागादिकी उपाधि मोहनीयसे लगती है, यदि वह उपाधि न हो और ज्ञान ज्ञानमात्र रहे तभी आत्माका भला है। आत्मा केवल ज्ञाता दृष्टा रहे।

कई लोग विशाल ज्ञानकेलिये तरसते हैं, लेकिन विशाल विश्वके ज्ञानसे भी क्या हो सकता यदि अपना ज्ञान न हो तो। भव्यकी चाह यही होती कि मैं अपने स्वरूपको जान जाऊँ इतना मात्र ज्ञान चाहता हूं। और मुझे केवलज्ञान मिले यह भी चाह नहीं है। वह भव्य यह भी चाहता है कि मेरे आकुलताका ताप मिट जाय मुझे अनन्त सुख नहीं चाहिये। मुझे अनन्त शक्ति भी नहीं चाहिये लेकिन वह शक्ति चाहिये कि जिससे स्वरूपमें बैठ जाऊँ। देव आदि मेरी पूजा करें यह मैं नहीं चाहता किन्तु मैं स्वयं अपना पूजनेवाला बन जाऊँ।

अनादिकालसे यह जीव परका पुजारी बना रहा। कभी धन गृह आदि का पुजारी रहा तो कभी महावीर शान्तिनाथ आदि का। लेकिन अपनी पूजा कभी नहीं की। भगवानकी पूजा भी वास्तवमें नहीं की। यदि भगवानकी पूजा की होती तो अपनी पूजाकी पात्रता तो आ ही जाती। क्योंकि भगवानका जो रूप है वही मेरा है। लेकिन शान्तिनाथ और महावीर आदि नामसे जो पूजा है वह भगवानकी पूजा नहीं है। क्योंकि जो महावीर है वह भगवान नहीं और जो भगवान है वह महावीर नहीं। किन्तु महावीर ही भगवान हुए हैं यह बात ठीक है। महावीर भगवान कैसे नहीं ? जो आत्मा विशुद्ध चैतन्यरूपसे सिद्धालय में विराजमान हैं उनका कोई नाम नहीं है। महावीर नाम लेकर जो चीज या आकार सामने आता हैं वह भगवान नहीं पर्याय है। और महावीरकी पर्यायमें उस आत्माने शरीर बंधनसे छोड़ शुद्ध चैतन्य पिंड को प्राप्त किया इसलिये यह कहना ठीक है कि महावीर भगवान बने। तो ऐसे शुद्ध चैतन्य पिंडकी पूजा करनेसे अपनी पूजा हो जाती है। आज तक भगवान की ऐसी सच्ची पूजा न होनेसे विडंबनाएँ लगी हुई हैं। वर्षों पूजा करके भी अन्याय अभक्ष्य भक्षण और मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति चल रही है। अन्तर नहीं पड़ता तो अब क्या कहा जावे। यदि वस्तुतः पूजा कर पाता तो भगवानकी पूजा उनके प्रतिबिम्बसे जो की जाती है तो पूजकको यह ख्याल आता कि जिस चैतन्य पिंडकी पूजा

प्रतिमा बना कर की जाती है वह कितना महान् है। फिर उसकी महानताके ऊपर जब दृष्टि जाती है तब आत्म-विभोर हो जाता है, तो निश्चय पूजा आनेपर व्यवहार-पूजा हो जाती है लेकिन केवल व्यवहार निश्चयसे तो सर्वथा शून्य है ही वह व्यवहार भी नहीं। विधिवत् व्यवहार पालनेके लिये निश्चयदृष्टि चाहिये। नहीं तो पूजाके बदले भगवानसे पुत्र सम्पदा आदि देनेकी प्रार्थना की जाना लगेगी जिससे वह भगवानकी पूजा न रह पुत्र सम्पदाकी पूजा ले जानी है। अतः निश्चयका समझना आवश्यक है। यह बिंदियोंकेलिये १ के समान है। जैसे केवल बिंदियां ही बिंदियाँ रखी जाँय तो उनकी कोई गणना नहीं होती लेकिन १ का अङ्क शुरु में रख देने से आगे जितनी भी बिंदियाँ रखी जावेंगी उत्तरोत्तर सब की कीमत बढ़ती जावेगी। अथवा जैसे—एक पहिला घड़ा औंधा रखा हो तो उसपर दूसरा घड़ा सीधा नहीं रखा जा सकेगा और उसके ऊपर भी जितने घड़े रखे जावेंगे वे सब औंधे औंधे ही रखे जावेंगे। लेकिन पहिला घड़ा यदि सीधा रखा जाय तो सब घड़े ऊपर ऊपर सीधे ही सीधे रखे जावेंगे। इसी तरह निश्चय के आनेपर व्यवहार भी विधिवत् होता है, अन्यथा वह औंधा ही औंधा होता है। तो भेदविज्ञानसे अकर्ता, अभोक्ता, अनादि अनन्त, अहेतुक चित् स्वभावका निश्चय करने पर सम्यक्त्व आदिका स्वरूप आ ही जाता है तथा व्यवहार भी सत्पथपर चलता है।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र मिले कैसे? धर्मका ज्ञान करने से। और कुछ नहीं करना है। कुछ भी जो किया जाता है वह तो राग से किया जाता है। चाहे वह अशुभ राग हो और चाहे शुभ पूजा जप तप आदि। सूक्ष्मतासे विचारें तो प्रवृत्तिमात्र अधर्म है, प्रवृत्ति होनेपर भी जो ज्ञान-अंश है वह धर्म है। धर्म और अधर्म साथ चल रहे हैं। फिर भी धर्मसे जो मिला है ऐसा शुभ राग अधर्म नहीं कहा जाता क्योंकि वह अशुभके समान धर्ममें बाधक नहीं होता।

धर्मके बीचमें वह शुभ राग आता अतः व्यवहारसे वह साधक ही कहा जाता है। यों राग मात्र अधर्म है, अधर्मके दो रूप हैं—१. पुण्य और २. पाप। तो प्रायः पुण्य अधम इसलिये नहीं कहा जाता कि धर्मभावमें आनेकेलिये उसकी प्रवृत्ति अवश्यम्भाविनी होती है। किन्तु धर्म तो चैतन्यरूप ही है। पूजा करनेवाला पुजारी किस प्रस्तावनापूर्वक पूजा प्रारम्भ करता है?

अर्हत्पुराण पुरुषोत्तम पावनानि वस्तूनानिनूनमखिलान्यममेकएव।
अस्मिञ्ज्वलद्विमलकेवलबोधवन्हौ पुण्यं समग्रमहमेकमनाजुहोमि॥

अर्थात् हे पुरुषोत्तम, उत्तम द्रव्य, मूर्ति आदि हैं उनसे परे हमें तो आप ही चैतन्य पुंज एक दिख रहे हो। क्योंकि उस पूजकके वही धुन है। जिसकी जो धुन होती है उसे वही दिखता है। पुजारीको चैतन्य प्रभु दिखता है। अतः वह भावना करता है कि मैं चैतन्य रूप जाज्वल्यमान अग्निमें समस्तका स्वाहा करता हूं। मैं आपके पूजाके निमित्तकी द्रव्य तथा धन सम्पदा आदिका भी त्याग करता हूं इस समय। कोई प्रश्न करे कि द्रव्य या सम्पदा वगैरह है किसकी? यह तो माननेभर की है, फिर उसमें त्याग कैसा? तो कहते हैं ठीक इसीलिये वह पुण्यसे मिली सामग्री मात्र को ही नहीं त्यागता किन्तु उस पुण्यका भी त्याग करता है, और पुण्य भी पर ही हैं इसलिये पूजक उन पुण्य भावोंका भी त्याग करता है जिनसे पुण्यकर्म बँधता है। वह भावना करता है कि भगवान आपमें अनुराग रूप जो पुण्य है वह भी न रहे और मैं आपका जैसा चैतन्यपुंजका अनुभूति करनेवाला मात्र होजाऊँ। इस तरह उसकी श्रद्धा वस्तुतत्वको स्पर्श करती हुई होती है, तभी वास्तविक भगवानकी पूजा होती है, और ऐसी भगवानकी पूजा आने पर अपनी पूजा भी हो जाती है।

मतलब यह कि जो ज्ञाता दृष्टापन है, वह धर्म है। जिसमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका अन्तर्भाव

है, वह मोक्षरूप है अथवा मोक्षका उपाय है। इस रत्नत्रयके साथमें जो प्रवृत्ति होती है उसे भी उपचारसे धर्म कह दिया जाता है।

इस तरह स्वरूपमें आनेके लिये कर्ताकर्मबुद्धि को खतम करना आवश्यक है जिसकी यह प्रक्रिया बताई जा रही है। उस प्रक्रिया में रत्नत्रयकी साधनाका रूप आता है जिसे मोक्षमार्गके नामसे भी कहते हैं। कर्तृत्वरहित अवस्था दुःखके मोक्षरूप है अथवा मोक्षका मार्ग है और सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी इसी रूप है अतः अकर्तृत्वकेलिये रत्नत्रय धर्मको साधनाका रूप प्रकारान्तरसे आता है। उसमें रागादि प्रवृत्तिका निषेध है। किन्तु अकर्तृत्वकी पूर्णता जब तक प्राप्त न हो तब तक शुभ राग आये बिना नहीं रहता। फिर भी मुमुक्षु उसका आदर नहीं करता, आदर तो अपने वीतराग भावमें ही होता है। हमको इसी प्रक्रियाको अपनाना चाहिये।

वस्तुका वास्तविक परिज्ञान सम्यक्त्वका उत्पादक निमित्त है। परिज्ञान ज्ञान गुणकी पर्याय है और सम्यक्त्व श्रद्धागुणकी पर्याय है इस भेदविवक्षासे परिज्ञानको निमित्त कहा है। वस्तु अनादि अनन्त स्वतः सिद्ध अखण्ड असाधारण धर्मसहित सत् है। वह प्रतिसमय परिणमन करता रहता है, वह सामर्थ्यवान् है, उसमें अनन्त परिणमनके सामर्थ्य हैं। इसी एक-एक सामर्थ्यका नाम गुण है। वे गुण दो प्रकारमें विभक्त हैं—एक तो प्रदेशवत्त्व, २-अन्य सब गुण (अर्थ)। इनमें प्रदेशवत्त्वसे तो क्षेत्र बनता है और अन्य गुणों से भाव बनता है। इन दोनोंके परिणमनसे काल और सबका पिण्ड विवक्षामें द्रव्य कथित होता है। इस तरह वस्तु द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव इस चतुष्टयसे गुम्फित है। वस्तु अपने चतुष्टयसे तो है परन्तु परके चतुष्टयसे नहीं है। स्वचतुष्टय में भी अस्ति नास्तिपना है, सत् दो प्रकारसे है—१ महासत्ता, २-आवान्तरसत्ता—सत्सामान्यको ग्रहण करनेवाली महासत्ता है और अमुक सत् अमुक सत् इस प्रकार विशिष्ट सत् का ग्रहण करनेवाली

आवान्तरसत्ता। कहीं ये दो प्रकारके सत् नहीं हैं किन्तु समझनेकी शैली दो हैं। जैसे देखा जाय तो सत् आवान्तरसत् हो है उसके अविभागप्रतिच्छेद हैं षद्गुणहानिवृद्धि है किन्तु समस्त सत् में जातिकी एकता होनसे सत्सामान्यका भी विवक्षा हो जाती है। वस्तु जब महासत्तासे विवक्षित होती है तब वह महासत्ताकी अपेक्षा सत् है और आवान्तरसत्ताकी अपेक्षासे सत् नहीं है। इसी प्रकार जब आवान्तरसत्ताकी विवक्षा होती है तब वस्तु आवान्तरसत्ताकी अपेक्षा सत् है और महासत्ताकी अपेक्षा सत् नहीं है। जैसे उदाहरणकेलिये घट लीजिये घटको तो यहाँ सामान्य समझिये और घटके रक्तरूप, मटियाली गंध कठोर स्पर्श आदिको विशेष समझिये। अब जब हमारी विवक्षा घटत्व की है तब वह घटत्वकी अपेक्षासे तो है और रक्तादि धर्मोंकी अपेक्षासे नहीं है और जब रक्तरूपकी विवक्षा है तब रक्तरूपसे तो है घटत्वकी अपेक्षा नहीं है। इसी तरह क्षेत्रके सम्बन्धमें भी विचार है—क्षेत्रके प्रकार २ हैं, १–क्षेत्रसामान्य, २–क्षेत्रविशेष। इनमेंसे वस्तुके समस्त क्षेत्रकी अभेदविवक्षामें वह सर्वप्रदेशमात्र तो क्षेत्रसामान्य है और वस्तु के सर्वक्षेत्रके अंश अंश रूपविभाग क्षेत्रविशेष हैं। जब क्षेत्रसामान्यकी विवक्षा है तब वस्तु अखण्ड क्षेत्रसामान्यकी अपेक्षासे तो सत् है और खण्डरूप प्रदेश विभागकी अपेक्षा सत् नहीं है और जब क्षेत्रविशेषकी विवक्षा हो तब वस्तु क्षेत्रविशेषकी अपेक्षासे है व क्षेत्रसामान्यकी अपेक्षासे सत् नहीं है। यहाँ भी ये २ भेद वास्तविक नहीं हैं परन्तु विवक्षाका विलास है। इसी तरह काल का भी हाल है, काल पर्यायको कहते हैं। पर्याय भी २ प्रकार से है—१–पर्यायसामान्य, २–पर्यायविशेष। पर्याय सामान्य तो सभी पर्याय पर्याय कहलाती हैं, अतः उन सब पर्यायोंकी संतति या समूहरूप पर्यायसामान्य कहलाता है। तथा सभी शक्तियोंके परिणमनको भी अभेदविवक्षामें पर्यायसामान्य कहते हैं, और प्रतिक्षण का परिणमन अथवा एक-एक शक्तिका जात हुआ पृथक् पृथक् परिणमन पर्यायविशेष कहलाता है। सो जब पर्यायसामान्यकी विवक्षा है तब

वस्तु सामान्यकालकी अपेक्षासे है और विशेषकालकी अपेक्षासे नहीं है। इसी प्रकार जब कालविशेषकी विवक्षा है तब वस्तुकालविशेषकी अपेक्षा से सत् है और कालसामान्यकी विवक्षासे सत् नहीं है। ऐसी ही शैली भावकी है, भाव नाम शक्ति, स्वरूप या स्वभावका है—सर्व भावोंका अभेदस्वरूप स्वभाव भावसामान्य है और स्व स्वलक्षण करि ज्ञात पृथक् पृथक् शक्ति भावविशेष है। सो जब भावसामान्यकी विवक्षा है तब वस्तु भावसामान्यकी अपेक्षा सत् है और भावविशेषकी अपेक्षा सत् नहीं है। इसी प्रकार जब भावविशेषकी विवक्षा हो तब वस्तु भावविशेष की अपेक्षासे सत् है और भावसामान्यकी विवक्षासे सत् नहीं है। ऐसा सदसदात्मक वस्तु प्रति समय अपना परिणमन करता रहता है यह एक ही परिणमन उत्पादस्वरूप है और व्ययस्वरूप है और वही पूर्व का द्रव्य रहता है सो ध्रौव्यरूप है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों परस्पर सापेक्ष हैं।

देखो भैया! वस्तु अपने चतुष्टयसे ही परिणमता है अन्य कोई वस्तु न अपना द्रव्य किसीको दे सकता है और न क्षेत्रकाल भाव। सब वस्तु स्वतः ही परिणामी, किसी अन्यने नहीं परिणमाई। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है। हे आत्मन् तुम भी तो चेतन सत् हो, स्वतन्त्र हो तुम केवल अपने चतुष्टयमें ही परिणम रहे हो। शरीर तो प्रकट जुदा है इसका या अन्य परका तुम्हारे आत्मामें अत्यन्ताभाव है. अन्य सभी आत्मावों का तुममें अत्यन्ताभाव है फिर अन्य तुम्हारी परिणति कैसे कर सकेंगे। निमित्ताधीन, संयोगाधीन दृष्टि छोड़कर असयुक्त अबद्ध केवल अपने स्वरूपको देखो।

कल्याण कठिनाईसे नहीं होता है, सरलतासे होता है। शान्ति परिश्रम से नहीं मिलती, विश्रामसे मिलती है। आनन्द करनेसे नहीं होता, करना छोड़नेसे होता है। मोक्ष किसी पक्षसे नहीं मिलता किन्तु पक्ष छोड़नेसे मिलता है। 'शिवका उपाय समस्त नयपक्षोंसे रहित है।

शिव भी नयपक्षसे रहित है। आगे इसी विषयके सम्बन्धमें कहते हैं—

सूत्र—सकलनयपक्षातिक्रान्तश्च ॥ २६ ॥

संसारमें जितने भी अन्य द्रव्योंका आश्रय करके परिणाम होते रहते हैं वे सब अहितरूप हैं, और स्वाश्रितनिरुपधि परिणाम जो कि परकी आश्रयतासे रहित हैं वे हित रूप हैं। निरुपधि स्थिति कैसी है? नयोंसे परे स्वस्वरूप नजर आता है। समस्त नयोंके द्वारा जानकारी होनेके बाद जो समझमें आता हैं वह नयपक्षसे रहित है। जैसा कि सूत्र कहा गया है. 'सकलनयपक्षातिक्रान्तश्च' वह एकत्र सकल नयपक्षोंसे अतिक्रान्त है। नयोंने उस स्वभावको एकाङ्गीरूपसे ग्रहण किया था जब कि वस्तु सर्वाङ्गीण है, अतः उसका अनुभव न हो पाया था, एक पक्षमें ज्ञान उलझा था, जब वह ज्ञान निर्विकल्प ध्रुव स्वभाव में आया तो प्रमाणातिक्रान्त वा नयातिक्रान्त हो जाता है। जैसे कोई खाईको पार करके गया तो उसने उसको उल्लङ्घन करके अस्पृष्ट होकर पार की। वस्तुको पहिले नयपक्षोंसे समझा जाय और प्रमाणसे सब नयोंकी दृष्टि से एक साथ समझा जाय जिससे अपने उपयोगमें व्यवहार होता है और फिर प्रमाण नय और निक्षेपको भी अतिक्रान्त करके वह अनुभव में आये तब उसका स्वभावस्पर्शी यथार्थ ज्ञान हुआ कहलाता। यदि जीवके विषयमें ऐसा विकल्प हो कि जीव कर्मोंसे बंधा है तो इसमें एक तरहका विकल्प रहा, और वह विकल्प संयोग अवस्थाका विकल्प रहा। वहाँ स्वभाव पर नजर कहाँ आवे? नहीं आ सकती। कर्मोंसे अबद्ध जीव है ऐसा विकल्प आया तो इसमें संयोगके विकल्पका पक्ष तो नहीं है पर अबद्धपनेका पक्ष तो है ही; निश्चयका पक्ष है ही। वह व्यवहार का पक्ष था, यह निश्चयका हुआ। विकल्प तो रहा ही जब इन सब विकल्पोंसे अतिक्रान्त हो जाता तब निर्विकल्प विज्ञानघन होकर जीव समयसार होजाता है अर्थात् जैसा समयसार है, वैसा ज्ञान करके उस रूप हो जाता। लेकिन इसके पूर्व व्यवहार और निश्चयके विकल्प आये

बिना नहीं रह सकते। प्रश्न—निर्विकल्प अवस्था ही तो हित है फिर नयज्ञानकी क्या आवश्यकता? उत्तर—अज्ञानवासित जीवको यदि नयरूप ज्ञान भी नहीं होगा तो वह जीव नयपक्षोंसे अतिक्रान्त तत्त्वके स्वशक्ति योग्य न होनेसे अज्ञानी कहलायगा तथा अशुभ विकल्पोंमें घूमने वाला होगा। वस्तु अनेकान्त है उस के जाननेका उपाय स्याद्वाद है। एक नयके विकल्पपक्षमें जीव बद्ध है तो दूसरे विकल्पके पक्षमें अबद्ध है। एक विकल्पमें नित्य है तो दूसरेमें अनित्य। एकमें ध्रुव है तो दूसरेमें अध्रुव। एकमें एकका विकल्प है तो दूसरेमें अनेकका विकल्प है। इसतरह अगणित नय विकल्पोंका पक्ष हुआ करता है। इन विविध नयविकल्पके पक्षोंने अनेक मत-मतांतरोंकी सृष्टि कर डाली। यदि इन में सापेक्षताकी दृष्टि रखी जाय तो ये सब नयपक्ष जैन सिद्धान्तके अङ्ग हैं। उन दृष्टियोंका ज्ञान ठीक हो जाय तो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जायगा। क्योंकि सर्वदृष्टिसे अतिक्रान्त होकर ही निष्पक्षका दर्शन होता है। जैसे देखना ४ तरहसे होता है—१-बाईं आँखसे, २-दाईं आँखसे, ३-दोनों आँखोंसे और ४-दोनों आँखोंको बन्द करके भी देखा जा सकता है। इसी तरह आत्माकी परिणतियाँ ४ तरहकी होती हैं। १-व्यवहारदृष्टिसे, २-निश्चयदृष्टिसे, ३-प्रमाणसे और इनसे अतिक्रान्त ४-अर्थानुभवसे। व्यवहार, निश्चय और प्रमाणसे जो अतिक्रान्त हो वह अनुभव कहलाता है। तो वस्तु सकलनयातिक्रान्त होता है। इन नयपक्षोंमें विद्वानोंने कलहकी खाई बना दी है जिसके फलस्वरूप अनेक मत-मतांतर दिख रहे हैं। अनित्यपक्षके विकल्पमें पड़े हुए बौद्ध हैं, नित्यको कहने वाले सांख्य हैं। इसी तरह ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, द्वैतवादी, अद्वैतवादी और चार्वाक आदि एकाङ्गीनयके निरपेक्ष और विरूप विकल्पोंमें अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहते हैं। कहाँ तक कहा जाय जैनों तकमें भी कोई कोई अपने पक्षको रखनेकी धुनमें रहते हैं। इस तरह सम्यग्ज्ञानका आश्रय छोड़नेसे मिथ्याज्ञानका तांडव हो रहा है। जब कि आपकी वाणी है कि 'तत्त्व' सर्वनयपक्षसे अतिक्रान्त है।

पहिले व्यवहार फिर व्यवहार छूटकर निश्चय और फिर निश्चयका पक्ष छूटकर प्रमाणज्ञानमें आया जाता और फिर उससे भी अतिक्रान्त होकर अर्थानुभवमें आता है। मोक्षका उपाय ऐसा नयपक्षोंसे अतिक्रान्त है। ठीक ही कहा है कि—"कोई कहे कुछ है नहीं, कोई कहे कुछ है, है और ना के बीच में जो कुछ है सो है।" अर्थात् विकल्पसे अतिक्रान्त होकर जो पदार्थानुभव है वही तत्त्व है। किसी भी वस्तुको किसी एक नयसे पूर्ण नहीं बताई जा सकती।

तत्, अतत्, सत्-असत् आदि किसी एक कल्पनामें ही रहना स्वच्छन्दता मात्र है। वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्रकाल भावरूप चतुष्टयसे सत् है तो परद्रव्य क्षेत्रकाल भावरूप चतुष्टयसे असत् है। जैसे चौकी अपने रूपसे, चौकीपनेसे या कहिये अपने द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे है तो अचौकीपनेसे या परद्रव्य क्षेत्रकाल भावसे नहीं हैं। यदि कहा जाय कि दोनोंका मतलब एक ही रहा ? तो मतलब एक है भी और नहीं भी है। विधि और निषेधका अन्तर है। यदि एकरूपसे है और दूसरी रूपसे भी हो तो संकर दोष आवेगा, अव्यवस्था हो जायेगी। चौकी लानेको कहा जानेपर चौकी लाई गई, पुस्तक और कपड़े आदि नहीं। उसका मतलब ही यह है कि चौकीपनेसे वह चौकी है सत् है, तत् है। उससे भिन्नकी अपेक्षा वह असत् और अतत् है। वस्तुमें स्वचतुष्टयसे सत्पना परचतुष्टयसे असत्पना स्वीकार न करनेपर मोक्षमार्ग तो बनता ही नहीं किन्तु व्यवहार भी नहीं चल सकता। यदि वस्तु सर्वथा असत् ही हो तो उसके विषयमें चर्चा भी नहीं की जा सकती, और यदि सत् ही है तो परकी अपेक्षा भी सत् होनेसे एक अनेकरूप अथवा अनेक एकरूप होजाय। एक पदार्थमें परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका निषेध न करने व परचतुष्टयसे भी सत् माननेसे किसी भी वस्तुके निश्चय होनेकी व्यवस्था नहीं बन सकती। पदार्थ आज तक बना रहा क्यों ? इसीलिये कि आज तक भी परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका प्रवेश वस्तुमें नहीं

हो सका है ऐसा ही त्रिकाल सत्य है। इसीलिये सद्भूत है। यदि यह न माना जाय तो वस्तुका अस्तित्व मिट जाय। अतः सत् भी है और असत् भी है तत् भी है, अतत् भी है। तो वस्तुको बतलानेमें दोनों नय आवेंगे, और जब अनुभवमें विचारा जायगा तो वहाँ न सत् और न असत् आदि कोई पक्ष न टिक पावेगा। अतः वस्तु नयातिक्रान्त है।

संसारमें ये विकल्पजाल रागसे होते हैं। वीतराग अवस्थामें इनका स्थान नहीं। वीतराग अवस्थामें तो ऐसा स्वभाव ही है, पर निर्विकल्प दशामें भी एकत्वका अनुभव होता है। यह बात दूसरी है कि सविकल्पता आनेपर वह उपयोगमें न रहे श्रद्धामें ही रहे। किन्तु उस अनिर्वचनीय स्वरूपका निर्विकल्प आचरण लब्धि और उपयोग दो प्रकार नहीं होता। चाहे उसे कैसा भी कह लो, जबसे होता और जबतक होता तबतक बना ही रहता। ऐसा स्वरूपाचरणी सम्यग्दृष्टि सोता भी रहे, खाता पीता तथा और भी सब काम करता रहे तो भी उसके ४१ प्रकृतियोंका बंध नहीं होता, जबतक कि सम्यक्त्व बना रहे। और यदि सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व होगया हो तो ४१ प्रकृतियोंका अबंध हमेशाके लिये रहता है तथा आगे २ देशविरत और प्रमत्तविरत आदि जैसे जैसे गुणस्थान चढ़ता जायगा वैसे वैसे उतनी और और प्रकृतियोंका अबंध होता जायेगा। परन्तु स्वानुभव उपयोगमें तभी रहता जब चित् स्वभावका उपयोग रहता, अन्यथा लब्धिरूप रहेगा, उसमें स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम भी निमित्त रूपमें अवश्य होता है। नयपक्षकी अतिक्रान्त अवस्थामें भी अबुद्धिपूर्वक विकल्प है वह ज्ञानस्वरूप हैं। और नयपक्षमें बुद्धि पूर्वक भी विकल्प होते हैं। जो निश्चयनय है वह स्वयं विकल्परूप है, परन्तु जिसको जाना वह निर्विकल्प है। तो वह एकत्व जिसकी दृष्टि सम्यग्दर्शन है, जिस समय नयपक्षको उल्लङ्घन कर देता है, अन्तरात्मा उस समय अपनेको समरससे भरा हुआ अनुभव करता है। और उस अवस्थामें यह अनाकुलताको भोगता है और निर्जराका पात्र होता है।

इस निश्चयनयके अनन्तर होनेवाले अनुभवके पश्चात् जब अन्तरात्मा कर्मोदयके निमित्तसे विकल्पमें आता तब दुनिया नई दीखने लगती है। अर्थात् जब निर्विकल्पसे विकल्पमें आता तो यह सब विकल्पका विषय स्वप्नसा दीखने लगता है। नया या खेल रूप दिखने लगता। किन्तु अनुभूतिकी झलकसे जैसा अपनेमें अनुभव किया था वैसी झलक सबमें पाता है। जिसकी जैसी दृष्टि होती है वह उसी दृष्टिसे वस्तुको देखता है। गुणी गुणको ही देखता है, और दुर्जन जब दूसरोंपर दृष्टि देता तो उसे उसमें दोष ही नजर आते हैं। जिसमें दोषों की अपेक्षा गुणोंकी बहुलता हो उसमें भी दुर्जनको दोष ही अधिक दिखते हैं। निश्चय सम्यग्दृष्टि नयपक्षसे अतिक्रान्त हो ज्ञायकभावका अनुभव कर चुका है अतः जब जगतपर दृष्टि डालता है तो संसार क्रीड़ास्थल-सा मालूम पड़ता है। उसके सामने नाटक के से दृश्य नजर आते हैं। उसकी दुनियाँ निराली हो जाती। क्योंकि उसने तो ऐसा अनुभव किया कि मैं चैतन्यमात्र तेजपुंज हूं। उसकी पर्याय दृष्टि दूर हो चुकी और उसने तो अपने चैतन्य प्रभुका दर्शन कर लिया है। जब वह व्यवहारी लोगोंपर दृष्टि देता है तो उनमें भी चैतन्य तत्त्व नजर आता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि इन इन्द्रजालोंको और अपने इन्द्रजालोंको तथा नयपक्षोंको भी अपने उपयोगसे दूर कर देता है। ऐसा यह अन्तरात्मा समस्त नयपक्षोंको इन्द्रजालवत् अतिक्रान्त कर देता है निर्विकल्प निज चैतन्यप्रभुके दर्शन करता है। ऐसा यह मोक्षका उपाय है जो अपनेमें मौजूद है, साधु जिसके ध्यानमें लीन रहते हैं, वह चैतन्यप्रभु घट घटमें विराजमान हैं। सिद्धमें और आपमें कोई अन्तर नहीं है। हमारी दृष्टि उसपर नहीं गई (उस चैतन्यप्रभु पर), इसलिये यह फरक है कि वे अनन्त सुखी हैं और हम अनन्त दुःखी। जितना सुख होता उसके अभावमें उतना ही दुःख होता। ज्ञानी यह जानता है कि मैं विज्ञानघन, आनन्दपिंड, पूर्ण, अनादिसे, स्वतः परिपूर्ण हूं। अधूरा तो मान्यतामें बन रहा हूं। स्वभावसे तो पूर्ण हूं और ऐसा पूर्ण अनादिसे

हूँ और अधूरा भी अनादिसे बन रहा हूं मान्यता से।

एक एक वस्तुको रागादिसे जानना खंड खंड ज्ञान है। और सब को रागादिसे रहित नयपक्षोंसे रहित जानना सो अखंड ज्ञान है। समस्त नयपक्षोंसे रहितज्ञान स्वयं अखंड है, जब हम ऐसा जानें तो वह खंड ज्ञान कहलायेगा। जिस दरिद्रीके घरमें राजा रहने लगे तो वह दरिद्री कब तक बना रहेगा? दरिद्रता तो खतम होगी ही। उसी तरह जब यह नयपक्षसे अतिक्रान्त अवस्थामें आया तब उसके खंडज्ञानका अस्तित्व कब तक बना रहेगा? खण्डज्ञानमें जब अखण्डप्रभु विराज जाते हैं तो वह भी खण्ड कब तक रहेगा? अन्तमें उसकी अखण्डता सर्वदाके लिये प्रगट होगी जहाँ कि पदार्थ एकसाथ निर्विकल्प रूपसे भासते हैं। अतः चैतन्यका दर्शन शिवका उपाय है। चैतन्य नयपक्षसे अतिक्रान्त है, चैतन्यका दर्शन भी नयपक्षसे अतिक्रान्त है, मोक्ष नयपक्षसे अतिक्रान्त है. मोक्षमार्ग भी नयपक्षसे अतिक्रान्त है। मोक्षका मूल नयपक्षसे अतिक्रान्त है, मोक्षका फल भी नयपक्षसे अतिक्रान्त है। धर्मका प्रारम्भ नयपक्षसे अतिक्रान्त है, धर्मकी पूर्णता भी नयपक्षसे अतिक्रान्त है। निश्चयदृष्टिका प्रयोजन नयपक्षसे अतिक्रान्त है, अनुभवका वर्तमान नयपक्षसे अतिक्रान्त है। समस्त नयपक्षकी अतिक्रमणता मूलसे पल्लव तक अमृतरूप है। यह पूर्ण निष्पक्ष व्यवस्था विकल्पोंके अभाव विना कभी सम्भव नहीं, विकल्पोंका अभाव कर्तृत्वबुद्धि रहते हुए असम्भव है। कर्तृत्वबुद्धिका व्यय अकर्ता निजज्ञायक स्वभावके बिना नहीं होगा परमपावन निज स्वभावके पहिचानका प्रयत्न करो यही सच्चे लाभका मूल होगा। ॐ शान्तिः

इस तरह कर्ताकर्मका प्ररूपक यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय

जीव शुद्ध निश्चयनयसे अपने शुद्ध भावोंका ही कर्ता है, अशुद्ध निश्चयनयसे अशुद्ध रागादि भावोंका कर्ता है, उपचारसे कर्मोंका कर्ता है। और उपचरितोपचारसे अत्यन्त पर द्रव्योंका कर्ता बनता है, यह कोई नयमें नहीं है।

अब परविषयक कर्ता कर्म बनानेसे क्या वैभव फलित होता है सो उस मिथ्या वैभवको करनेसे पहिले उसके कारण बताते हैं, कर्मकी रचनाका प्रकार बताते हैं—

कषायहेतुका प्रकृतिः कर्म ॥ १ ॥

अनादिकालसे बद्धजीवके द्वारा किये गये कषायोंके कारण जो प्रकृति होती है वह कर्म है। जीवके कषाय भाव नया नया होता है और वह प्रतिसमयवर्ती होता है। प्रत्येक समयमें कषाय बदलता रहता है लेकिन एक जातिकी कषाय अधिकसे अधिक अन्तमुंहूर्त होती है जैसे किसीके क्रोधका उदय हुआ तो वह अधिकसे अधिक अन्तमुंहूर्त रह सकेगा पश्चात् मान, माया या लोभमें तो कोई हो जायेगा। लेकिन अति स्थूलतासे कषायभाव अनादिसे चल रहा है, और वह मोह के बल से अस्तित्वकालमें तथा मोह नष्ट होनेपर भी कुछ समय तक चलता ही रहता है। कर्मके निषेक एक एक समयमें आ आकर खिरते रहते हैं, लेकिन क्रोधादि पैदा करने वाली कर्मप्रकृतियोंका तांता जाति अपेक्षा अन्तमुंहूर्त तक चलता ही रहता है। यहाँ बद्धकर्मोंका प्रतिसमयमें

उदयमें आकर निर्जीर्ण होना और साथ ही साथ नवीन कर्मोंका प्रतिसमय बंधते जाना, इस तरह पुरातन कर्म अपना फल देकर समाप्त नहीं हो पाते कि नये नये कर्म बंधते ही रहते हैं। इस तरह जीवका मोह भाव जब तक है तब तक द्रव्यकर्मोंकी परम्परा चलती ही रहती है। और उसमें निमित्त कारण होते हैं आत्माके भावकर्म या कषायभाव। उसी प्रकार संसार अवस्थामें भावकर्म या कषायभावकी भी परम्परा अनादिसे तब तक चलती ही रहती है जब तक कि जीव अपने शुद्ध चेतनतत्त्वरूप परिणति नहीं करने लगता। यद्यपि एक ही कषाय नहीं चलती रहती है, जैसा कि पहिले कहा गया है कि एक कषायभाव आकर समाप्त होता है कि दूसरा आता रहता है, इस कषायभावके तांतेमें निमित्त कारण उस उस तरहका कर्मोदय होता है। अनादिसे सब जीवोंके द्रव्यकर्म और भावकर्मका यह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अबाध गतिसे अब तक चलता ही रहा है और रहता है तबतक जबतक कि जीव अपनी सुधमें आवे। अपनी सुध आनेपर कर्मकी यह परम्परा त्रुटित होती चलती है और एक दिन जब जीव अपनी पूर्ण शुद्ध हालतमें आगत होता है, वे द्रव्यकर्म भी समाप्त हो चुकते हैं। भावकर्म और द्रव्यकर्मका यह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध टूटनेका कारण आत्मासे बनता है। किसी भी संसारी जीवने आज तक यह उपकार नहीं किया कि अपने उदयको और विकार खतम करके अपनेको अपनी शुद्ध हालतमें रहने दे। द्रव्यकर्म जो जड़ हैं उनमें उपकार और अनुपकारकी चेतना नहीं है, चेतनाकी विशेषता तो जीवको है। कर्मके उदयका निमित्त पाकर यद्यपि उस चेतनामें विकार होता रहता है जिससे वह अपनी परिणतिरूप न रह अशुद्ध हुआ करती है, फिर भी ऐसी बात नहीं है कि अनादिसे जीवने पहिले पहल कषायभाव किया है तब कर्म बंधा हो, और फिर उस कर्मके उदयमें कषायभाव हुआ हो और उस कषायसे फिर कर्म बंधा हो इस तरह उन दोनोंकी परम्परा चालू हो। और न ऐसा भी है कि पहिले जीवमें कर्मने कषायभाव पैदा किया हो और फिर

उस कषायसे कर्म बंधा हो, और फिर इसी तरहसे दोनों निमित्त नैमित्तिक बनते हुए संसारकी परम्परा चला रहे हों। कषायभाव और कर्मप्रवृत्ति दोनों अनादिकी हैं किसी एकका आदिपना नहीं है। उस उस कषाय या कर्मका आदि जीवके साथ अनादिका सम्बन्ध माननेसे ही संसारकी व्यवस्था बनती है। अन्यथा जीव प्रारम्भमें शुद्ध हो आग पीछे कषायभाव हुए हों, सो बात नहीं घटती क्योंकि शुद्ध जीवको कर्म कषाय पैदा करनेमें असमर्थ हैं निमित्त नहीं हैं। यदि ऐसा न हो तो सम्पूर्ण मुक्त आत्माएँ एक क्षणके लिये ही मुक्त रह सकती हैं, आगे दूसरे क्षणमें कर्मके कारण उन्हें अपनी शुद्ध अवस्थाका परित्याग करना पड़ेगा, क्योंकि कर्म हठात् कषायभाव करा देते हैं यह जो सिद्धान्त मान लिया इसलिये। जब मोक्ष नहीं रहा तो उसके साधन जप, तप समाधि आदि सब व्यर्थ ठहरे लेकिन इनको व्यर्थ कहना किसीको भी इष्ट नहीं है। अतः शुद्ध आत्मापर कर्म हठात् आक्रमण करके कषाय भाव करा देते हों यह नहीं बन सकता। इसके न बन सकनेमें एक इसका हेतु यह भी है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको परिणमन करानेमें असमर्थ है। उस अवस्थामें व्यवहारसे भी असमर्थ है जबकि द्रव्य स्वयं विकारी न हो। शुद्ध द्रव्यका परिणमन तो शुद्ध ही होगा। अनादिसे कोई भी जीव ऐसा नहीं है कि पहिले शुद्ध हो और पीछे कर्म के कारण अशुद्ध बना हो। यदि यह बात एक जीवके लिये लागू होजाय तो फिर सबको लागू होनेमें बाधा क्या रहेगी? जीवने अनादि कालीन निमित्त नैमित्तिक भावसे कर्मोंके अस्तित्वमें (अपने आत्मप्रदेशोंके साथ निमल स्थितिमें) बना रखा है। यदि द्वितीयोपशम करके वह मोह कर्मके उदयसे रहित भी हो जाय (मोह रहित पूर्ण निर्मल हो जाय) तो भी जिन्हें पहिले अस्तित्वमें बना रखे हैं उनको विपाकमें वह जीव मिथ्यात्व गुण स्थान तक भी आकर समल बन सकता है। इसमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि यह तो कर्मव्यवस्था ही अनेक प्रकारकी ऐसी बन रही है। जो कर्म सर्वथा नष्ट नहीं हुए हैं, किसी नियत काल तकके

लिये केवल दब गये हैं, जीवको या जीवके भावको उतने समय तकके लिये आवृत करनेकी स्थितिमें नहीं हैं तो न हों परन्तु जब उनका उदय काल आवेगा तब तो वही बात होगी जैसा कि कर्मके उदयके निमित्त से नैमित्तिक जीवमें हुआ करता है। लेकिन ऐसा जीव भी विरला ही अनन्तोंमें कोई एक मिलेगा, जिसने मोहका उपशम करके अपनी निर्मलता कुछ क्षणके लिये बना ली हो और फिर मिथ्यात्वमें आकर मोही बना हो।

ये कषायभाव जो होते हैं वे आत्माके चतुष्टयसे ही होते हैं। पर होते बाह्य निमित्तको पाकर ही। यदि सर्वथा निमित्त निरपेक्ष माना जाय तो विकार जीवका स्वभाव बन बैठे। लेकिन ऐसा जानकर निमित्त भूत कर्म पर दृष्टि नहीं देना है। उनको हटानेके लिये भी उनपर दृष्टि रखनेकी जरूरत नहीं है। यदि नजर वहाँ रहेगी तो वे हटेंगे नहीं, उनकी परम्परा तो चलती ही रहेगी। विकारको हटानेका उपाय तो है अपने निर्विकार स्वभावपर दृष्टि पहुँचाना स्वसंवेदन भावका होना। जब निर्मलता पर दृष्टि रही तो आगे कर्मबंधका प्रवाह टूट गया और जब उसका प्रवाह टूटा तो समय समय प्रति जीवको पुनः उस निर्मल स्वभावके अवलोकनका अवसर मिलेगा, इस तरह एक समय वह होगा जब कर्मकी शृङ्खला सर्वथा टूट जायेगी। फिर भी सम्यक्त्वका लाभ होनेमें उसके कुछ पूर्ववर्ती क्षणोंमें जो क्षयोपशम लब्धि होती है वह स्वतः होती है और उससे विशुद्ध परिणाम स्वयं होते हैं। उन विशुद्ध भावोंसे सम्यक्त्वका भाव स्वयं है।

संसारी जीवमें जो प्रवृत्तियाँ चलती हैं वे जीवके भावकर्म और पुद्गलके—द्रव्यकर्म के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे चलती हैं। सांख्य-मत पुरुषके अतिरिक्त दूसरा तत्त्व प्रधान मानता है जिसे प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृतिसे महानकी उत्पत्ति मानते हैं, उससे अहङ्कार और उससे कर्मेन्द्रियाँ आदि १६ तत्त्व मानते हैं। तो उनमें मूल प्रकृति

तत्त्व है, तो वह प्रकृतितत्त्व क्या है? इसको जाननेके लिये उससे उत्पन्न होने वाले तत्त्वोंपर ध्यान दें तो कुछ तो प्रकृतिके उपादान रूप हैं और कुछ निमित्त रूप।

सांख्यके उक्त तत्त्वोंको जैन सिद्धान्तके अनुसार घटावें तो प्रकृति को ज्ञानावरण कर्म कह सकते हैं, उसके क्षयोपशमसे महान अर्थात् संसृत दशामें विकृत ज्ञान होता है जिससे कि अहङ्कार पैदा होता है, और उससे अन्य सांसारिक तत्त्वकी सृष्टि होती है। लेकिन इन १६ गणोंमें उपादान निमित्तकी व्यवस्था ठीक न बननेसे उनका सामञ्जस्य ठीक तरहसे नहीं बैठाया जा सकता। प्रकृतिको जड़रूप मानते हैं, जड़ से महान अहङ्कार जैसा चैतन्य कैसे प्रगट हो सकता है, आदि अनेक दोष आते हैं। लेकिन उपादान निमित्तकी वैज्ञानिक व्यवस्थाके अनुसार विचारें तो वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन ठीक ठीक किया जाता है।

जैन सिद्धान्तकी दृष्टिसे प्रकृति अर्थात् कर्मके निमित्तसे जीवके कषायभाव होते हैं और कषायसे कर्म बंधते हैं। फिर कर्मोंके निमित्त से कषायें होती हैं, और उनसे फिर कर्म। इस तरह परम्परा चलती रहती है। पहिले क्या है? इसका समाधान पहिले किया जा चुका है। खानमें जैसे स्वर्ण-किट्ट कालिमा सहित जबसे है तभीसे है। जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि परम्परासे ऐसा ही चला आरहा है। पुत्र पितासे पैदा होता है, लेकिन वह पिता भी अपने पितासे पैदा होता है, इस तरह उस सबसे पहिले पिताका हवाला कोई नहीं दे सकता अनादि से ऐसी ही परम्परा चली है। इसी तरह कर्म और कषायका भी सम्बन्ध अनादिक है।

कषाय भावोंके निमित्तसे जो कर्मोंका बंध होता वह वस्तुतः पहिले के जो कर्म हैं उनसे बंध होता, आत्मासे नहीं। हाँ एकक्षेत्रावगाही तो हैं, इसीलिये आत्माके साथ भी बंध कह देते हैं, उपचारसे।

निश्चयसे आत्मा कर्मसे अबद्ध और अस्पृष्ट ही है। पहिलेके कार्माण शरीरमें भी नवीन कर्मोंका बंध उपचारसे ही है। क्योंकि पुद्गल परमाणुओंमें भी प्रत्येक परमाणुकी सत्ता भिन्न भिन्न है और वह स्कंध रूप हो जानेपर भी रहती है अनन्त परमाणुओंका स्कंध जो है उसमें अनन्त परमाणुओंका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रत्येक परमाणु अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे, अपने अपने रूप रस गंध और स्पर्शके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें परिणमन कर रहा है। किसी परमाणुका किसीमें वा किसी अविभाग प्रतिच्छेदका परिणमन किसी में नहीं होता। अतः कर्मोंके निमित्तको पाकर आत्मा स्वयं परतन्त्र है। जैसे गायको जिसे बांधना कहते उसमें देखो तो रस्सीका एक छोर दूसरे छोरसे बंधा है याने रस्सी रस्सीसे बंधी है। गायको उससे बंधा हुआ कहना उपचारसे है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि उस रस्सेके बंधको निमित्त पाकर गायमें नैमित्तिक परतन्त्रता आती है। इसी तरह जीव स्वय अपनी भावनासे परतन्त्र है, नहीं तो स्वतन्त्र ही है। कर्मोंसे परतन्त्र कहना उपचार है। जीव स्वयं अपनी परतन्त्रतासे विभावमें लीन रहा करता, यदि विभाव परिणति न करे तो कर्म जबरदस्तीसे उसे विभावमें रखनेकेलिये बाध्य न करेगा और कर्म भी जीवके साथ हमेशासे कर्मरूप बने नहीं चिपटे हैं। उन पुद्गलोंकी पहिले दशा सामान्य पुद्गलरूप थी या विशेष नामसे कहो तो कार्माणवर्गणारूप थी। उनमें कर्मत्व शक्ति प्रगट नहीं थी. वह कर्मत्व तो तब आया जब जीवने कषायभाव किये। कार्माणवर्गणाओंसे यह लोक ठसाठस भरा हुआ है लोकका कोई प्रदेश खाली नहीं है। और यहाँ तक कि एक एक आकाशके प्रदेश पर अनन्त (पुद्गल) वर्गणाएँ स्थित हैं। आत्मप्रदेशोंके साथ भी अनन्त वर्गणाएँ हैं। अबद्ध कार्माणवर्गणाएँ जीवके साथ नहीं हैं। किंतु कोई कर्मवर्गणाएँ जीवके साथ रहती हैं उन्हें विस्रसोपचय कहते हैं। जीवके भावोंका निमित्त पाकर ये हीं विस्रसोपचय कर्म बन जाते हैं अर्थात् उनमें आत्माके विभिन्न गुणोंको अमुक समय तक अमुक

अंशमें घातनेकी (आत्माकी स्वयंकी उस विकार परिणतिके बननेमें निमित्तरूप होनेकी) शक्ति आ जाती है। विस्रसोपचय कषायका निमित्त पाकर कर्मरूप होते रहते हैं और दूसरे साधारण कर्मवर्गणाके पुद्गल भी नवीन विस्रसोपचय बनते रहते हैं। और उन विस्रसोपचयों में से कोई परमाणु कर्मरूप भी बनते रहते हैं। कर्म के बंधने और उनकी उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम और क्षयोपशम आदिकी व्यवस्था उनमें स्वतः बनती रहती है, उनमें निमित्त कारण आत्माके भाव होते हैं। कर्मबंध और उदय आदिकी प्रणाली योग रहने तथा मुक्ति अवस्था प्राप्त होने तक यथासम्भव चलती ही रहती है, संयोगमें एक भी समय निर्बंध या अयोग व अयोगसे पहिले याने मुक्त न होने तक अनुदय रूप नहीं होती। लोग छुपकर पाप करते हैं पर वह गुप्त नहीं रहता। लोकमें भरी हुई कार्माणवर्गणायें आपके अति गुप्त भावोंका भी निमित्त मिलनेपर कर्मरूप होकर आपको परतन्त्र बनानेके लिये निमित्तरूपसे आते ही हैं। गुप्त पाप भी छुपता नहीं है। पाप रूप जो फल मिलता है वह किये हुए पापोंका ही प्रगट उदाहरण है। जिसने छुपकर भी पाप किये होंगे उसका जब फल मिलेगा तब तो वह प्रगट कर ही देगा कि इसने पापकर्म किये थे जिनका यह फल है। असली दण्ड देनेवाला तो कर्म है, राजा या न्यायाधीश नहीं। यदि कर्मसे छुपकर पाप कर सकते हो तो करो लेकिन कार्माणवर्गणाएँ तो सब जगह भरी हैं, उनसे छुपकर कहाँ बचा जा सकता? तब उनको करना ही नहीं चाहिये, यह बात आई। कषायभावके कारण ये कर्म कभी कभी इतने लम्बे समय तकके लिये बंध जाते हैं कि ७० कोड़ी कोड़ी सागर तक फल देते रहते हैं। ७० कोड़ी कोड़ी की गिनती कितनी होती है, सो पिछले प्रकरणसे मालूम करना। सोचनेकी बात है कि एक समयमें इतना कर्म बंध जाता है। कर्मबन्धनकी यह बात तो परकी चर्चा हुई लेकिन आत्माकी तरफसे सोचो तो यह कहलाया कि एक समयकी गलतीसे अनन्त विकारी भाव बना लेता है। वह अनन्तानुबंधी

कषाय जो अनन्त भवों तक बन्धनमें रखती है। कर्म बंधते जरासी चूकसे हैं लेकिन छूटते कठिनतासे। हँस हँस कर बांधे हुए कर्म रो रो कर छूट पाते हैं, परन्तु संवर पूर्वक छूटना आत्मीय आनन्दसे ही होता है। अनन्तकालसे कर्मबंध और उसके फलकी यही व्यवस्था चल रही है। भावोंकी तरतमतासे कर्मबंधकी व्यवस्थामें भी तरतमता रहती है। जिस समयमें जिस प्रकार के जिस योगसे और जिस कषायसे कर्म बांधा जाता है, वह कर्म उस प्रकारके गुणोंका घात करनेवाला उतने समय तक उस दरजेका फल देने वाला बधता है। बंध होनेपर पीछे उसकी स्थिति और फलदानमें आगेकी प्रवृत्तिसे हीनाधिकता हो जाती है। रत्नत्रयकी साधनामें उसमें उपशम, क्षय आदिकी भी व्यवस्था है पर जबतक जीव सुमार्ग पर नहीं है तबतक उपशम क्षय आदि नहीं बंध, उदय, उदीरणा आदि की व्यवस्था जीवके भावोंके निमित्तसे अपने ही आप व्यवस्थित चलती रहती है। अलग अलग कार्माण वर्गणाएँ जीव के ज्ञानदर्शन आदि गुणोंको घातने वाली कर्मरूप होती हैं। उस कर्म की अब कुछ विशेषता कही जाती है—

तल्लोकबुद्ध्या द्विविधं पुण्यं पापं च ॥ २ ॥

वह कर्म लोक बुद्धिसे दो प्रकार का है. १—पुण्यकर्म और २—पाप कर्म। पापमें ये भेद लोकबुद्धि से है। लोगोंने अपने इष्ट अनिष्ट अभिप्रायोंसे कर्मों को पुण्य और पाप रूप माना. उसी अपेक्षासे ये भेद हैं। स्वभाव और विभावकी कल्पना करके देखें तो दोनों समान हैं। दोनों ही आकुलतारूप हैं। एक सातारूपसे आकुलता पैदा करता तो दूसरा असातारूपसे आकुलता पैदा करता। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि—

"कह तं होहि सुशील जं संसारं पवेसेदि" अर्थात् पुण्यकर्मको जो सुशील कहा है (और पापकर्म को कुशील) सो सुशील कहना कहाँतक

ठीक हो सकता हैं, जो कि जीवको संसारमें प्रविष्ट कराता है। अधिक पुण्य वाले अधिक पाप कर सकते हैं, ऐसा आगम और अनुभव दोनों से स्पष्ट है। सातवें नरकको जानेका पाप वज्र वृषभ नाराचसंहनन वाला ही मनुष्य वा तिर्यञ्च कर सकता है पुण्यके उदयमें यदि पापके जघन्यतम भाव हों जभी ऐसा सम्भव होता है और मध्यम या मन्द भाव होनेसे कर्मप्रकृति भी मध्यम और मन्द रूपमें बधेगी। उदय और बन्धकी समानता या असमानता नहीं है। भोग-भूमियाके जीव विशेष पुण्यकर उदय होने पर अपने भेदकषायके भावोंसे देवगतिका और उसमें भी सम्यग्दृष्टि देव उत्तम देवगतिका पुण्यबन्ध करते हैं। जब कि कोई मिथ्यादृष्टि देव विषय वासनाकी तीव्र लालसासे वा कषायों की तीव्रतासे तिर्यञ्च योनिमें एकेन्द्रियकी पर्यायका पापबन्ध कर लेता है। मनुष्योंमें यहाँ भी ऐसे देखे जाते हैं कि जो मिले हुए वैभवसे अहङ्कार और विषय वासनाको तीव्र न करके दान परोपकार और शील सँयममें मनको लगाते हैं और सम्यक्त्व भी प्राप्त करते हैं। मतलब यह कि पुण्य और पाप, दोनोंकी अवस्थाओंमें जीव उत्थान और पतन कर सकता है, किसी एकको दोष देना ठीक नहीं। पर यह बुद्धि हटा देना चाहिये कि पुण्यकर्म अच्छा होता है। बल्कि कभी कभी उस पुण्यसे पाप अच्छा है जो पुण्य मद और विषयवासनामें प्रवृत्ति उग्र करके जीवको नरकके और निगोदके दुःख भुगतावे। और पापका उदय जीवकेलिये निमित्त रूपमें कभी अच्छा भी हो जाता जब कि उसमें संवेग और निर्वेगके भाव पैदा होने वा वैराग्यकी विशेषता होने पर कर्मों के क्षय करनेमें निमित्त रूप बनते। तीव्र पापके उदयमें घोर उपसर्ग को अनेक मुनियोंने अन्तर्मुहूर्त के भीतर आठों कर्मोंका क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया है। आगममें ऐसे पांडव आदिके उदाहरण मिलते हैं। अब उन पुण्य व पापकर्म दोनोंका किञ्चित् विस्तार करते हैं—

सूत्र—प्रत्येकं द्विधा ॥ २ ॥

प्रत्येकके पुण्यकर्म और पापकर्म के दो दो भेद होते हैं। इनके मूल स्वभावको देखें तो ये आत्माकी मलिनताके कारण हैं। कोई पुण्य के उदयसे अपनेको सुखी मानते हैं और पापके उदयमें दुःखी। लेकिन यह उनका भ्रम ही है अज्ञानसे ऐसा मालूम पड़ता। अपने आनन्द स्वरूपसे बाह्य पदार्थोंमें हित अहितकी छटनी करना अगृहीत मिथ्यात्व है। एक शूद्रा स्त्रीके दो लड़के थे, छुटपनसे उनमेंसे १ ब्राह्मणके यहाँ पला। दोनों बड़े हुए, एक तो अपनेको ब्राह्मण मानता था, क्योंकि उसे यही मालूम था कि मैं ब्राह्मण पुत्र हूं। अतः वह मदिरासे परहेज करता था, लेकिन दूसरा अपनेको शूद्र मानता था और वह मदिरापान करनेमें हिचकता नहीं था। जैसे एक ही शूद्रीसे पैदा हुए दो व्यक्ति अपनी अलग २ मान्यतासे एक अपनेको ब्राह्मण मानता और दूसरा शूद्र। उसी प्रकार कर्म के दो रूप हैं, पुण्य और पाप। इसमें अज्ञानी मिथ्या अहङ्कारसे पुण्यको सुखरूप मानता और पापको दुःखरूप। किन्तु आत्माके लिये जैसे पुण्य वैसे पाप भी दुःखरूप है। स्वभावकी दृष्टि करना चाहिये। उसका कारण भेदविज्ञान है, और उसका कारण पदार्थज्ञान (तत्त्वज्ञान) है। तत्त्वज्ञानके लिये यह विचार आना चाहिये कि पुण्य पाप मेरे नहीं हैं, इनसे धर्म नहीं होता। धर्म तो वस्तुस्वभाव को कहते हैं, और उसकी दृष्टिको भी धर्म कहते हैं। अपने ध्रुवस्वभाव की दृष्टि रहना मोक्षका अमोघ उपाय है।

कोई कहे कि पुण्य और पाप एकसा कैसे हो सकता है? इनके हेतुओंमें फर्क है, पुण्य अच्छे भावोंसे होता और पाप बुरे भावोंसे बंधता है। तो जब पुण्यके हेतु न्यारे हैं और पापके हेतु न्यारे हैं, तो ये एक कैसे हो सकते हैं? तो उत्तर इसका यह है कि दोनोंके कारण जुदे नहीं हैं। दोनोंके कारण शुद्धोपयोगके बिना शुभोपयोग और अशुभ उपयोग दोनोंको ही बंधका कारण दुखदाई और विकल्परूप कहा है। यहाँ तक कि शुद्धोपयोगकी दृष्टि होते हुए भी शुभोपयोगसे जो पुण्य

बंध होजाता वह भी बन्धन है। देश सेवा आदिके भाव भी बंधभाव हैं। यहाँ तो आत्मकल्याणकी बात है। पापकर्म बंधता है तो अज्ञानसे और पुण्यकर्म बंधता है वह भी अज्ञानसे। इससे सिद्ध होता कि पुण्य और पाप दोनों एक हैं। जीवकी दृष्टि ध्रुव स्वभावपर जबतक न पहुंचे तबतक पुण्य और पापमें फरक करके पुण्यको उपादेय रूपसे ग्रहण करता। स्वर्ग आदिके वैभव और विलासकी आकांक्षा व्यक्त वा अव्यक्त रूपसे अज्ञानीके लगी ही रहती है। सो स्वर्गमें पेटकेलिये कुछ करना धरना नहीं पड़ता और प्रायः मनमाना वैभव विलास मिलता सो उद्दंडता विशेष होजाती है हमारी अपेक्षा।

विरक्त और सम्यग्दृष्टियोंकी बात अलग है। आप कहें कि पुण्य का स्वभाव न्यारा है और पापका स्वभाव न्यारा है। पुण्यसे अच्छे २ सयोग मिलते और पापसे बुरे सयोग मिलते ? सो कहते हैं कि हे भाई ये दोनों प्रकारके संयोग आखिर पुद्गलरूप ही तो हैं। यदि उदयमें फर्क आया कहो तो अज्ञानसे पापमें जैसे विभावका अनुभव होता उसी तरह पुण्यके उदयमें भी विभावका अनुभव होता है। बताओ आत्माकेलिये पुण्यने क्या किया ? और पापने भी क्या किया ? जैसे हँसी में विना बुने पलंगपर चद्दर बिछाकर जिसकी मजाक करनी होती उसे बड़े प्रेम भरे शब्दोंमें बैठालते और धमसे नीचे गिरनेपर ठहठहा मारते। तो पुण्य भी ऐसी ही चादर समझो, उसके लुभावने रूपमें आकर्षित हो नीचे गिरना पड़ता है। तब प्रश्न होता है कि हमें पुण्य के कार्य नहीं करना चाहिये ? तो उत्तर है कि हाँ नहीं करना चाहिये, स्वभावदृष्टि करना चाहिये। जब वह नहीं होता तो पुण्यके कार्य बनते हैं। करना नहीं चाहता लेकिन होते हैं। ज्ञानी उनको करनेका प्रयत्न करता हुआ भी उनमें अकर्तृत्वपनके अन्तरग भाववाला है। और उपादेय बुद्धि तो न बुद्धिपूर्वक और न अबुद्धिपूर्वक करता है। तो पुण्य के काम होने दो पर करो मत। जहाँ पुण्य करनेका निषेध है वहाँ

पापका निषेध तो है ही, उसे तो लोक-व्यवहारमें भी निषिद्ध ही माना है। यह बात उनके लिये कही जा रही है जिनकी दृष्टि पापसे बचनेकी आई है। उन्हें शुद्धोपयोग में लगना चाहिये। नहीं लगा रह सके तो लक्ष्य तो उसका ही रहना चाहिये। ऐसा लक्ष्य रहनेपर शुद्धोपयोग होनेके बीचकी अवस्था शुभोपयोगकी अवश्य आवेगी। कुन्दकुन्द स्वामी आदि ने क्या किया जंगलोंमें ? स्वरूपके आचरणमें ही तो लगे रहे। और जब शुद्धोपयोग नहीं तब शुभोपयोगमें आनेपर ग्रन्थरचना धर्मोपदेश आदिका भी कार्य किया। तो पुण्य को होने दो पर उसके कर्ता मत बनो। उसे करते क्यों हो वह तो पीछा स्वयं नहीं छोड़ता। ग्रन्थकर्ता पूज्य आचार्यगण इस समय यदि लोकांतिक देव न हुए हों तो स्वर्गमें कुन्दकुन्द स्वामी जैसे भी रागरंगके वैभवोंमें होंगे। पुण्य हटायेसे नहीं हटता। आत्माका कार्य द्रव्य दृष्टिका होना चाहिये फिर जो हो सो हो। उपास्य गुरु महर्षि संत यद्यपि अभी स्वर्गलोकमें वैभवके साथ हैं तथापि उनका उपयोग परमपारिणामिकभावकी ओर बना रहता है वहाँ भी पुण्योदय उन्हें विचलित नहीं होने देता।

ज्ञानियोंकी दृष्टिमें पुण्यकर्म हो अथवा पापकर्म हो, दोनों कर्म सामान्यमें गर्भित है उनमें किसीको शुभ कहना किसीको अशुभ कहना यह संसारप्रिय प्राणियोंकी छांट है। ज्ञानका कर्म जानना है जब ज्ञान स्व व परके यथार्थ स्वरूपको जान लेता है तब किसीमें भी सामर्थ्य नहीं कि ज्ञानीको मोहरूप परिणमानेमें निमित्त कोई बन सके।

अब कर्मके और भेदोंकी प्ररूपणा करते हैं जिसे कि उक्त तृतीय सूत्रमें बताया है कि पुण्य और पाप दोनोंके दो-दो भेद होते हैं—

सूत्र—चेतनाचेतनाभ्यां भावद्रव्याभ्यां वा ॥४॥

पुण्य दो प्रकारका है १—चेतनपुण्य, २—अचेतनपुण्य। पाप भी दो प्रकारका है १—चेतनपाप, २—अचेतनपाप। चेतनकी जो परिणति

होती है भावस्वरूप–उपयोगस्वरूप होती है जिसे परिणाम भी कहते हैं। यद्यपि परिणाम शब्दका निरुक्त्यर्थ देखा जावे तो सभी द्रव्योंकी जो जो अवस्था है वह सब परिणाम है परन्तु रूढ़ अर्थ केवल जीवद्रव्यके परिणमनके लिये प्रसिद्ध है, तभी तो लोकमें भी पूछते हैं कि अमुक पुरुषका परिणाम कैसा है। इस प्रकार चेतनका तत्त्व ही भाव हुआ अतः चेतनके स्थानमें भाव और अचेतन कर्मवर्गणा है उन्हें द्रव्यशब्दसे कहते हैं। सो अचेतनके स्थानमें द्रव्य रखना, इस तरह पुण्यके इस प्रकार भी दो भेद हुए १-भावपुण्य, २–द्रव्यपुण्य। तथा पापके भी ये दो भेद हुए १–भावपाप, २–द्रव्यपाप। भावपुण्य आत्माकी विकृत अवस्था है, आत्माकी परिणति है अतः आत्माका कार्य है। कार्यका अपरनाम कर्म भी है, इस तरह तो कर्म शब्द ठीक आत्माके भावपुण्य व भावपापमें घटित होता है। किन्तु जिसको निमित्त पाकर आत्मामें यह कार्य हुआ तथा आत्माके इस कर्म अर्थात् क्रिया–परिणतिके निमित्त से जो वर्गणाएँ बंधो उन्हें भी कर्म कह देते हैं। अब कर्म शब्दकी इतनी रूढ़ि होगई है कि कर्मके कहनेपर शीघ्र दृष्टि कर्मवर्गणापर जाती है, आत्माकी विकृतिपर नहीं जाती। अस्तु! कर्मशब्द दोनों द्रव्योंकेलिये सुघटित है। आत्माका कर्म आत्माकी अवस्था है, कर्मवर्गणाका कर्म पुद्गलकी अवस्था है। संसारी आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाही अनन्त विस्रसोपचयरूप अणु हैं वे ही आत्माके मिथ्यात्व व कषायका निमित्त पाकर कर्मरूप होजाते हैं। उसी समय बंध जाते हैं, उसी समय उनकी स्थिति बन जाती है और उसी समय फल निमित्तत्त्वकी शक्तिरूप अनुभाग पड़ जाता है। यह सब निमित्त-नैमित्तिकभावका निर्बाध प्रबन्ध है परन्तु जितने भी सद्रूप वस्तु हैं याने एक एक अणु और एक आत्मा इनमें कोई भी किसीको परिणमाता नहीं है अपना द्रव्य क्षेत्रकाल भावका अंशमात्र भी नहीं दे सकता।

एक समयमें बंधे हुए कर्म परमाणुस्कद्धोंमें जो स्थिति पड़ती है उस स्थितिके प्रत्येक समयमें आबाधाकाल को छोड़ कर किस समय

कितनी वर्गणाएँ उदययोग्य है यह बटवारा भी उसी समय होजाता। कौन कर्मवर्गणाएँ क्या आत्माकी क्षति करनेमें निमित्त बनेगी यह प्रकृति भी उसी समय बन जाती। फिर बद्धकर्मोके उदय अथवा उदीरणाको निमित्तमात्र करके आत्मा स्वयं अपने परिणमनसे कषायरूप परिणम जाता है। यह कषायभाव आत्माका स्वभावपरिणमन नहीं किन्तु विभाव परिणमन है क्योंकि यह औपाधिक है। यह निमित्त-नैमित्तिकता जीव द्रव्य और पुद्गलद्रव्यकी नहीं है किन्तु जीवपर्याय और कर्मपर्यायकी है। इस भेदसिद्धान्तसे हमें किस अभेदकी शिक्षा मिलती है यह बात अवश्य समझ लेना चाहिये। क्योंकि जिस भेदप्ररूपणामें हमारा लक्ष्य अभेदका न हो तो वह हमारे लिये धर्मपन्थ नहीं है। यह जीव अनादि से ही भेदमें भटकता आया है अभेदतत्त्वको जाना ही नहीं जिस अभेद से ही सर्वभेद प्रकट हुए हैं।

यहाँ आस्रव और बंध दोनों दो प्रकारके कहे गये जीवरूप और अजीवरूप—जीवास्रव और जीवबंध जीवसे प्रकट होते हैं और अजीवास्रव व अजीवबंध अजीवसे प्रकट होते हैं। हाँ एक दूसरेको निमित्तमात्र अवश्य है अन्यथा दोनोंमें स्वभावपरिणमन ही होता जीवास्रव तो जीवका विकृत परिणाम है वह जीवके चतुष्टयसे उत्पन्न हुआ और अजीवास्रव पुद्गल कार्माणवर्गणाका विकृत परिणाम है वह उस अजीवसे हुआ इसी प्रकार जीवबंध जीवस्वभावमें विभावके बन्धनको कहते हैं और अजीवबंध कार्माणशरीरमें नवीन कर्मवर्गणाओंके बंधने और उन कर्मवर्गणाओंमें प्रकृति स्थिति अनुभागके पड़नेको कहते हैं। अहो देखो द्रव्यका कैसा प्राकृतिक स्वतन्त्र विलास है—प्रत्येक अपने आपमें परिणम रहा है। परन्तु मुग्ध प्राणियोंकी तो पराधीन दृष्टि बन रही है। धर्म तो वस्तुतः अत्यन्त सरल है कठिन तो अधर्म ही है। जैसी जो वस्तु है उसके वैसे जाननेमें ही जिन्हें बड़ा बोझ लग रहा हो वे क्लीव व्यर्थ मनुष्यभवका नम्बर खोनेकेलिये अवतरित हुए हैं।

देखो भैया जगतमें किसीको कोई शरण नहीं है, अपने पैर खड़े हो जाओ तो भलाई है अर्थात् अपने ज्ञानदर्शन लक्षणात्मक चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर उस स्वभावदृष्टिके लिये स्थिर हो जाओ तो कल्याण है। अब आप देखिये भूतार्थनयसे आस्रव बंध जैसे अहित विकट हेय पर्यायोंको भी जाने तो स्वभाव कैसे मिल जाता है, जरा भूतार्थनयकी कलाको तो देखिये।

जो ऊपर चार पर्यायें कही गई हैं—१. जीवास्रव, २. अजीवास्रव, ३. जीवबंध, ४. अजीवबंध इनमें जो जिससे प्रकट हुआ उसको उसी के समक्ष रखो, उसका उसीसे सम्बन्ध मानो और दोनोंको अर्थात् पर्याय पर्यायीको इस प्रकार देखो कि पर्याय गौण होकर पर्यायी मुख्य रहे इसतरह निमित्तदृष्टि तो पहिले ही दूर कर दी थी। अब पर्यायभेद को भी द्रव्य–अभेदमें विलीन कर दिया तब मात्र एक द्रव्यका ज्ञाता रहगया सो वह द्रव्य यदि जीवद्रव्य है तो जीवद्रव्यके विकल्पसे मुक्त हो अर्थानुभवमें आजाता तथा यदि वह ज्ञेय पुद्गलद्रव्य है तो महासत्ताप्रतिभास्य होकर ज्ञाता स्वयं सामान्य बन कर अपना अनुभव कर लेता है।

जैसे जीवास्रव जीवद्रव्यसे प्रकट हुआ अब जीवास्रवको जीवद्रव्य को समक्ष रखो अर्थात् यह देखो कि यह जीवास्रव जीवद्रव्यसे प्रकट हुआ है। अन्य बात या निमित्तदृष्टिको बिलकुल भूल जाओ इसपर दृष्टिपात न करो क्योंकि भूतार्थनयसे देख रहे। यदि अन्य गड़बड़ किया तो अभूतार्थनयपर पहुंच जाओगे उसकी अभी बात ही नहीं की जा रही है। हाँ तो अब प्रकृत बातपर आवें। यह जीवास्रव जीवद्रव्य से प्रकट हुआ है। यहाँ जो मूल है उसे प्रधानतया देखो, जिस ध्रुवसे प्रकट हुआ है उस द्रव्य–द्रव्यस्वभावको देखो, यहाँ जीवास्रवकी दृष्टि विलीन हो जावेगी। अब यहाँ द्वैतबुद्धि समाप्त होती है और एक अद्वैत पारिणामिकभाव ज्ञेय रहजाता है। इसकी ज्ञप्तिके अनन्तर ही

निश्चयविकल्प भी स्वयं शान्त होजाता है और स्वयं स्वयंके अनुभवमें बना रहता है।

देखो तो भूतार्थनयकी उपकारशीलताको कि यह स्वयं (भूतार्थनय) का विनाश करके अपने प्रभुको उच्च बना देता है। ऐसी ही करामात है इस भूतार्थनयमें जीवबंध (भावबंध) को भी इसी रीतिसे देखो पर्याय गौण होकर द्रव्य ही दृष्टिमें रहेगा फिर द्रव्यनयके पक्षसे भी अतिक्रान्त होकर निर्विकल्प निजका अनुभव न होगा। यही चिनगारी कर्मकाष्ठको जला देनेकी अचिन्त्य सामर्थ्य रखती है। हे आत्मन् अपने आपके अचिन्त्य अनुपम स्वभावको तो देख, यही सर्व सुखोंका स्थान है। कल्याणकी बात अतिनिकट अभिन्न है, सर्व विकल्पोंको असार देख ले और सारभूत समयसारसे दृष्टि लगा ले। अति दुर्लभ मनुष्यजन्मको सफल कर। दृष्टि अन्यत्र मत दो। निजको ही भूतार्थनयसे देख। 'स्वय भूत: अर्थ इति भूतार्थ:' अथवा 'भूत: अर्थ: यस्मात् स भूतार्थ:'। अर्थात् जे स्वय हो ऐसा अर्थ अथवा अर्थ कहिये पर्याय जिससे होती है ऐसा तत्त्व या अर्थ कहिये गुण जिस आधारसे ज्ञानमें प्रकट हों वह तत्त्व भूतार्थ है।

भूतार्थनय, सत्यार्थनय, परमशुद्धनिश्चयनय, प्रतिषेधक, प्रतिषेध, द्रव्यदृष्टि, सामान्यदृष्टि, स्वभावदृष्टि, अन्वयदृष्टि, अद्वैतदृष्टि, पारिणामिकभावदृष्टि, स्वाश्रितदृष्टि, निश्चयदृष्टि, वस्तुत्वदृष्टि, अभेददृष्टि, एकत्वदृष्टि आदि अल्पमात्र अन्तरके साथ सब एकार्थ-वाचक नाम है। इनके प्रसादसे अनुभवका निशाना जानकर जीव समस्तसंकल्प विकल्पोंसे मुक्त होकर मात्र ज्ञाता द्रष्टा होजाता है।

इस प्रकार जहाँ केवल जानना रह जाता उसे कहते हैं मोक्षका उपाय। और मोक्ष भी इसी रूप है। मूर्तीक और अमूर्तीक चीजोंके बारे में हम केवल जाननेवाले रहें तो यह ज्ञायकपना ही मोक्षका उपाय

है, पुण्य मोक्षका उपाय नहीं। त्यागी साधुओंका आदर सत्कार करना उनकी वैयावृत्य करना, मन्दिरोंका जीर्णोद्धार करना कराना, मन्दिर बनवाना, पूजा, अभिषेक, प्रतिष्ठा करना, भगवानकी स्तुति और गीत नृत्यादि करना, दान देना, परोपकार करना आदि व्यवहारके जितने काम हैं वे सब पुण्यके काम हैं। वस्तुतः ये भी पुण्यके कार्य नहीं हैं किन्तु इनमें प्रवृत्त आत्माके जो शुभ राग हैं वह पुण्यकार्य हैं। इन पुण्यके कार्योंकी प्रवृत्ति करनेपर भी जो ज्ञायकपना है वह मोक्षका उपाय है, किन्तु वह प्रवृत्ति धर्म नहीं है। फिर भी पुण्यसे सर्वथा बचा नहीं जा सकता। यही नहीं मोक्षमार्गमें आओगे तो पुण्य ही अधिक बनेगा, और पापमें प्रवृत्ति मोक्षमार्गी होगी नहीं। बिलकुल नहीं होगी ऐसी बात नहीं है, उस दर्जे के विषय और कषायोंसे तो उस दर्जे का पाप बंधेगा ही। जब तक विषयकषाय चलेगा तब तक पाप बंधेगा। हाँ मंद कषायोंसे पापबंध विशेष न होगा पुण्य विशेष होगा। जब कि तीव्र कषायोंमें पापबंध विशेषतासे बंधता है और पुण्य न के बराबर। अतः पुण्यसे भागकर बचा नहीं जा सकता, वह तो होगा ही, शुद्ध उपयोग के लिये होनेवाले यत्नमें बीचमें पुण्य आये बिना न रहेगा। ज्ञानी आत्मा पापसे तो बचता ही है, पुण्यसे भी बचना चाहता है, उसकी इच्छा नहीं करती, फिर भी वह आये बिना नहीं रहता। जिस तरह वह पुण्य नहीं चाहता उसी तरह उसका फल भी नहीं चाहता अर्थात् पुण्योदयकी वांछा सम्यग्दृष्टि नहीं करता, न वर्तमानकेलिये और न भविष्यको। और भूतकालमें उसकी जो चाह की है उसपर पश्चात्ताप करता है। वह ऐसा गर्व नहीं करता कि मुझे पर्याप्त वैभव और भोग उपभोग की सामग्री मिली थी, मैं प्रतिष्ठित समझा जाता था. याने परकी मूर्च्छा जब नष्ट हुई तो उसकी चाह और उसके प्राप्त होने पर अहङ्कार, व न प्राप्त होनेपर खेद व मत्सरता नहीं आती। क्योंकि बाह्यमें उसकी उपादेय बुद्धि निकल गई, जंगलमें जाकर ध्यान लगाने वालोंके भी पुण्य आता।

एक जमाना यहाँ ऐसा भी था कि अशुभ और शुभ दोनोंको छोड़ शुद्धोपयोग में आ श्रेणी माड़कर मोक्ष जाते थे। लेकिन अब यहाँ पर ऐसा ध्यान नहीं बन पड़ता। जब मुनियोंके शुद्धोपयोगकी विरलता है तो हम देशसंयमियों वा अविरत सम्यग्दृष्टियोंकी तो बात ही क्या है ? लेकिन पहिली बात तो उस रूप श्रद्धा आनेकी है, आचरण तन्द्रूप न भी बन पड़े पर श्रद्धा तो यथावत् हो। श्रद्धाके साथ ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान होता। और यह तो निश्चित है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होजानेपर सम्यक्चारित्र भी स्वरूपाचरणके 'नामसे होता है, सामायिकचारित्र आदि चरित्र न भी हो तो। इस तरह ज्ञान मोक्षका उपाय है ऐसा कहनेपर उसके साथ साथ होनेवाला सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी मोक्षका उपाय हुआ याने रत्नत्रय मोक्षका उपाय कहलाया। मोक्षके उपायमें ज्ञान चेतनाकी मुख्यतासे, ज्ञान मोक्षका उपाय है ऐसा भी कहना उपयुक्त होता है। किन्तु इसके विपरीत अज्ञान ससारका कारण है, और अज्ञान पूर्वक पाप और पुण्य भी ससारका कारण है। पुण्यका जो मोक्षका कारण मानते वे भूल करते हैं। ज्ञानके साथमें भी जितने अंशमें पुण्य किया है या शुभ राग है वह बंधका ही कारण है। साम्परायिक अवस्था में ज्ञानीको जो निर्बंधक कहा है वह अनन्त संसारकी अपेक्षासे कहा है। सर्वथा अबन्धक तो नहीं है। कषायमात्रका सद्भाव रहते सर्वथा अबन्धक कैसे रह सकता ? अत: मोक्षमार्ग व मोक्ष निवृत्तिमें है, प्रवृत्तिमें नहीं। प्रवृत्ति कोई पुण्यरूप होती और कोई पापरूप। इस प्रवृत्तिको छोड़नेका अवसर बनावे तब मोक्षका उपाय बने। ऐसा ज्ञान जिसके नहीं है, वह चाहे व्रत, तप और उपवास आदि कर ले, तो भी आत्माका ज्ञान न होनेसे निर्जरा नहीं होती।

यदि पर्यायपर दृष्टि जाती कि "हम मुनि हैं, त्यागी हैं, हमको संयमकी पालना करना चाहिये; इस पदके योग्य हमको ऐसा आचरण

करना चाहिये. यह हमारा कर्तव्य है क्योंकि मैं मुनि हूं अथवा त्यागी व्रती हूं तो यह श्रावक वा मुनिपद रूप पर्यायकी बुद्धिको लेकर एक प्रकारका सूक्ष्म मिथ्यात्व है। सूक्ष्म इसलिये कि वह संयम वगैरह बाहिरमें सम्यक्त्व वा मिथ्यात्वका परिचय देनेमें असमर्थ है, वह मिथ्या भावोंसे प्रेरित होकर किया गया है अथवा सम्यग् भावोंसे इसको दूसरा नहीं जान पाता, और यहाँ तक कि वह स्वयं इसे नहीं जान पाता। तो जहाँ केवल जाननहार देखनहारकी स्थिति है, अनेक परिणतियोंसे गुजरता हुआ अपने आपमें रहे वह ज्ञान सम्यक् है।

ये सारे दिखने वाले पदार्थ उतने ही जुदे है जितने एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त तिर्यञ्च वा मनुष्य वगैरह। जैसे—जगतके और जीव भिन्न हैं ऐसे ही ये और दूसरे जड़ पदार्थ भी। उनके परिणमनसे आपमें परिणमन नहीं, उसी तरह आपके परिणमनसे उनमें परिणमन नहीं। कोई किसीके काम नहीं आते। सब अपनी अपनी चेष्टाएँ करते हैं। पिता पुत्रसे सुख मानता है, पर पुत्रके जिन आचरणोंसे पिता को प्रसन्नता होती है, वे आचरण उसके अपनी इच्छाओंसे हैं, पिता व्यर्थ ही उन्हें अपनी इच्छाओंसे परिणत हुआ मानता। पुत्र तो अपने रागके अनुसार चेष्टाएँ करता। पिताको खुश रखकर हम सुखी रह सकेंगे, लोग हमको अच्छा समझते हैं, इसलिये पिताके प्रति हमें ऐसा कर्तव्य पालन करना चाहिये नहीं तो लोगोंमें प्रतिष्ठासे गिर जावेंगे। यदि पिताके अनुकूल न चलेंगे तो वह हमारे सुखमें बाधक बन जायगा, आदि आदि विचारोंसे पुत्र पिताके प्रति रागकी परिणति करता है। पिता जिसके कारण (अनुकूल चेष्टाओंसे) पुत्रसे अपनेको सुखी मानता है, उसकी ये बातें हैं। दुनियाँका यह नंगा स्वरूप है। जैसे गेहूँ के ढेरमें सब गेहूं न्यारे न्यारे हैं, कोई निर्गुण और कोई घुने सब अपनी २ परिणतिसे हैं। इसी तरह संसारके सब पदार्थोंका यही हाल है। लेकिन इसकी ठीक श्रद्धा न होनेसे अपने उपयोगको अपनेमें से

हटाकर बाहिर लगा दिया जाय यही तो भूल है और इसीका दुःख है। और यह भूल न रहे तो दुःख किस बातका है।

ज्ञानियोंका काम तो अपने सहज सिद्ध भगवानका ध्यान करना है। इसके सिवा और सब कामों को वे आपत्ति मानते हैं। धर्मका लक्षण जो वस्तुका स्वभाव है ज्ञानी उसीमें रहना चाहते हैं। यह बात तो ठीक ही है कि वस्तुका धर्म वस्तुमेंसे ही प्रगट होगा। और वह तब प्रगट होगा जब उसकी दृष्टि की जायगी। परमेंसे या परके संयोगज भावोंसे वह प्रगट न होगा। वस्तुतः राग राग ही है चाहे वह भगवद्-भक्ति, पूजा वा दान परोपकार आदि ही क्यों न हो। पर जिसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है उसके ऐसा ही राग होता है, उसके निश्छल और उत्कट राग होता है जिसके बदलेमें ऐहिक कुछ चाह नहीं होती। तो जिसे ज्ञानस्वभावकी रुचि होगई है उसे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु तथा इनके आश्रित आयतनोंका ही राग बनेगा। वहाँ भी जो ज्ञानवृत्ति है वह आत्मरक्षा है।

ज्ञान ही मोक्षका कारण है और सब बालचेष्टाएँ हैं। बालकोंकी चेष्टाओंमें जैसे धीरता, गम्भीरता और विवेक नहीं होता उसी तरह मिथ्याज्ञानियोंकी क्रियाएँ वस्तुतः विवेक और गम्भीरता रहित होतीं हैं, चाहे वे अपनेको कितना ही बुद्धिमान और कलाकार क्यों न समझते हों। जब तक जिसे अपने ज्ञानस्वभावकी परख नहीं आई तब तक उसे मोक्षमार्गमें बाल ही कहना चाहिये। ज्ञानदृष्टि आनेसे मोक्षमार्ग बनता। मोक्षमार्ग दुःखसे छूटनेका मार्ग है, क्योंकि दुःखोंसे छूटना और मोक्ष एक ही बात है।

यहाँ पुण्यपापका प्रकरण चल रहा है। तो पुण्य और पापके दो-दो भेद होते हैं—१. भावपुण्य और २. भावपाप, १. द्रव्यपुण्य और २. द्रव्यपाप। आत्माके साथ जो एक क्षेत्रावगाहरूप कर्म वर्गणाएँ हैं

तथा उनमें जो पुण्य वर्गणाएँ हैं उन्हें द्रव्यपुण्य कर्म कहते हैं, तथा जो पापवर्गणाएँ हैं उन्हें द्रव्यपापकर्म कहते हैं। और जिन शुभ भावोंसे द्रव्यपुण्य कर्म बंधता है, वह भावपुण्य कर्म है, तथा जिन अशुभ भावोंसे द्रव्य पापकर्म बंधता है उसे भाव पापकर्म कहते हैं। ये चारों कर्म पर्यायरूप हैं। इन पर्यायोंकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। परन्तु जिसकी ये पर्यायें हैं उसपर या उसके स्वभाव पर दृष्टि पहुंचानेसे होता है। वस्तुतः सब विकल्पोंसे अतीत स्वतःसिद्ध चैतन्यभावके ज्ञाता द्रष्टा होनेसे होता है।

कोईने मनुष्य देखा है ? ऐसा मनुष्य जिसमें कि पर्यायकी कोई दृष्टि न हो। कोई मनुष्यको त्यागी, ब्रह्मचारी या गृहस्थ रूपसे देखता, कोई ब्राह्मण, वैश्य आदि दृष्टिसे, कोई स्त्री रूपसे तो कोई पुरुष रूपसे, कोई बालक, युवा और और वृद्ध रूपसे तो कोई मूर्ख गँवार या विद्वान चतुर रूपसे। पर इन पर्यायोंको न देख सामान्य मनुष्य कोई नहीं देखता। यदि इनमेंसे एक-एक पर्याय वालेको मनुष्य कहें तो अनर्थ हो जायगा। यदि बालकको ही मनुष्य कहें, तो बालकपन खतम होनेपर जब वह व्यक्ति बालक न रहे मनुष्य ही समाप्त हो जावेगा अर्थात् उसकी युवा या वृद्ध अवस्था हो जाय तो उस समय उसको खतम हुआ समझना चाहिये ? लेकिन मनुष्य बालक नहीं रहा तो भी खतम तो नहीं हुआ। इसी तरह किसी एक दशा वाले को मनुष्य कहनेमें इस तरहकी बाधा आती है। यह दृष्टान्त है तमाम पदार्थोंके बारेमें इसी तरहकी बात है। पदार्थको कोई एक विशेषता वाला या अमुक पर्यायवान करना समझना सच्चा ज्ञान नहीं है। पर्यायोंके खतम हो जानेपर भी जो बना रहता है, उस मूल पदार्थका ज्ञान जिसकी कि अनन्त भिन्न २ प्रकारकी दशाएँ बनती रहती हैं। ज्ञानी उस सर्व पर्यायवान व पर्यायातीत सामान्यको देखता है जब कि अज्ञानी पर्यायकी केवल विशेषको देखता है।

तो ये चारों कर्म द्रव्यकी पर्यायें हैं। द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप कर्म तो पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें हैं तथा भावपुण्यकर्म और भावपापकर्म आत्मद्रव्यकी पर्यायें हैं। जब इन पर्यायके स्रोत पर दृष्टि जावे, और उसमें भी केवल निज आत्मापर दृष्टि आवे तब सम्यग्दर्शन होता है।

भावपुण्य और भावपाप किसे कहते हैं? मंद कषायरूप शुभ भावोंको भावपुण्य कहते हैं तथा तीव्र कषाय रूप अशुभ भावोंको भाव-पाप कहते हैं। ये भावकर्म किसमें बंधते हैं? आत्मामें। अभी भाव-पुण्य बन रहा है तो कुछ क्षण बाद भावपाप बनता है। अभी भावपाप बन रहा है तो कुछ क्षण बाद भावपुण्य, इस तरह ये चलते रहते हैं। और सूक्ष्मतासे विचारो तो भावपुण्य और भावपाप दोनों हमेशा एक ही समयमें बंधते हैं। लेकिन एक समयमें एक इसलिये कहा जाता कि एक समयमें एककी ही मुख्यता रहती है, दूसरा गौण होता है।

तो जिसके ये परिणमन हैं उसे देखें तो मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। इन समस्त विभाव पर्यायोंका अथवा शुद्ध दशामें शुद्ध पर्यायोंका मूल स्रोत आत्मा है जो कि चैतन्यस्वभावी है। यदि उस चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि दें तो न वह पुण्यरूप और न पापरूप किन्तु केवल चैतन्यरूप नजर आता। ज्ञान ज्ञानको जाने, तब सम्यग्ज्ञान होता। ऐसा विवेक से सम्भव होता। विवेककी हालत पानी जैसी है। पानी जैसे नीचेसे उठता और नीचे ही आता है। समुद्रसे भाप बनकर ऊपर जाता और बादल बनकर बरस कर नदियों और नदों द्वारा उसी समुद्रमें पहुँच जाता। विवेककी भी यही हालत है। बाह्य पदार्थोंका किन्तु आत्मासे उठा ज्ञान फिर उसी मूल स्रोतमें (आत्मामें) आजाता। तो जब यह ज्ञान बाह्य पदार्थोंमें लगा तब वह ज्ञान विवेक नहीं कहलाता और जब अपनेको जाने तब ज्ञान विवेक नाम पाता, सम्यग्ज्ञान बनता। भूतल पर जितने ये पर्यायके मोह और मायाके भाव बसाये हैं उन्हें जब खतम करे तब शान्ति मिल सकती है।

पुराने जमानेमें साधुका दर्शन कर कई व्यक्ति साधु बन जाया करते थे। जंगलमें दर्शन हों और वैराग्यके भाव हुए तो यहीं पर दीक्षा ले लेते थे, घर वालोंसे सलाह लेनेकी जरूरत न समझते थे। जब भावोंमें विवेक और निर्मलता आई तो देरी किस बातकी, घर वालोंको समझना और समझाना किस लिये? किन्तु ऐसी बात पर साधारण लोगोंको अचरज होता है कि ये सब अच्छे साधन छोड़ एकाएक इनको ऐसा करना कठिन था, लेकिन जिन्होंने अपना अनुभव नहीं किया उन्हीं के दिलोंमें ऐसा विचार आता, अनुभवशीलोंको नहीं। क्योंकि सुखका रूप और मार्ग साधु जीवनमें ही है, असाधु जीवनमें नहीं। असाधु अवस्थाके कारण ही फुटबालकी तरह लुढ़कना पड़ता है। अनन्त अनादिकाल से यही दशा हमारी हो रही है। इस ३४३ घनराजूके विशाल लोक प्राङ्गणमें अनन्तकालसे परिभ्रमण करते होगये पर शान्ति नहीं आई। वह आयेगी अपने ढङ्गसे शान्तिके ढङ्गसे, विवेक और अनुभूतिसे, अविवेक और बाह्य विकल्पोंसे वह कैसे आयेगा? कभी नहीं।

तो हमारा शरण वा मदद करने वाला है तो वह हमारा ज्ञान ही है। अथवा कहो वह ज्ञानवान स्वयं आत्मा, जिसमेंसे कि विकारी वा अविकारी परिणतियाँ निकला करतीं। अपने उपयोगको ऐसे किले में रखदो जहाँ आपदाओं का हमला न हो सके, वह किला है आत्म-दृष्टि। झंझट बाह्य पदार्थोंके विकल्पमें है, अन्यथा झंझट आपत्ति या दुःख कहाँ है? नहीं है। पुण्य बाह्य विकल्परूप है, उसको उपादेय क्यों मान बैठे? इसलिये कि वह मंदकषायके भावोंमें होता है और धर्म होता है कषाय रहित भावोंमें, और पाप तीव्र कषायमें होती तो मंदता आनेमें कुछ विशुद्ध परिणाम होते, संक्लेशता नहीं रहनेसे। सो उस विशुद्धतामें व्यक्तिको कुछ शान्तिका अनुभव होनेसे संतुष्टसा ही रहता और उसे धर्म भी मान लेता। किन्तु वह धर्म नहीं पापकी अपेक्षा

ग्राह्य अवश्य हैं, परन्तु धर्म नहीं संसारके दुखोंका छेदक नहीं। कभी २ ऐसा होता है कि मुख्य सड़कको भूल जानेपर—भटक जानेपर यदि सही रास्ता दिख जाय तो एक तरहका सन्तोष आजाता उसी तरह मोक्षमार्गसे भूले भटकों को भगवद्भक्ति आदि पुण्यकर्मसे एक तरहका सन्तोष आजाता, यद्यपि उस यथेष्ट मार्गसे अभी दूर है तो भी। भगवानकी मूर्तिके अवलम्बनसे, भगवानके स्वरूपाख्यानसे, हमें अपनी उस सही दिशाका ज्ञान हो सकता है, इसलिये इन पुण्यकार्योंकी उपादेयता है, मूर्ति और मन्दिर आवश्यक है। लेकिन इस रूपमें कि यदि हम इनको निमित्त बनाकर अपनेमें उस सत्पथको देखेंगे तो, तब भी अत्यन्ताभाव वाले निमित्तमात्र हैं।

जैसे सही रास्ता तो अपनी जगह पर पड़ी हुई है, न वह किसी को भुलावेमें रखती और न बलात् अपना ज्ञान कराती, यदि देखने वाला देखे तो उसका ज्ञान कर सकता है। और उस देखनेमें वह तथा प्रकाश आदि और बहुतसे पदार्थ निमित्त कहला सकते हैं, अन्यथा वे वस्तुतः निमित्तरूप भी न रहेंगे। ठीक यही हालत मन्दिर, मूर्ति, शास्त्र और गुरु दर्शन आदिकी है। यदि हम अपने मोहकी पलकको उघाड़ें और अपने रत्नत्रयरूप मोक्ष या मोक्षमार्गको देखें तो ये भगवानकी मूर्ति वगैरह निमित्त बन सकते हैं। हठात् हमारे लिये हमको ये कुछ नहीं कर सकते। तो सार बात यह कि पाप, पुण्यकी पर्याय दृष्टिको बदल कर आत्मापर दृष्टि लाना चाहिये, उपादानको अपना वास्तविक काम करने देना चाहिये। स्वभावमय शुद्धद्रव्यको अपने स्वभावमें ही रहने देना चाहिये। इसके लिये जो भी प्रयत्न करना पड़े सो करना चाहिये। अब उन चार प्रकारके कर्मोंमें से पुण्यका लक्षण कहते हैं—

सूत्र—सातादि विकल्पोभाव पुण्यम् ॥५॥

सातादिरूप विकल्पको भावपुण्य कहते हैं। ये भावपुण्य आत्माके

चारित्रगुणके विकार हैं। भावपुण्यकी उत्पत्ति चारित्रशक्तिसे होती है। जिस शक्तिसे इसकी उत्पत्ति होती है उसमें अभेद कर देना और उस शक्तिको द्रव्यमें अभेद करना इस शैलीसे जो अनुभव है वही सम्यग्दर्शन है। जीवने पर्यायें जानी पर इन पर्यायोंका मूल स्रोत कहाँ है सो मोही नहीं जान पाया। जैसे—कोई भूगोलका विद्यार्थी देश विदेशकी भौगोलिक स्थितिका जानकार होनेपर अपने गाँवके नाले से अपरिचित रहे, ठीक इसी तरहजीवकी गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि पर्यायोंका उनके रहनेके स्थान स्वर्ग नरकका, व्रतादिकी विधि वा विधानका महापुरुषों के आख्यानोंका अच्छा ज्ञान रखते हैं, उसका अच्छा उपदेश करते हैं, यहाँ तक कि द्रव्यानुयोगका मार्मिक विवेचन करते हैं पर उस अभेद आत्माको नहीं जान पाते तो यह खेदका विषय है। यह भावपुण्य परिणमन है। आत्माका ही है उसमें जो कर्मोदय है वह द्रव्यपुण्य है। इस ही द्रव्यपुण्यका अब वर्णन करते हैं—

सूत्र—तन्निमित्तभूतं कर्म द्रव्यपुण्यम् ॥ ६ ॥

द्रव्यपुण्य बलात् भावपुण्य नहीं बनाता। जो कर्म बाँधे हुए हैं वे अपना समय पाकर निकल रहे हैं, उनका तो काम इतना ही है पर वह द्रव्यपुण्य भावपुण्यमें निमित्त होता है। पुण्यके प्रकरणकी ही यह बात नहीं है, निमित्त जितने भी होते हैं उपादानसे पृथक ही होते हैं और उपादानमें उनका कुछ भी नहीं जाता। उन सातादि विकल्पोंका निमित्तभूत जो कर्म है वह द्रव्यपुण्य है। अब भावपापका वर्णन है—

असातादि विकल्पो भावपापम् ॥ ७ ॥

परिणामोंमें असाता आना सो भावपाप है और

तन्निमित्तभूतं कर्म द्रव्यपापम् ॥ ८ ॥

उसमें जो कर्मोदय निमित्तरूप हैं वह द्रव्यपाप हैं।

पापकर्मके भी दो भेद हैं—१ भावपाप और २ द्रव्यपाप। बंध जिसका हो रहा हो वैसा ही उदयमें आना चाहिये ऐसा नियम नहीं है जैसा उदयमें आरहा है वैसा ही बंध होना चाहिये यह भी नियम नहीं है। पुण्यका उदय हो और बंध पापका हो रहा हो और भाव पुण्यके हैं और उदय पापका हो। दोनों अलग २ हैं। कोई प्रतिष्ठित है, नेता है, पैसे वाला है, बलशाली है आदि ये सब पुण्यके उदय हैं, और यदि भाव पापके हों तो बध पापका पड़ रहा है। यहाँ तक कि चोर, वेश्या और कसाई के भी पुण्योदयकी सामग्री देखी जा सकती है, पर भाव पापके हैं, सो बंध पापका पड़ रहा है। कुछ पुण्योदय ऐसे भी हैं कि साथमें पाप बंध न भी हो, जैसे कोई पैसेवाला, प्रतिष्ठित वा विद्यावान हो लेकिन भाव उसके पापके ही हों ऐसी बात नहीं है। ऐसा भी होता कि परिणाम पुण्यके हों और उदय पापका हो। ध्यानमें लीन हों और घोर उपसर्ग आरहा हो ऐसा भी होता। श्री गजकुमार मुनिराज ध्यानमें लीन थे पर उनके श्वसुर के द्वारा सिर पर धधकती हुई अंगीठी जलाई जा रही थी, सुकुमार, सुकौशल और पांडव आदि अनेक महात्माओं के चरित्र इस बातके सबूत हैं, ये उपसर्ग तथा नाना तरहके रोग वियोग आदि पापके तीव्र उदय व उदीरणासे हुए लेकिन परिणाम पुण्य थे, पवित्र थे, निर्मल थे। तो पापके उदयमें भी पुण्य रह जाय और पुण्यके उदयमें पाप परिणाम रह जाएँ। संक्लेश परिणाम भावपाप और विशुद्ध परिणाम भावपुण्य है। संक्लेश परिणामोंका जो निमित्त भूतकर्म है वह द्रव्यपाप है और सातादि परिणामोंका जो निमित्तभूत कर्म है वह द्रव्यपुण्य है। अथवा द्रव्य और भाव दोनोंके दोनों एक कर्ममें ही लगाये जा सकते हैं।

कर्मत्व शक्तिर्वाभावः ।. ९ ॥

कर्मकी शक्ति (अनुभागकी) जो पड़ी है वह भावकर्म है, तथा कर्मरूप वर्गणाएँ द्रव्यकर्म हैं। इस प्रकारके ये कर्म एक ही तरहके हैं—

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाभेदात्सर्वं ह्येकम् ॥ १० ॥

वास्तवमें हेतु, स्वभाव, अनुभव वा आश्रयका भेद न होनेसे सभी कर्म (पुण्य वा पाप) एक ही हैं, समान ही हैं। किसीके पुण्यका उदय आया फूल गया, दूसरोंको तुच्छ समझने लगा, दूसरोंको दुःख देने लगा, पाप और दुर्व्यसनों में फँस गया। इस तरह जब पाप बढ़ गया तो मरकर नरक गया, तो पुण्य अच्छा है यह कैसे कहलाया? तथा पुण्य भी आत्माका स्वभाव रोकता है। संसारको प्राप्त कराता है और पाप भी यही काम करता है। इन दोनोंसे संसारमें रुलता रहता है। आत्माका स्वभाव जाननेका है, आनन्दरूप है, शक्तिरूप है, किन्तु कर्म मलसे ढका हुआ है। उनसे एकमेक हो रहा है, इसलिये यह आत्मा अपने स्वभावका विकास नहीं कर पाता। यद्यपि ये गुण आत्मा के जो हैं वे उसीके आधीन हैं और इनका विकास होना भी इनके आधीन है, पर इनका विकास नहीं होनेमें निमित्त कर्मका है। ऐसा चाहे वह पुण्य हो और चाहे पाप सभी संसारमें रुलानेवाले हैं। पुण्यके उदय वालोंको प्रगट देख लो कितनी चिन्ताओंमें और आकुलताओंमें पड़े रहते। पैसा वालोंको अब सरकारकी तरफसे भी कई तरहके टैक्सोंसे बेचैनी होने लगी है। ५० हजारसे अधिक सम्पत्ति वालेको मृत्यु टैक्स चालू हुआ है। उससे अधिक पैसे वालोंको इसकी चिन्ता लग गई होगी कि हाय कितनी तृष्णा, परिश्रम और आशासे कमाया हुआ धन मरनेके बाद अमुक अंश टैक्सके रूपमें सरकारमें चला जावेगा। गरीब को एक तरहकी चिन्ता है तो धनीको दूसरे तरहकी। बल्कि गरीबोंसे अधिक, क्योंकि अधिक भार सिर पर जो उठा रहे हैं इसलिये। तो बताओ पुण्यने कौनसा अच्छा किया?

एक वैश्य ने ब्राह्मणीके घर उसके एक लड़केका निमन्त्रण करनेका विचार किया, वह ब्राह्मणी के घर गया और पूछा कि आपके कितने लड़के हैं? ब्राह्मणी ने बतलाया कि ३ लड़के हैं। उसने कहा सबसे

छोटे लड़केका निमन्त्रण है (छोटे लड़केके लिये उसने इसलिये कहा कि यह कम खायेगा) ब्राह्मणी बोली—भाई, छोटेका करो या मझले का या बड़ेका, ये सबके सब सेरी हैं। (सेर भर भोजन करनेवाले हैं) तो ये कर्म वे पुण्यरूप हों अथवा पापरूप दोनोंके दोनों आत्मस्वरूपको ढकनेवाले वा संसारके कारण हैं। किसीके अधिक लड़के हैं तो उनमें अक्सर मन मुटाव हो ही जाता है, झगड़ा भी हो जाते तो इससे पिता को क्या चैन मिलती होगी ? पुत्र कोई ऐसा भी निकल जाता कि पिता की हत्या तक कर डालता। तो पुण्यके उदयके ये सुख हैं जिन्हें आप सुख कहलो या आपत्ति। पुण्य हो या पाप दोनोंके दोनों आत्माको दुःखी करते हैं।

पापकर्म को डाकू कहलो और पुण्यको ठग, दोनों हैं, सम्पत्तिका हरण करनेवाले हैं, पुण्य और पाप दोनों आत्माकी सम्पत्तिके लुटेरे हैं। बल्कि पुण्य तो अधिक खतरनाक है। पापका उदय तो प्रगट होकर आता, उससें संभलनेकी प्रगट चेतावनी रहती है, उसमें आस्तिकताकी ओर ध्यान जाता, भगवानके भजनके भाव होते। परन्तु पुण्यका उदय तो अकसर चकाचौंधया देता है जिससे अच्छा बुरा देखनेमें असमर्थ होता, पुण्यके ठाठमें इतना गुमराह होता कि कभी कभी असद्वृत्तियों के करनेमें एकदम निर्भय होजाता है। यह मीठा ठग है, कुछ लोभ देकर सरलतासे आत्माको ठगता रहता है। तो पुण्य भी आत्मस्वभाव को ढकता है, वह बन्धका ही कारण है। पुण्यके उदयसे मिले इष्ट संयोगमें वह निरन्तर उलझा रहता है। आकुलताका अनुभव पुण्य और पाप दोनोंमें है। पुण्यके उदयमें प्राणी प्रायः जो उद्दण्ड प्रवृत्ति करता रहता है, उसका फल दुर्गति ही है। वर्तमानमें पुण्य नहीं करके केवल पूर्व पुण्यका उपभोग करने वाले नरकमें पड़ते, निगोदमें जाते अथवा कीड़े मकोड़े वा दीन हीन अनाथ, पशु-पक्षी और मनुष्य होते। उनकी दयनीय दशा देखकर रोंगटे खड़े होते। एक कवि ने कहा है कि

"यौवनं धन सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता । एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥" अर्थात्—युवावस्था, धनसम्पत्ति, प्रतिष्ठा और ज्ञान-हीनता इनमेंसे एक एक महान अनर्थके कारण हैं फिर यदि चारों एक जगह मिल जावें तो अनर्थका कहना ही क्या है। चारों बातें जहाँ एक साथ जुट जावें वहाँ तो अनर्थ होंगे ही होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

राम पुण्यके उदयसे बलभद्र पदके धारी महापुरुष राजकुलमें उत्पन्न हुए, लेकिन गृहस्थाश्रमके राज्याभिषेकसे लेकर साधु होनेकी पूर्व अवस्था तक आपत्तियोंका ही सामना करते रहे। शामको सारी अयोध्यामें बड़ी सजावट और उमंगकी लहर लहरा रही है कि प्रातःकाल राज्याभिषेक होगा, लेकिन प्रातः होते ही बनवासकेलिये पैदल ही साधारण आदमियों के जैसा राजमहलोंसे जंगलकी ओर रवाना होना पड़ा, पिता माता, भाई वा प्रिय पुरवासियोंको विलखते हुए छोड़कर। वनवासके दुःखोंका कहना ही क्या; भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी, आवास और एकान्तवासकी तकलीफें एक राजपुत्रके लिये किस तरह हो सकती है सो वह भुगतने वाला ही जान सकता है। इसी बीचमें महासती सीताका वियोग हो जाना. रावणसे युद्ध छिड़ना, लक्ष्मणको शक्ति लगना, लंका विजय करने के कुछ वर्षों बाद ही सीता जो कि अर्धाङ्गके समान प्राणप्रिया थी जिसके वियोगमें पागलसे होगये थे और वृक्षोंसे उसकी खबर पूछते फिरते थे। उसे न चाहते हुए भी जंगलमें छुड़वा देना। सीताकी अग्नि परीक्षाके बाद सीताका सतीत्व संसारमें प्रगट हो जानेपर जब सीताको राम हर मूल्य चुकाकर राजमहलों में स्थान देना चाहते हैं लेकिन सीता का राककी मूर्च्छित अवस्था छोड़कर दीक्षित होजाना और फिर अन्तमें अत्यन्त प्रिय सहोदर लक्ष्मणका मरण हो जाना, रामके लिये कितनी कष्टप्रद घटनाएँ थीं। उनके पीछे आपत्तियोंका तांता तब तक चलता ही रहा जब तक कि साधुपदमें नहीं पहुँचे। एक महान पुण्यसे मिले बलभद्र पदमें प्रतिष्ठित व्यक्तिके ये सुख हैं। नारायण वन्दीगृहमें जन्मे

छुपे रुस्तम ग्वालेके यहाँ पले पुषे और अन्त समयमें धधकती हुई द्वारकामें अपने माता पिताको छोड़कर जंगलके रास्ते भागना पड़ा, जंगलमें प्यासे भाईके ही बाणसे आहत हो मृत्युकी गोदमें सो जाते हैं। इसी तरह पांडवोंको बचपनसे ही कौरवोंके सङ्घर्षों और प्रपञ्चोंका शिकार बनना पड़ा। जीवनका बहुभाग इसी सङ्घर्ष और द्रोहमें बीता। और यहाँ तक कि अत्यन्त निरपेक्ष होनेपर भी ध्यानमें लीन दिगम्बर दशामें भी जलते हुए लोहेके आभूषणोंका आलिंगन न करना पड़ा। किन किन का उदाहरण दिया जाय, पुराणोंमें तो कुछ का ही नाम आचार्य दे सके हैं वे उदाहरण भी सैकड़ोंकी तादादमें हैं जो पुण्यके उदयको दुःखदायी सिद्ध करते हैं, और यदि विवेकसे विचारें तो हमारे जीवनके अनुभवमें भी पुण्य दुःखदायी ही है यह सभीको स्वयं स्पष्ट नजर आवेगा।

गुलाबका फूल ज्यादा सताया जाता, उसको तोड़कर कच्चा भी लोग खा जाया करते हैं क्योंकि उसे अन्य फूलोंसे अधिक पुण्य मिला है। उसकी बनावट, रूप, सुगन्धि और फूलोंसे विशेष है, इसीलिये वह आपत्तिमें अधिक पड़ता। जो फूल दुर्गन्धित और विरूप हैं उन्हें कोई तकलीफ नहीं देता। ये हैं पुण्यके ठाट। तो दोनोंके हेतु, स्वभाव, अनुभव और आस्रव एकसे हैं। संसारमें रुलाते दोनों हैं। इसलिये पुण्य और पाप दोनोंको एकसा संसार वा दुःखका कारण जान आत्म-स्वभावमें लीन होजाना चाहिये। कर्म और उनके फलोंसे रहित चैतन्य स्वभावमें रम जाना चाहिये। चञ्चल मनको शरीर परिवार और धनादि के विकल्पोंमें भटकता है सो उसे समझाओ कि उनके विकल्पोंमें घूमकर क्या पालेंगे? इनके फेरमें पछतावा केवल हाथ रहता है। अनन्त कर्मों का बंध करके अनन्त संसारमें रुलना पड़ता।

सूत्र—विकारास्रवण मास्रवः ॥ ११ ॥

अर्थात् विकारके आनेको आस्रव कहते हैं। शांत अवस्थासे च्युत होकर जो विभावरूप परिणमना है वह भाव कर्मास्रव है। और

कार्माणवर्गणाएँ जो कर्मत्वशक्ति रूप होतीं वह द्रव्यकर्मास्रव है। आत्मा पर कर्मका ऐसा कूड़ा करकट जमा है जिससे अपना अनुभव नहीं हो पाता। जगतके पदार्थ तो सम्बन्ध नहीं जोड़ते परन्तु आत्मा उनके साथ सम्बन्ध जोड़ता है। मोही आत्मा असंख्य पदार्थों से अपना सम्बन्ध जोड़ता रहता है। विकारोंका आना ही आस्रव है, जो भावास्रवके नाम से कहा जाता यही दुःखदाई है। द्रव्यास्रव तो परद्रव्यका है, वह आत्मा का क्या बिगाड़ सकता यदि आत्मा स्वयं विकारी न हो। लोकमें एक कहावत है कि, "अपना दाम खोटा तो परायेको क्या दोष दें।" आत्माके संसारीपनमें ठीक यही बात लागू करता। अब संक्षेपमें बंध का स्वरूप कहते हैं—

सूत्र—स्वभावच्युतिर्बंधः ॥ १२ ॥

स्वभावसे च्युत होजाने का नाम बंध है जिस समयमें कर्म बंधता है उस समयमें आत्मा और पुद्गल अपने स्वभावसे च्युत हो जाते हैं। गृहस्थी परिवार आदिका बन्धन बन्धन नहीं बन्धन तो अपने स्वभावसे च्युत होकर विकारोंमें बंधनेका है। राजा जनकके पास एक आदमी जाता है और पूछता है महाराज मुझे गृहस्थीके बन्धनसे छूटने का उपाय बताइये। राजा जनक एक खम्भेको दोनों हाथोंसे जकड़ कर कहते कि तुम इस बन्धनसे छुड़ादो तो मैं तुम्हें भी बन्धनसे छूटनेका उपाय बतलाऊँ। गृहस्थी कहता है महाराज आपने स्वयं जकड़ रखा है खम्भेको छोड़ दो तो बन्धन मुक्त हो। जनक कहते हैं बस तुम्हारा भी यही हाल है गृहस्थीके बन्धनमें तुम स्वय पड़े हो चाहो तो छोड़दो। यही हालत सब संसारियोंकी है, ससारी स्वयं मोह-मूर्च्छा में पड़े हुए हैं। कर्म तुम्हें नहीं पकड़े है और तुम भी उन्हें नहीं पकड़े हो।

जैसे कोई एक पहिलवान तेल लगाकर धूल भरे अखाड़ेमें व्यायाम करता है तो उसके शरीरमें धूल चिपक जाती जब कि दूसरा पहिलवान

जो तैल नहीं लगाये है धूल नहीं लगती। तो धूल चिपकनेका कारण स्नेह अर्थात् तैल है, न कि शरीरकी क्रिया या धूल आदि। इसी तरह संसारी प्राणी भी स्नेह याने रागसे कर्मोंको बांधते, कार्माण वर्गणाएँ स्वयं नहीं बंधतीं न और दूसरे बाहिरी पदार्थ कर्म बन्धन कराते केवल मोह या स्नेह भावकी बंधका कारण है। कार्माण वर्गणाएँ तो सिद्ध स्थानमें भी हैं लेकिन सिद्धोंके उनका बंध नहीं होता मन वचनकायका योग भी आस्रवका कारण नहीं योगिराज ईर्यासमितिसे चलते हैं वहाँ योगोंकी प्रवृत्ति है कदाचित् सूक्ष्म प्राणीवध भी हो जाता पर उन्हें उस हिंसाका बन्ध नहीं होता। रागमें उपयोग बनाना, मिथ्या वासना करना यही परतन्त्रताका कारण है। दूसरा कोई परतन्त्र नहीं बनाता। आत्मामें जो मोह और रागद्वेषकी परिणति है वह दुःखदाई होरही है। आत्माको बरबाद करनेवाले आत्माके विकार हैं अन्य कोई नहीं। ज्ञानी के आस्रव और बंधभाव नहीं होता क्योंकि संसारके पदार्थोंसे उसकी उपेक्षा होगई है। आत्मामें राग होजाय पर रागमें राग नहीं करता अर्थात् रागको अच्छा नहीं समझता, उसे पोषता नहीं, उसे हेय समझता और उससे छूटनेके लिये यत्न करता रहता। रागमें राग करने का नाम मोह है। उसी तरह द्वेषमें राग करनेका नाम भी मोह है। जब कि ज्ञानी द्वेष से द्वेष करता है, उसे हेय समझता है तब अज्ञानी द्वेषको पालता है, उससे अपना अहङ्कार पुष्ट करना चाहता है। जब कि ज्ञानी द्वेषके प्रति राग परिणाम छोड़नेका परिणाम रखता। राग अज्ञानी और ज्ञानी दोनों के हैं अन्तर इतना ही है कि एक हटाना चाहता है दूसरा रखना चाहता है।

अज्ञानीकी वृत्ति श्वानवृत्ति है। कुत्ता सेवा करता ड्यूटी पूरी बजाता लेकिन उसमें सच्ची समझ नहीं। कोई लाठी मारे तो उस लाठीको चाबता है निमित्तको पकड़ता है जब कि शेर सीधा आक्रान्ता पर धावा करता है। उसको इतना ज्ञान है कि हमारे पर आक्रमण

करने वाला वह बन्दूक लाठी आदि नहीं किन्तु यह बधिक है। यही कारण है कि कुत्तेको उपमा देने पर गुस्सा आता और शेरकी उपमा मिलने पर खुशी होती। तो अज्ञानीकी प्रवृत्ति श्वानवृत्तिकी है। जिन पदार्थोंके सयोगसे सुख दुःख होता अज्ञानी उन्हें अपने सुख-दुःखका कारण मानता, पर ज्ञानी जानता है कि सुख और दुःखके कारण मेरे परिणाम ही हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि आस्रवबंधका स्वामी वा अधिकारी नहीं होता। वह तो सँवर और निर्जराका ही अधिकारी है। हमको संवर और निर्जराका ही अधिकारी बनना चाहिये न कि आस्रव बंधका। क्योंकि आस्रव और बध ही हमको रुलाते हैं, भटकाते हैं, शक्ति, ज्ञान और आनन्दको आवृत करते हैं। यदि सुख और शक्तियोंका विकास चाहते हो तो सम्यग्दृष्टि बनो।

जगतके प्राणी बन्धन नहीं चाहते, मनुष्य ही नहीं चाहते हैं ऐसी बात नहीं है पर पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े आदि भी बन्धन में रहना पसन्द नहीं करते। एक पदार्थका स्वरूप दूसरे पदार्थमें नहीं जाता, अतः आत्मा बाह्य पदार्थोंसे नहीं बंधा है। इसलिये कहा है— 'स्वभावच्युतिबधः' आत्मस्वभावसे च्युत होजाना ही बध है। इसमें जो चीज निमित्त होती है उसे भी बंध नामसे कह देते है। अशुद्ध निश्चय-नय से विकारोंका ही बन्धन है। और परम शुद्ध निश्चयनयमें तो बन्ध ही नहीं है। आत्माका स्वभाव परपरिणतिसे रहित है, अपनी परिणति रूप है किन्तु जब परकी कल्पनाएँ करने लगता तब दुःख होता। मैं दूसरोंको मारता हूं, जिलाता हू, दुःखी करता, सुखी करता, पालता, पोषता आदि परकर्तृत्वके भाव तथा मैं इसके आधीन हूँ, यह मेरे आधीन है, यह पदार्थ मेरे कब्जेमें है आदि परस्वामित्वके भाव कर्मबंध के कारण होते। कोई प्राणी न किसीको सुखी करता न दुःखी। न मारता न जिलाता। न किसीका अच्छा कर सकता और न बुरा। पर ऐसा अहङ्कार करके सुभटपना दिखलाता है। दुःख कर्तृत्वका है जो

मिथ्या अहङ्कार करता है। सम्यक्ज्ञानका यत्न करनेसे ये खोटी कल्पनाएँ मिटेंगी। प्राणी अपने परिणमनसे सुखी और दुःखी होता है। उसमें निमित्तको देखा जाय तो कर्म है। वह कर्म दूसरेके द्वारा उपार्जित नहीं होता, अपने ही द्वारा उपार्जित है और उसका फल भी अपनेको ही भोगना पड़ता है। जीवको जब मोह व रागद्वेष का उदय होता है तब सुख दुःखकी कल्पनाएँ करने लगता है। मिथ्या कल्पनाओंपर विजय करने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्ज्ञानकी वृत्तिको सिंहवृत्ति कहते हैं। और मिथ्याज्ञानकी वृत्तिको श्वानवृत्ति कहते हैं। सिंह भयानक और हिंसक जानवर है, तथा अनुपकारी भी है। और कुत्ता स्वामिभक्त आज्ञाकारी और उपकारी जानवर है, रोटीके कुछ टुकड़ों पर ही स्वामीकी आज्ञाका पालन करता है, रात-दिन रखवाली करता है। पर किसी आदमीको यदि कुत्तेकी उपमा दी जाय तो वह खुश न होकर बुरा ही मानेगा, और यदि शेरकी उपमा दीजाय तो खुश होगा। क्या कारण है कि उपकारी जानवरकी उपमा नहीं सुहाती और अनुपकारी शेरकी उपमा सुहाती है? सिंहकी उपमा सुहानेका कारण है कि वह अपने पर वार करनेवाले पर सीधा आक्रमण करता है, उस बन्दूक, तलवार आदि पर नहीं जिसके द्वारा बधिक उसे मारता है, उसे विवेक है। किन्तु श्वान उस लाठीको चाबता जिसके द्वारा पुरुष उसे पीटता। उसको ऐसा समझ पड़ता कि मेरी घातक यह लाठी है। मूलका उसे पता नहीं होता। तथा सिंह स्वतन्त्र वीरवृत्तिका पशु होनेसे भी उसकी उपमा अच्छी लगती जब कि कुत्ता कुछ टुकड़ों के लोभमें अपनी स्वतन्त्र वृत्तिको खोये रहता है और चाटुकारितामें पड़ा रहता है। जिस किसी ने भी रोटीका टुकड़ा खिलाया कि उसके सामने पूछ हिलाने लगा और उसकी ड्यूटी बजाने लगा। सम्यग्दृष्टि में सिंहके ये दोनों गुण उत्तम रूपमें मौजूद रहते हैं। ज्ञानी निमित्त पर दृष्टि न दे उपादान पर अपनी दृष्टि रखता है। तथा

पुण्यकर्मकी सुख सामग्रीमें वह अपनी स्वतन्त्रता नहीं खो देता, शुभ कर्मकी सम्हाल करनेकी चाटुकारिता उसे स्वप्नमें भी पसन्द नहीं है। उसे अपने अनन्त वीर्यगुण पर और अनन्त ज्ञान धन पर अटूट विश्वास होता है। वह पुद्गलकी परतन्त्रताको किसी भी हालतमें किसी भी प्रलोभनपर स्वीकार नहीं करता। सम्यग्दृष्टि ऐसा शेर दिल व्यक्ति होता है। कर्मको पछाड़नेके लिये यह गुण होना परम आवश्यक है, जो कि मिथ्या दृष्टियोंमें कभी भी नहीं पाया जा सकता।

सम्यग्दृष्टि समझता है कि दूसरे पदार्थ हमको सुख दुःख नहीं करते, कर्म तो निमित्त मात्र हैं उसके मूल उपादान तो हम स्वयं ही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अपने मोह भावको नष्ट किये बिना दुःख या विपदा दूर नहीं हो सकती। जिन्हें कर्मका बन्धन नहीं सुहाता, उस बन्धनसे जो मुक्त होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि अपनी अवस्थाओंका उत्तरदायी अपनेको ही समझें और बाह्यदृष्टि छोड़ें। अपनी दशाओंका उत्तरदायित्व किसी अन्य पर न थोपे। मात्र स्वकर्तृत्वकी वृत्ति आनेपर उस कल्पनासे रहित होनेका भी कोई अवसर आजाता है, जिससे कि निर्बाध, अक्षय सुखकी अवस्थाको पालेता है। व्यवहारका जीवन प्राणी का अपनी आयुसे है दूसरे किसीसे नहीं। आयु कर्मके उदयकी परिणति दूसरा कोई कर देता हो सो भी बात नहीं है। गरीब किसानोंके बच्चे जमीनपर खेलते, सादा भोजन पाते फिर भी तकड़े होते। लेकिन धनी का बच्चा गोदीमें रहता, अनेक फलके रसोंका पान करता भी बीमार पड़ता। मरणके विषयमें भी यही बात है। आयुके क्षय होनेसे मरण होता—जीवका शरीरसे संयोग छूटता। कोई दूसरा किसी को मारने वाला नहीं है। उदीरणा मरण भी उस जीवके स्वयं संक्लेश परिणामोंको उदीरणाके कारण है न कि दूसरेके शस्त्र, विष आदि प्रयोगके कारण। उपचरितोपचरित निमित्त बाह्य विषशास्त्रादिको भी करलें लेकिन उपादान अपने संक्लिष्ट परिणाम और निमित्त आयुकर्मकी उदीरणा है। तो

कोई न किसीको सुखी दुःखी करता और न जीवन मरण करता। सम्यक्ज्ञान द्वारा जब शरीरसे भिन्न अपनी आत्माका भान होता तब क्रमशः भेदविकल्पका भी तिरोभाव होने लगता तब कर्मबन्धन, विकार बन्धन वा दुःखोंका अन्त होजाता है। वस्तुका ऐसा यथार्थ स्वरूप है कि कोई आत्मा किसीका जीवन मरण वा सुख दुःख आदि नहीं करता, ऐसी प्रतीति पूर्वक जो ज्ञान है वह सम्यक्ज्ञान है, और इससे उल्टा मिथ्याज्ञान है। पापके कार्योंका ही कर्तृत्वभाव मिथ्याज्ञान नहीं है पुण्य कार्योंका कर्तृत्वभाव भी मिथ्याज्ञान है। मैं व्रत पालता हूं, श्रावक वा मुनिपदके योग्य क्रिया करता हूं, शील पालता हूं, भगवान की पूजा करता हूं, इत्यादि कल्पनाएँ अथवा इन कार्यों को हितरूप मानना, पर्यायकी दृष्टि है और पर्यायकी दृष्टि मिथ्याज्ञान है, जो कि बन्धका कारण है। सो इस पर्याय बुद्धिको छोड़ हमको अपने ज्ञान और आनन्द स्वभावी आत्माका अनुभव करनेकी प्रतीति और चेष्टा करना चाहिये। इस प्रतीतिके बाद जब तक संक्रान्ति है परमात्मा व निजात्मा की भक्ति होगी।

लोकमें अशुभ उपयोगको विशेष बन्धन माना जाता क्योंकि पाप से एकाएक स्वभावकी दृष्टि नहीं आती। धर्मभावकी उपलब्धिके समय पुण्य बीचमें आता ही है। इसका ख्याल करके पापको अपेक्षा पुण्यको अच्छा कह देते हैं। पर बन्धनकी दृष्टिसे दोनों एक हैं। पुण्यमें यदि थोड़ी भी उपादेय बुद्धि रहेगी तो वह मोक्षमार्गकी—सम्यग्ज्ञानकी बाधिका ही होगी। तो जिन्हें विकारका बन्धन पसन्द नहीं है उन्हें मोह और क्षोभ (राग-द्वेष) को छोड़ना चाहिये। जगतके पदार्थ हमारे बन्धके कारण नहीं हैं और न बन्ध रूप हैं। हमारेमें जब राग आदिका निर्माण होता तो वह जिसके आश्रयसे होता है उसे भी बन्धका कारण कह देते हैं। यहाँ शङ्का हो सकती है कि तब बाह्य परिग्रह आदिका त्याग किसलिये किया जाता है? तो उत्तर है कि बाह्य वस्तुके विचार

को आश्रयपना न रहे इसलिये त्याग होता है। अथवा अन्तरंगमें उतनी मूर्च्छा के घटने पर उतने अंशमें बाह्य परिग्रहका त्याग होगा ही होगा। उसको ठीक तरहसे कहें तो यह कहना चाहिये कि परिग्रहका त्याग करते नहीं हैं हो जाता है, मूर्च्छा हटने पर परिग्रहकी सम्भाल कौन करे।

वस्तुतः हमारा अध्यवसान ही परिग्रह है, बन्ध है व बन्धका कारण है। जीव जब हिंसा क्रियाके भावको करता है तब यह हिंसक होता। इसी तरह जब जब जैसी २ क्रियाके भावको करता है तब तब उस २ अध्यवसानका कर्ता बनता है। और जब नर नरक आदि पर्याय का अध्यवसान करता, उन परिणामोंमें भी यह मैं हूं इस प्रकारके संस्कारमें वह मनुष्य नारकी और देव वगैरह है। अनेक ज्ञेयों को निमित्त बनाकर जिस समय जैसा विकल्प करता है वे सब रागादि अध्यवसानभाव हमारे बन्धके कारण हैं, सबका मूल मोह है। हमको हमारे शरीरका और उसके निमित्तसे गृहस्थीके अध्यवसान भावोंका बड़ा बन्धन है। केवल गृहस्थीका जो बन्धन कहते सो उनका वह कहना ठीक नहीं। गृहस्थीमें हमारी जो मूर्च्छा है वह बन्धन है, यदि हम गृहस्थीके चेतन अचेतन पदार्थों से मोह हटालें तो इसमें हमें वे क्या बाधा दे सकते हैं? चारित्र पालनेकी बात आगे है यहाँ तो केवल अहङ्कार और ममकार रूप मिथ्या वासनाको हटानेकी बात कही जा रही है। श्री कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—

रत्तोबंधदिकम्मं मुंचदि जीवो बिरागसम्पत्तो। एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥ जो राग करेगा वह कर्मों से बंधेगा, और जो रागको छोड़ेगा वह कर्मों से छूटेगा। यहाँ पर कर्म निमित्तक बन्धकी बात निमित्त नैमित्तिक व्यवस्थाके आधार पर कही गई है। कर्म सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन आगममें इसलिये है कि लोग समझ जावें कि निमित्त नैमित्तिक भावकी व्यवस्था ऐसी है। उस व्यवस्थाको जानकर प्राणी

अपने स्वतन्त्र स्वरूपको समझलें। यह भी जानलें कि ये रागादिक क्रियाएँ मेरे स्वभावसे नहीं हैं। ये परके संयोगसे हैं, मेरी क्रिया तो चैतन्य रूप ही है। जड़ क्रियाएँ मेरी नहीं हैं। लेकिन आत्माकी योग्यताके अनुसार उपाधिजन्य ये भी क्रियाएँ होती हैं। वैभाविकी शक्ति की परिणतिकी ये क्रियाएँ हैं। इस तरह भेदज्ञान पूर्वक अपने स्वरूपको पहिचानना बन्धन से छूटने का उपाय है।

बस, बन्धनसे छूटनेके लिये हमें स्वभावका अवलम्बन लेना चाहिये, जिससे कि सारी विपदाएँ दूर हो सकती हैं। इस तथ्यको न समझ जो व्यर्थ ही अपनी शक्तियोंका ह्रास करते रहते हैं, उपयोगको भटकाया करते हैं, वे अन्धकार हैं, दुःखके गड्ढेमें हैं। मानवजीवन और उसमें भी मोक्षमार्गका अवलम्बन हमारे लिये सच्चा प्रकाश है, दुःखके गड्ढेसे निकलनेके लिये दृढ़ रज्जू है। जिसके अवलम्बनसे हम स्वभावके उस सतहपर उस प्रकाशमें आते हैं जहाँ कि हमें हमारा सब कुछ मिल जाता है। थोड़ा सा विवेक और प्रयत्न हो कि अनन्त सुख और शक्ति हमारे में ही मिल जाती हैं।

अब उक्त आस्रव और बंधके प्रकार कहते हैं—

सूत्र—तावपि द्विविधौ ॥ १३ ॥

वे दोनों अर्थात् आस्रव और बन्ध दो-दो प्रकारके हैं—

सूत्र—भावद्रव्याभ्यां जीवाजीवाभ्यां वा ॥ १४ ॥

१-भावास्रव, २-द्रव्यास्रव अथवा जीवास्रव और अजीवास्रव। इसी प्रकार बन्ध भी दो प्रकार का है १-भावबन्ध, २-द्रव्यबन्ध अथवा जीवबन्ध और अजीवबन्ध। उपयोग भूमिमें विभाव आना व बंधना भावास्रव व भावबन्ध है और द्रव्यकर्म में कर्मत्वका आना व ठहरना द्रव्यास्रव व द्रव्यबन्ध है।

अब उक्त तीनों अर्थात् पुण्यपाप, आस्रव व बन्ध के अन्य प्रकारसे भेद कहते हैं—

सूत्र—तत्त्रयं विकार्यविकारकोभय मास्राव्यास्रावकोभयं बन्ध्यबन्धकोभयं च ॥ १५ ॥

पुण्यपाप तो विकार्य विकारकका उभय, आस्रव आस्राव्य आस्रावकका उभय तथा बंध बंध्य बंधकका उभय, इस तरह तीनों दो-दो प्रकारके हैं। जो भावकर्म वा द्रव्यकर्म विकारी होनेके उन्मुख हो उसे विकार्य कहते हैं और जो भाव वा द्रव्यकर्म विकार्य कर्मका कारण हो उसे विकारक भाव वा विकारक द्रव्य आदि कहते हैं।

अशुद्ध निश्चयनयसे पूर्व क्षणवर्ती विकारी भाव विकारक है तो उत्तर क्षणवर्ती वह भाव विकार्य है जो विकारी होनेके योग्य है। इसी तरह वह कर्म विकार्य है जो कर्म होने के योग्य है (ऐसी कार्माण वर्गणाएँ) और जो कर्म आगे दूसरी कर्मवर्गणाओंको कर्मरूप बनाने के कारण हैं उन्हें विकारक कर्म कहते हैं। अथवा व्यवहारसे जो भावकर्म द्रव्यकर्म बनानेमें कारण हैं वे विकारक भावकर्म हैं. और जो उदय उदीरणा अवस्थावाले द्रव्यकर्म भावकर्म होने में निमित्त हैं वे विकारक द्रव्यकर्म हैं।

व्यवहारनयसे विभाव विकारमें निमित्तभूत द्रव्यकर्म विकारक है और विभाव विकार्य है। तथा द्रव्यकर्मके विकारमें बन्धनमें निमित्तभूत उदित भावकर्म विकारक है और द्रव्यकर्म विकार्य है। जीव और अजीव रूप विकार्य तथा जीव व अजीव रूप विकारक पुण्य व पापके भेदसे दो-दो प्रकारके हुए। इसी प्रकार आस्राव्य विभाव है तो आस्रावक उदित द्रव्यकर्म है। और आस्राव्य नवीन द्रव्यकर्म है यब आस्रावक वर्तमान विभाव है। इसी प्रकार बंध्य विभाव है तो बन्धक विभाव है।

देखो तो दोनोंका संयोग कि एक दूसरे के विकार होनेमें निमित्त बनते हैं। इन दोनोंका ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इन चारों तरहके भावोंकी दृष्टि गौण करके हम द्रव्यदृष्टि करें तब चैतन्य प्रतिभास होगा। पर्यायों पर दृष्टि न दें तो बहुत ही जल्दी द्रव्यका देखना होगा।

१–विकार्य भावपुण्य, २–विकारक भावपाप। १–विकार्य द्रव्यपुण्य, २–विकारक द्रव्यपाप। १–आस्राव्य भावास्रव, २–आस्रावक भावास्रव। १–आस्राव्य द्रव्यास्रव और २–आस्रावक द्रव्यास्रव। इन सबमें जो भाव द्रव्यकर्मके पुण्यरूप पापरूप आस्रवमें कारण होता वह विकारक हैं और जो कर्म होने योग्य कार्माणवर्गणाएँ हैं वे विकार्य हैं और जो कर्म भावकर्म बननेमें निमित्त हैं वे विकारक द्रव्यकर्म हैं और वे होनेवाले भाव विकार्य भावकर्म हैं। ऐसा ही भेद आस्राव्य और आस्रावकका समझना। अब यहाँ विचारो कि कर्मका आस्रव जीवसे उत्पन्न हुआ या अजीवसे ? तथा भावका आस्रव अजीवसे हुआ या जीवसे ? यहाँ परिणति और परिणमितापर दृष्टि दें तो सुनिश्चित होता है कि कर्मका आस्रव कर्म अणुवोंकी परिणति है और विभावका आस्रव आत्माकी परिणति है। अब जो परिणति जिसकी है उस परिणतिको उस द्रव्यके उन्मुख देखो और पर्यायको गौण करके द्रव्यको मुख्य दृष्टिमें करो।

दृष्टि पर्यायसे हटावें तो द्रव्यदृष्टि प्रधान बन जाती है तब पर्यायों पर ध्यान न जा स्वरूपपर ध्यान आता यही भूतार्थदृष्टि दृढ़ होती है जिससे सम्यक्त्व जगता है। सभी पर्यायपर भी ध्यान दें तो पूर्वका विकारी भाव आगेके विकारीभावमें कारण है द्रव्यको कारण व्यवहारसे कह सकते। इसी तरह द्रव्य कर्मास्रव भी जीवके निमित्तसे है वस्तुतः स्वयं अपनेसे ही विकार्य और विकारक बनता है। तो मिथ्यात्व क्या पौद्गलिक कर्मकी परिणतिसे हुआ है ? जीवके श्रद्धागुणकी विकार परिणतिसे हुआ है ? उसी श्रद्धागुणकी परिणति जब शुद्धरूपमें होती है,

परके निमित्तसे रहित स्वाश्रित परिणति होती है तब उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। दोनों आत्माकी ही परिणतियाँ हैं, १ विकारी दूसरी अविकारी। विकारी परिणति पराश्रित है और अविकारी स्वाश्रित। इसी तरह अविरति कषाय और आत्म परिस्पंद रूप योग भी जीवके आश्रयसे होते हैं। उनमें निमित्त कर्म का है। बाह्य पदार्थ पर दृष्टि न दें तो आस्रव निरास्रव होजाता है। भूतार्थ पर जब दृष्टि हो तब पर्याय पर दृष्टि नहीं रहती क्योंकि भूतार्थका काम एकत्वपर रह जाता है।

जीवके कारण अजीवमें आस्रव हुआ और अजीवके कारण जीवमें आस्रव हुआ यह व्यवहारदृष्टि असत्यार्थदृष्टि है, इसको व्यवहार रूपसे जानते हुए दृष्टिको सत्यार्थपर रखना चाहिये। उस द्रव्यका कार्य उसीमें विचारना चाहिये। संसार अवस्थामें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका निमित्त होना है लेकिन पर्याय जीवकी जीवमें और अजीवकी अजीवमें देखना चाहिये। संसारी प्राणी पर्यायको ही देखते हैं सो भी ठीक तरहसे नहीं देखते। ठीक ठीक देखें - जिनका जो पर्याय है उसको उसीमें लगावें तो सम्यग्ज्ञान हो सकता है। जैसे—हमारी बातको सुनकर आप यह मानें कि हमारे ज्ञानका विकास मेरे ज्ञानसे हुआ, तो यह समझ ठीक नहीं है। ऐसा विवेक लें कि हमारा ज्ञान हमारी ज्ञान-परिणतिसे है। जिस स्वभावसे ज्ञानकी पर्यायें निकलती हैं, उस स्वभाव पर ध्यान दें तो उसे अवश्य पा सकते हैं। उस पर्यायको उस स्वभावकी ओर उन्मुख करदें तो ज्ञान सम्यक्ज्ञान होजाय।

मोही प्राणी नाना तरहकी संयोगाधीन दृष्टि बनाये हुए हैं। दो व्यक्तियोंकी लड़ाईमें, या गाली गलौजमें वे अपनी कषायकी पूर्ति करते हैं, एक दूसरेको कुछ नहीं कर सकते। हाँ एक दूसरेकी कषायमें आश्रय अवश्य बनता है अन्य। इसी तरह हमसे कोई झगड़ा ठाने या कठोर वचनका प्रयोग करे तो हमको यही विचारना चाहिये कि यह मुझको अपनी कषाय भावको प्रगट कर रहा है मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता,

मेरी परिणति तो मेरे आधीन है। अनादि से मैं जो भ्रमण करता आ रहा हूं वह कर्म की परिणतिसे नहीं, हमारी परिणतिसे वह अवस्था बनती रही है। ऐसा देखने पर मूल आधार चैतन्य स्वभावकी दृष्टि प्रधान हो जाती है, फिर पर्याय की बात नहीं रहती।

हम आत्माको देखते हैं, किन्तु यदि कषाय सम्बन्धी रूप नजर आता है तो इससे ज्ञानमें आकुलता ही आकुलता बढ़ती है। पर्यायका विचार पर्यायसे ठीक है लेकिन द्रव्यको भी देखें। यद्यपि परिणमन शून्य द्रव्य नहीं होता परन्तु द्रव्य, सामान्य दृष्टिसे भी देखा जाना चाहिये। यदि जीव ऐसा निरखे कि मैं कर्मोंसे अबद्ध हूँ, चैतन्य स्वभावसे विपरीत स्वभाव मुझमें नहीं है; ऐसा ध्यान देनेसे विवाद और विद्रोह नहीं होते। तब वर्तमान और भविष्यका जीवन सुखमय बनता है।

इस सूत्र में 'उभयम्' शब्द से यह भी रहस्य निकलता है कि जो विकार्य होता है वह केवल पुण्यपाप नहीं है और इसी तरह जो विकारक होता वह भी पुण्यपाप नहीं है तथा जो आस्राव्य है वह भी केवल आस्रव नहीं है और जो आस्रावक है वह भी केवल आस्रव नहीं है तथा जो बन्ध्य होता है वह भी केवल बन्ध नहीं है और जो बन्धक होता है वह भी केवल बन्ध नहीं है। किन्तु विकार्य विकारक इन दोनों का उभय पुण्यपाप है, आस्राव्य आस्रावक इन दोनोंका उभय आस्रव है, बंध्य बन्धक इन दोनोंका उभय बन्ध है सो यदि किसी भी एक पर्यायको लेकर देखें तो पर्याय गौण होकर द्रव्य मुख्य होता है सो किसी एकमें पुण्य, पाप, आस्रव व बन्ध कुछ भी नहीं है अतः एकत्वको विषय करता हुआ उपयोग बनावो। यह भी एकनयसे ध्वनित है। किसी भी प्रकार हो, एक के देखने पर निमित्तदृष्टिके अभाव होनेसे नैमित्तिक पर्यायकी फसल नहीं रह सकती। अतः मित्रजन! सर्व प्रकार यत्नसे एककी दृष्टि बनावो, एककी दृष्टि यदि वह अशुद्ध एकद्रव्यकी भी दृष्टि रहेगी तो भी अशुद्धता न टिकेगी और यथासम्भव शीघ्र निर्विकल्प

निजतत्त्वका अनुभव होगा तथा यदि पर्यायसे शुद्ध एकद्रव्यकी दृष्टि रहेगी तो अभेदस्वभाव पर ही दृष्टि शीघ्र पहुँचेगी, सो एककी महिमा अचिन्त्य है एककी दृष्टिकी महिमा अनुपम है। सो भैया यदि आस्रवादिको देखना ही है तो भूतार्थनयका आश्रय कर आस्रवादिको देखो।

उक्त प्रकारसे पुण्यपाप आस्रवबन्ध तत्त्वका वर्णन करके "ये क्या उपादेय हैं अथवा हेय हैं" ऐसा प्रश्न होनेपर समाधान होता है—

सूत्र—ज्ञेयं हेयं सर्वम् ॥ १६ ॥

पुण्य पाप आस्रवबन्ध ये सब हेय जानना चाहिये। अथवा मोक्षमार्गकी प्राथमिक अवस्थामें हेय जानना और ज्ञाता दृष्टाकी स्थिति पाने पर मात्र ज्ञेय जानना। आत्माकी दुरवस्था यद्यपि भावपुण्य भावपाप भावास्रव व भावबन्धसे है तथापि द्रव्य कर्मको निमित्त पाकर दुरवस्था होती है अतः ये द्रव्यकर्म हेय हैं। आत्मा किसी भी पर वस्तुको न ग्रहण कर सकता और न इसी कारण त्याग कर सकता। सभी परपदार्थ प्रकृत्या भिन्न हैं छूटे हुए ही हैं परन्तु परके विषयमें उपयोगसे जुड़ना ही उसका ग्रहण करना है और उपेक्षित होना ही उसका त्याग है। आत्मा मन वचन काय रूप परद्रव्यसे पृथक् है ये तीनों पौद्गलिक हैं और आत्मा चित्पिण्ड है। मन वचन कायमें जुड़ाये गये उपयोगके फलस्वरूप सुख दुःख रति अरतिके परिणाम भी औपाधिक हैं उनसे भी आत्मा विभक्त है क्योंकि आत्मा अहेतुक ध्रुव है किन्तु विभाव औपाधिक व अध्रुव हैं। भावपुण्य शुभरागरूप है वस्तुतः वह आकुलताका उत्पादक है आकुलतामय है चैतन्यवृत्तिसे विपरीत है उसकी रुचि मिथ्यात्व है। भावपाप भी अशुभराग व द्वेषपूर्ण परिणाम है स्वभावविरुद्ध व आकुलतामय है उसकी रुचि मिथ्यात्व है। इसी प्रकार आस्रवबन्ध भी स्वभावविरुद्ध आकुलतामय है उनकी रुचि मिथ्यात्व है। ये चारों तत्त्व उपेक्ष्य हैं। अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यमय अभेदस्वरूप अखण्ड निजतत्त्वका लक्ष्य सर्व परोपयोगका निवर्तक है। पूर्ण स्वभावका लक्ष्य

पूर्णपर्यायका पूरक है। धर्म कहो या शान्ति कहो व परम आनन्द कहो यह धर्मभाव किसी भी परवस्तुसे प्रकट नहीं हो सकता। यह तो निज आत्माका परिणाम है सो निज आत्मतत्वके परिज्ञान और अनुष्ठान बिना प्रकट नहीं हो सकता है। जहाँ से धर्म प्रकट होता है उसका परिज्ञान करो। आत्मा सद्भूत चैतन्यमय अनन्तधर्म तक अखण्ड वस्तु है जो प्रतिसमय परिणमनशील है। उसकी परिणतियाँ अपने अपने समयमें वर्तमान है उनका किसीका आत्मासे त्रिकाल तादात्म्य नहीं है अतः जो एक आत्मा अनादि से परिणमता चला जा रहा है उस सामान्य निजवस्तुका परिणतिमात्र भेदमात्रको गौण करके अवलोकन करो। इस अन्तवृ त्तिके होते ही हेय तत्त्व छूट जाते हैं। इस प्रकार वे पुण्यपाप आस्रवबन्ध तत्त्व हेय जानना चाहिये। अथवा सभी तत्त्वों के सम्बन्ध को लेकर उत्पन्न हुए विकल्प सब हेय जानना चाहिये। उपादेय मात्र अविचल चैतन्य स्वभावमें स्थिरता है। अब इस ही उपादेय भावका वर्णन करते हैं—

सूत्र—पुण्यपापास्रवबन्धविविक्त आत्मस्वभाव उपादेयः ॥१७॥

पुण्यपाप आस्रव बन्ध भावसे विलक्षण अतएव उन तत्त्वोंसे रहित आत्माका स्वभाव उपादेय है। द्रव्यपाप, द्रव्यपुण्य, द्रव्यआस्रव, द्रव्य-बन्ध तो पुद्गलकर्म सम्बन्धिनी अवस्था है उनका तो आत्मा में अत्यन्त अभाव उनसे तो आत्मद्रव्य अत्यन्त पृथक् है मात्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। किन्तु भावपुण्य भावपाप भावास्रव व भावबन्ध भी यद्यपि आत्माकी विकारी अध्रुव अवस्था है तथापि औपाधिक है। इस अवस्था का वहिर्व्याप्यव्यापक सम्बन्ध पुद्गलकर्मकी पर्यायसे है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं और न स्वभावदशा है, इनसे भी पृथक् आत्माका स्वभाव है। वह स्वभाव क्या है इसकी पहिचानके लिये पहिले स्वभावका लक्षण कहते हैं—स्वभाव वह होता है जो वस्तुमें अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण तन्मय स्वरूप हो। इस लक्षणके प्रकारानुसार आत्माका

स्वभाव चैतन्य प्रसिद्ध है जिसकी वर्तना स्वपरप्रकाशकरूप है। यह चैतन्यस्वभाव द्रव्यकर्म भावकर्म जो कर्म व अन्य बाह्य साधनोंसे रहित है, आत्माका अविष्वग्भाव है। इस सामान्य, परमपारिणामिक चैतन्य भावकी दृष्टि होनेपर पर्यायकी गौणता अथवा अलक्ष्यसे विकल्पोंको तोड़कर अभेदस्वभावमें उपयोगकी स्थिरताका अवसर आता है, निर्मल पर्यायका प्रवाह उछलने लग जाता है। आत्माका यह ध्रुव चैतन्य स्वभाव उपादेय है लक्ष्यके योग्य है।

जिज्ञासा—आत्मस्वभावकी उपादेयता तो सत्य है किन्तु इसकी प्राप्तिका उपाय क्या है? इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तस्योपलब्धिः शुद्धोपयोगात् ॥ १८ ॥

निज चैतन्यस्वभावकी प्राप्ति शुद्धोपयोगसे अर्थात् शुद्धके उपयोगसे होती है। प्रत्येक वस्तु समस्त अन्य परवस्तुवोंसे अत्यन्त पृथक् होनेसे उन सर्व परद्रव्योंके द्रव्य क्षेत्र काल भावका नास्तित्व होनेसे सर्व वस्तु शुद्ध है और इसी प्रकार सर्व वस्तुवोंका स्वभाव भी शुद्ध है। द्रव्य भी अनन्त परिणतियोंको क्रमशः करता है और स्वभाव भी उन्हीं अनन्त परिणतियोंको क्रमशः करता है। स्वभाव व स्वभाववान् में मात्र भेद-विवक्षा है वस्तुतः भेद नहीं है। तब जो एक वस्तु अथवा स्वभाव अपनी वर्तमान वर्तमान अनन्त परिणतियोंसे गुजरता हुआ भी किसी भी एक परिणतिरूप नहीं रहता वह ध्रुव एकस्वभाव अथवा वस्तु शुद्ध कहलाता है। उसका उपयोग करनेपर अर्थात् यथार्थतया अवबोध करनेपर उसकी उपलब्धि हो जाती है। यहाँ शुद्धोपयोगका अर्थ शुद्धका उपयोग है। जगत् के जीवों ने कामभोगके आश्रयभूत अनेक वस्तुवोंको पर्यायमात्र ही वस्तु व हित समझकर जाना है। किन्तु आत्माके इस एकत्वकी प्राप्ति दृष्टि कभी नहीं की अथवा की भी हो तो मोहक्षय न कर सकनेसे चारित्रमोहके शैथिल्यमें बहकर उसकी विराधना करदी। अहोज्ञानमूर्ति भगवन्! अब अपने ही समीप अपने अहेतुक स्वच्छ भगवत्त्वको देखो।

तुम अनादि अनन्त अहेतुक स्वतःसिद्ध ध्रुव चिन्मय वस्तु हो। इसमें प्रत्येक परिणति समय समयकी आती रहती है क्योंकि वस्तु प्रतिक्षण परिणमनशील है परन्तु परिणति तो एक समयकी है और तुम अनादि अनन्त हो अतः अपनेको परिणतिमात्र मत मान। पर्यायकी दृष्टि छोड़कर ध्रुव निजस्वभावमय अपनेको अनुभवो। पुण्यपाप आस्रवबन्ध तत्त्वसे विविक्त ध्रुव चैतन्यस्वभावकी उपलब्धि शुद्धोपयोगके प्रसादसे होती है। उस शुद्धोपयोगकी प्राप्ति कैसे होती है इसका उपाय कहते हैं—

सूत्र—स चाशुद्धोपेक्षणात् ॥ १६ ॥

और वह शुद्धोपयोग अशुद्ध तत्त्वकी उपेक्षासे प्रकट होता है। आत्मा सामान्य विशेषात्मक अनादिसे है व अनन्तकाल तक रहेगा— जिसमें सामान्य अंश तो भेद-विकल्प रहित होनेसे शुद्ध कहलाता है और विशेष अंश भेद विकल्प अध्रुव रूप होनेसे अशुद्ध कहलाता है। विशेष दो प्रकारके होते हैं—एक सहभावी विशेष दूसरे क्रमभावी विशेष, इनमें से यहाँ क्रमभावी विशेषकी मुख्यता है। क्रमभावी विशेष भेदरूप और अध्रुव होता है किन्तु सहभावी विशेष भेदरूप और ध्रुव होता है। प्रतिसमयकी परिणतियाँ विशेष अंश है और जिस एककी परिणतियाँ अनादिसे अनन्तकाल तक होती रहती है वह एक सामान्यरूप है। यहाँ समस्त परिणतियाँ व परिणतियुक्त द्रव्य अशुद्ध तत्त्व है और सामान्य एक शुद्ध तत्त्व है। वस्तु शुद्धाशुद्धात्मक है। अशुद्ध पर्यायमात्र है। यह अशुद्धता मलिन पर्यायमें भी है और निर्मल पर्यायमें है क्योंकि दोनों पर्यायें परिणति ही तो हैं। सर्व पर्यायोंसे विविक्त चैतन्यस्वभावके अभेद लक्ष्यसे निर्मल पर्याय प्रकट और उत्कट होने लगती है। निर्मल पर्याय अनाकुल परिणमन वाली है और मलिन पर्याय आकुल परिणमन वाली है। समस्त पर्यायमात्रको गौण करके सामान्य ध्रुव परम पारिणामिक अहेतुक अनादि अनन्त चित्स्वभावका लक्ष्य करो। इस उपायसे शुद्ध वस्तुका उपयोग प्रकट होता है और शुद्धोपयोग से आत्मस्वभाव की

उपलब्धि होती है। अब अशुद्ध अंशकी उपेक्षा करनेका उपाय कहते हैं—

सूत्र—स च भेदविज्ञानात् ॥ २० ॥

अशुद्ध तत्त्वकी उपेक्षा भेदविज्ञानसे प्रकट होती है। भेदविज्ञान स्वलक्षणके आधारसे चलता है, द्रव्य-द्रव्यमें भेदविज्ञान, द्रव्य-पर्यायमें भेदविज्ञान, द्रव्य-गुणमें भेदविज्ञान, गुण-पर्यायमें भेदविज्ञान, गुण-गुण में भेदविज्ञान प्रकट होता है।

द्रव्य-द्रव्यमें भेदविज्ञान तो अतिप्रकट है प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टयसे है तदतिरिक्त समस्त परद्रव्यों के चतुष्टयसे नहीं है क्योंकि समस्त द्रव्य निज अभिन्न स्वभावके परिणमनको ही अनुभवते हैं। अतः सर्व द्रव्य परस्पर अत्यन्त पृथक् हैं। आत्मा चैतन्यस्वभावी हैं और समस्त पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य चैतन्यस्वभावसे विपरीत हैं उनका आत्मा से सम्बन्ध नहीं है और सजातीय समस्त अन्य आत्मावोंसे भी किसी भी आत्माका सम्बन्ध नहीं है क्योंकि समस्त आत्मा केवल निज चैतन्य-स्वभावका परिणमन ही अनुभावते हैं। अतः मैं अन्य समस्त अनंतानत जीवोंसे पृथक् हूँ, अनन्तानन्त समस्त पुद्गलोंसे पृथक् हूं, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्यसे पृथक् हूं तथा समस्त असंख्यात काल द्रव्यसे पृथक् हूं। इस द्रव्य-द्रव्यके भेदविज्ञानसे आत्माका परद्रव्यके साथ सम्पर्ककी मान्यता नहीं रहती है। और इस उपायसे निज द्रव्यकी उन्मुखता होती है।

द्रव्य व पर्यायमें भेदविज्ञान—अन्य द्रव्यमें व अन्यद्रव्यकी पर्यायमें तो सर्वथा अत्यन्त भेद है क्योंकि कोई द्रव्य किसी द्रव्यकी परिणतिका उत्पादक नहीं, स्वामी नहीं। अब एक ही द्रव्यमें द्रव्य व पर्यायका स्वरूप देखें—द्रव्य तो अनादिनिधन अहेतुक अखण्ड एक वस्तु है वह प्रतिक्षण परिणमनशील है प्रत्येक समयकी परिणतियाँ उस ही एक समयमें वर्तमान रहती है अन्य समयमें सद्भाव नहीं होता अतः क्षणिक हैं। पर्यायें जो औपाधिक पर्यायें हैं वह तो अनेक निमित्तोंकी उपस्थितिमें

आविर्भूत होती हैं किन्तु जो निरुपधि पर्याय हैं वह भी कालद्रव्यको निमित्त करके होती है अतः पर्याय सहेतुक है। पर्यायमात्र ही द्रव्य नहीं है किन्तु पर्याय द्रव्यका एककालिक अंश है अतः पर्याय खण्डरूप है। इस प्रकार द्रव्य तो अनादि अनन्त अहेतुक अखण्ड है किन्तु पर्याय सादि सान्त सहेतुक खण्डरूप है। इस भेदविज्ञानसे हमें अपने बारेमें यह प्रयोजन आता है कि मैं पर्यायमात्र नहीं हूं किन्तु ध्रुव हूँ अतः मैं पर्यायसे विलक्षण चित्स्वरूप हूँ।

द्रव्यगुणमें भेदविज्ञान—अन्यद्रव्यमें और अन्यद्रव्यके गुणोंमें तो सर्वथा अत्यन्त भेद है क्योंकि द्रव्यकी अभिन्न शक्तियोंका नाम गुण है। किसी द्रव्यकी शक्तिसे अन्यद्रव्यका कोई सम्बन्ध ही नहीं। अब एक द्रव्यमें ही द्रव्य और गुणका स्वरूप देखें—द्रव्य तो अखण्ड एक सत् वस्तु है उस द्रव्यके जितने प्रकारके परिणमन होते हैं उसमें उतनी शक्तियाँ हैं सो द्रव्य समस्त शक्त्यात्मक एक सत् है उसके समझनेके लिये व्यवहारसे जो शक्तिका भेद करते हैं वह एक एक शक्ति एक एक गुण हैं। सो द्रव्य तो अभेद रूप है और गुण भेद रूप है। इस भेद विज्ञानसे हमारा यह प्रयोजन निकलता है कि मैं अभेदरूप हूँ इसमें भेदरूप जो गुण है सो उस भेदरूप नहीं हूँ।

गुण व पर्यायमें भेदविज्ञान—अन्यद्रव्यके गुणोंमें व अन्य द्रव्योंके पर्यायोंमें सर्वथा अत्यन्त भेद है क्योंकि पर्याय गुणकी परिणतिको कहते हैं सो जिस द्रव्यके गुणका परिणमन है उस गुणके साथ उस पर्याय का क्षणिक सम्बन्ध है अन्यके साथ नहीं। अब एक द्रव्यमें ही गुण पर्यायके स्वरूपको देखें—गुण ध्रुवशक्ति है उसका एक एक समयका परिणमन पर्याय है सो पर्याय तो क्षणिक है किन्तु गुण ध्रुव है। इस भेदविज्ञानसे हमारा यह प्रयोजन निकलता कि मैं मतिज्ञान आदिक किसी पर्याय मात्र नहीं हूँ किन्तु ध्रुव ज्ञानमय हूं।

गुण-गुणमें भेदविज्ञान—अन्य द्रव्यके गुणोंमें व अन्य द्रव्यके गुणोंमें सर्वथा अत्यन्त भेद है क्योंकि गुणोंका अपने अभेद आधार भूत निज द्रव्यमें ही सद्भाव है। अब एक ही द्रव्यमें गुणोंके स्वरूपको देखें—प्रत्येक गुणका परिणमन भिन्न भिन्न स्वरूप वाला है अतः गुण भी भिन्न भिन्न स्वरूपके ही हैं। जैसे आत्मामें ज्ञान दर्शन शक्ति सुख आदि गुण हैं तो ज्ञानकी वृत्ति जानना अर्थात् साकार प्रतिभास है, दर्शनकी वृत्ति सामान्य प्रतिभास है, शक्तिकी वृत्ति बल प्रयोग है और सुखकी वृत्ति निराकुल परिणमन है, मोहसहित अवस्थामें आकुलपरिणमन है। तो यहाँ प्रत्येक गुण अपने स्वलक्षण को लिये हुए हैं किसी गुणका स्वरूप किसीमें नहीं मिल जाता है। हाँ गुण परस्परके सद्भावको विशिष्ट निमित्त अवश्य हैं इस भेदविज्ञानसे हमारा यह प्रयोजन निकलता है—कि हम किसी एक गुणरूप नहीं हैं यदि एक गुणरूप होते तो अधूरे ही रहते जो अधूरा हो तो सद्भाव ही न रहता। मैं समस्त शक्त्यात्मक अभेदरूप हूं।

भैया, भेदसे छूटकर अभेदमें पहुँचनेकी शैलीसे अन्तमें निर्विकल्प अनुभव पाने वालेके कैसे चिह्न व आचरण हो जाते हैं ? भक्तिवश कुछ इसको विवेचन करते हैं। जिसे आत्मतत्त्वका परिज्ञान होजाता है, जो निज ज्ञानमय, अखण्ड चिद्रूप को समझ लेता है, ऐसे जीवके स्व-चतुष्टयसे अस्ति और परपदार्थों की अपेक्षासे नास्ति का प्रत्यय होजाने से प्रशमभाव आजाता है, उसकी आत्मामें शान्ति आजाती है। दूसरे के द्वारा कृत अपकारोंपर भी उसे क्रोध नहीं आता, आत्मामें अशान्ति उत्पन्न नहीं होती, वह उससे वैर नहीं बाँधता। जैसे हमें किसी अजीव पदार्थके कारण ज्ञान या अज्ञानावस्थामें कष्ट होने, उसपर क्रोध नहीं आता उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को जीव या अजीवके द्वारा किसी भी अवस्थामें दुःख पहुंचाया जानेपर, "मैं इसके निमित्तसे दुःखी हुआ, मुझे इसने कष्ट पहुँचाया इत्यादि" कल्पनाएँ कदापि मनमें नहीं आतीं,

किन्तु इसमें वह अपने पूर्व कृत कार्यों के उदयको ही निमित्त कारण मानता है, अपना अपराध एवं अपनी गलती स्वीकार करता है। उन कष्टोंसे अपनी शान्तिमें कुछ भी न्यूनता नहीं आने देता। अनेक दुःखों का सामना करते हुए भी उसके मुखमण्डलपर सदा हर्षकी रेखाएँ एवं उत्साहका ओज कान्तिमान लक्षित होता है। धर्म और धर्मी में उसका अनुराग होता है। जैसे पिताका पुत्रपर प्रेम होता है, वह पुत्रकेलिये सर्वस्व देनेकेलिए तत्पर होजाता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी धर्म और धर्मात्माके उपयोगके लिये, उनकी रक्षाके लिये अपना सर्व कुछ निछावर एवं अर्पण करनेकेलिये तत्पर रहता है। पहिलेके राजा अपनी प्रजाके हितके लिये सब कुछ खर्च कर देते थे। प्रजासे शेष रहनेपर उसी अल्प भागमें ही वे अपनेको परम सन्तुष्ट मानते थे वे सम्पत्ति और अतुल वैभव सुनीतिसे कमाते थे तथा उसे अन्तमें धर्म एवं धर्मात्माओं के उपकारके लिये व्यय कर देते थे। वे उनके हितार्थ क्या तन, क्या धन और क्या जीवन सब अर्पण कर देते थे। इससे सिद्ध होता है कि उन राजाओंका प्रजामें प्रेम था। जिस पर सब कुछ वारा जा सके उस पर प्रेम माना जाता है। सम्यग्दृष्टि धर्मी के अर्थ सर्व खर्च कर सकता है। सम्यग्दृष्टिका धर्म और धर्मात्माओंके प्रति अनुराग होना रागमें साहजिक गुण है।

सम्यग्दृष्टिके अनुकम्पा गुण भी होता है। अनुकम्पा माने कृपा, दया। सर्व जीवों पर अनुग्रह करना सो अनुकम्पा है। प्राणीमात्र पर मैत्री रखकर किसीको दुःख उत्पन्न न होने देना यह मैत्री है। जैसा मैं चैतन्यस्वरूप हूं, ज्ञाता दृष्टा हूँ वैसे ही ये समस्त प्राणी चैतन्यस्वरूप हैं एवं ज्ञान दर्शनमय हैं। जैसा कष्ट या दुःखका अनुभव मुझे होता है ये भी उनका अनुभव करते हैं। फिर इन आत्माओंको मैं क्यों सताऊँ ? दूसरेको सताना तो मेरा स्वभाव नहीं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" का पालन करता हुआ

सर्व प्राणियोंसे मैत्री भाव बनाए रहता है। मुझमें और इनमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है पर्यायोंका—तो पर्यायें नष्ट होने वाली हैं, क्षणिक, मेरा और इनका क्या सम्बन्ध ? जब ज्ञान दर्शनकी अपेक्षा जाति, गुण एवं शक्तिकी अपेक्षा सब ही समान हैं फिर पर्याय विशेषकी अवस्थामें मूलमें किसीको छोटा और किसीको बड़ा क्यों मानना ? पर्यायमें जो आज छोटा है कालान्तरमें मुझसे भी बड़ा हो सकता है, अतः सम्यग्दृष्टि जीव सबको समान समझता है। जैसा दुःख मुझे अभीष्ट नहीं है वैसा दुख कोई नहीं चाहता। प्राणियोंपर माध्यस्थ्यभाव रखना भी अनुकम्पा है। किसीसे रागद्वेष न कर निरपेक्षचरण करना भी दया है। निर्भय होना और सबको निर्भय बनाना तथा आत्म-स्वभावका विकास करना सबसे बड़ा कल्याण है सर्वोत्कृष्ट दया है। जहाँ सब दुःख शान्त हो जाँय वह समाधि अपने लिये व परके लिये सर्वोत्कृष्ट अनुग्रह है। इन्द्रियदमन करके शान्तस्वभाव एव बाह्य नेत्र बन्द करके अपने सत्स्वरूप, चिद्रूपको स्वीकार करना, मिथ्याभावको त्यागकर सम्यग्ज्ञानके प्रकाशमें अपनी आत्माका अनुभव करना वास्तविक आत्मदया है। तुम्हारे साथ सदा धन नहीं रहेगा और न यह तन ही तुम्हारे साथ जायगा, यह आत्मा ही तुम्हारे साथ जायगी अतः उससे ही अनुराग करो, उसपर ही दया करो, वह दया सम्यग्ज्ञानके बिना नहीं हो सकती है। अत मूर्च्छा, ममत्वको हटाकर मात्र स्वके चतुष्टयसे अपने अस्तित्वका बोध करना, मिथ्या तिमिरसे हटकर सम्यग्ज्ञानके प्रकाशपुञ्ज द्वारा, अन्य सर्व पदार्थों से भिन्न, बाह्यमें अव्यक्त किन्तु स्वयं में पूर्ण व्यक्त और स्वयंसिद्ध, दर्शन और ज्ञानकी अक्षय निधि, अनन्त शक्तियों एवं गुणोंके आगार, निज आत्माको आलोकित करना ही आत्मकल्याण और आत्मदया है। मैं मात्र ज्ञानके और कुछ भी नहीं करता, न मैं किसीका स्वामी हूँ और न मेरा कोई दास है, न मैं किसीका कर्त्ता हूं, न मेरा कोई शत्रु है और न कोई मित्र। ये जितने भी विकल्प होते हैं वे अज्ञानता, भ्रम, मिथ्यात्व एवं दर्शनमोहनीयके

अभ्युदयमें ही होते हैं—जो दुःखके कारण हैं और स्वयं ही दुःखरूप हैं उनपर हमारी कभी दृष्टि नहीं जाती, नौकरी पर ही दृष्टि जाती है। अपनी आत्मापर दृष्टि डालो तो सब दुःख नष्ट होजांयगे।

आत्मा अनन्त शक्तिशाली है। उसका विकास परिणमन है। उसकी अज्ञान रूप अवस्थामें हम विकाररूप परिणति पाते हैं और ज्ञान रूप अवस्थामें स्वरूप परिणति। आजतक हमने जो कुछ भी कार्य किये हैं सब अज्ञानतामें ही किये हैं, आजतक हमसे एक भी काम ज्ञानका न हो सका। जो पदार्थ और धन सम्पदायें मुझसे सर्वथा पृथक् हैं उनमें मैंने ममत्व रक्खा, शरीरको निज मानकर उसे पाला पोषा तथा एतदर्थ अनेक पाप क्रियाऐं की। यह सब कुछ किया किन्तु आजतक हमने ज्ञातामात्र बने रहनेका काम नहीं किया। राष्ट्रीय भावनाओं वाले एवं भौतिकवादकी शरणमें ही शान्ति-सुखके अन्वेषण इस ज्ञाता दृष्टा रूप स्थितिको प्रमाद कहेंगे। अरे! ऐसी क्रियाओं एवं ऐसे उदासीन पुरुष हमारे देश एवं राष्ट्रकी उन्नतिमें बाधक हैं। परन्तु सोचो तो सही जीवोंके समूहका नाम ही तो देश है—अतः भैया! जीवोंका उपकार ही देशका उपकार है। देशनिवासी जितने भी जीव हैं सब दुखी हैं और दुखी हैं अज्ञानके कारण। उनके अज्ञानका निवारण कर देना ही जीवों का उपकार है। वह अज्ञानभाव ज्ञानमूर्ति आनन्दघन निज आत्माके अनुभवमें रहता नहीं है। जिनबिम्बदर्शन, उनकी शान्त, गम्भीर मुद्रा का पुनपुनरवलोकन आदि आत्मानुभवके पूर्ववर्ती शुभ विकल्पोंके बाह्य साधन हैं। हमारे सम्मुख विराजमान मूर्ति मानों हमें समझा रही है ऐ संसारके प्राणियो! तुम कहाँ शान्ति ढूंढ़ते हो? देखो! शान्ति तो यहाँ है। शान्ति हाथ पैर हिलाने डुलानेमें नहीं उनकी क्रिया बन्द करो। रसनासे किसीके प्रति शब्द कहनेमें रागद्वेषकी स्थिति होती है अतः मौन होओ। न कुछ सूंघो और न देखो तथा न सुनो और न कुछ विचारो फिर तुम्हें किसीके प्रति रागद्वेष ही नहीं होगा और जहाँ

रागद्वेष नहीं वहाँ दुःख भी नहीं अशान्ति भी नहीं। ऐसी मौन सन्देश देने वाली मूर्ति ने उनका कल्याण किया या नहीं—आत्माका ज्ञान कराना ही सच्चा उपकार है जो भौतिकवाद कभी कर नहीं सकता। अनेक प्रकारका रसास्वादन कराकर उनको विविध विकल्पोंमें डाल देना क्या उपकार कहा जा सकता है? नहीं—उनके आस्वादनसे विरक्ति कराना ही सच्चा उपकार है। और फिर विषयत्यागी उदासीन विरक्त पुरुषोंके द्वारा जो संयमकी शिक्षा मिलती है उससे लोगोंके ब्लेक, लाँच, छल आदि दोष छूट जाते हैं इससे देशका उपकार ही तो हुआ। निश्चयदृष्टिसे तो वास्तवमें देखा जाय—पण्डित, साधु, त्यागी, गृहस्थ, श्रावक, आदि कोई भी कुछ भी परका उपकार नहीं करते, वे आत्म सन्तुष्टि या स्वार्थपूर्ति ही करते हैं। किन्तु सद्वाणीका निमित्त पाकर भव्य स्वयं ज्ञानी होजाते हैं। अपनी स्वतः सत्ताका ज्ञान होजाना ही देशका उपकार है, राष्ट्रका उपकार है। जबतक अपना उपकार न किया तब दूसरोंका उपकार करना वृथा है अथवा वस्तुतः उससे परोकार होता ही नहीं है। इतनी अवस्था व्यतीत होनेपर भी यदि कभी भी आत्म कल्याणकी बात न सोची तो बड़े खेदकी बात है। मन्दिरमें गये किन्तु वहाँ विराजमान मूर्ति से शान्ति एवं स्वदयाका पाठ न पढ़ा तो मन्दिर जानेका फल ही क्या हुआ? मूर्ति हमें यही सिखाती है—मैं सब पदार्थों से भिन्न हूँ, अकेला हूँ, स्वतन्त्र हूँ—इस निर्द्वन्द्व, निश्चल, शान्त, गम्भीर अवस्थामें ही तुम्हें शान्ति मिलेगी। ज्ञाता दृष्टा ही तेरा स्वभाव है अतः तू सदा ज्ञाता दृष्टा ही रहा।

दया चार प्रकारकी है—१–रागद्वेषका न रहना, २–वैरका त्यागना, ३–मैत्री भाव रखना तथा ४–जीवोंपर अनुग्रह करना। इन चारों में से हम कौनसी दया करते हैं तथा कितनी दया करते हैं गम्भीर विचार करना चाहिये। हम मन्दिरमें स्तुति पढ़ते हैं—

"आतम के अहित विषय कषाय, उनमें मेरी परिणति न जाय" इत्यादि

मन्दिरके बाहर निकले और यदि किसी ने दो शब्द प्रतिकूल कह दिये कि गरम हो गये, क्रोध आगया—यहाँ मन्दिरमें की क्रिया सब भूल जाते हैं। मन्दिर में हम भगवानसे कहते हैं कि—"प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह" भैया ! वे क्या प्रसन्न होंगे और उनकी प्रसन्नता अर्थात् निर्मलतासे तुम्हें क्या लाभ—उनकी निर्मलतासे उन्हें लाभ होगा तुम्हें क्या लाभ ? हमारे भगवान अन्य मतावलम्बियोंके ठाकुर बाबा थोड़ी ही हैं कि उनपर ऐसी दृष्टि रखी जाय। भक्तकी जैसी दृष्टि होगी वैसा ही कार्यान्वित रूप उसके समक्ष आयेगा। कहा भी है 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।" मैं अपने द्वारा ही अपने लिये अपनेको प्रसन्न कर सकता हूँ—किसीकी प्रसन्नता मेरा भला या उसका कोप मेरी हानि नहीं कर सकता। किसीसे हानि लाभ मानना बेकारके विकल्प हैं।

"मूंदहु आँख कितहुं कछु नांही" भैया ! आँखें बन्द करनेपर हमारा कुछ नहीं रहता। आँखें बन्द करनेसे परिणामोंमें कुछ प्राकृतिक बात है परिवर्तन ही ही जाता है, आत्मामें कुछ न कुछ शान्ति आजाती है, किसी गम्भीर समस्या प्रश्नका समाधान हमें आँख बन्द कर लेने पर मिल जाता है। निजको परसे दूर करके, इन्द्रियोंको संयमित करके, मैं सबसे भिन्न हूँ, एक सद्भूत वस्तु हूं इस प्रकार अपने आपको बार बार भावना व पहिचानना ही आत्मकल्याण है व सम्यज्ञानका उपाय है। परको अपना समझना मिथ्याज्ञान है। मरण समय आनेपर भी जीनेकी इच्छा बनी रहती है—इसका यही अर्थ है कि हमने इस भवमें कोई पुण्य न कर पाया, धर्म न कर पाया—अतः कुछ और जीवित रहूँ जिससे कुछ धर्म कर लूँ ऐसी अभिलाषा होती है। अतः भैया ! पहिले से ही धर्म पुरुषार्थ करना प्रारम्भ करदो ताकि मरते समय फिर कोई विकल्प न हो और मृत्यु होजाने पर आशा निराशा न होजाय-वृद्ध होनेपर काम करनेकी असमर्थतापर पश्चात्ताप न करना पड़े। जिसने अपनी पूर्व अवस्थामें ही धर्म कर लिया शेष अगले भवमें कर लेंगे—

पश्चात्ताप एवं विविध विकल्पोंको उत्पन्न ही क्यों करें। जैसे एक लिखने वाला जितना घरपर लिख पाता है लिख लेता है बाकी अपने चलते रेल आदिमें लिखता रहता है, स्थान पर पहुँचकर लिख लेता है। उसी प्रकार यह जीव जितना धर्म कर पाता है सो करता है शेष दूसरे भवमें। दर्शन और ज्ञानके सदा साथ रहनेसे कर लेता है। धर्म तो अपने साथकी वस्तु है अतः धर्म करो और सब प्राणियोंमें समता भाव रखो। छलकपटके भाव कदापि न आने देवों। धार्मिकता न होने पर मरण समयमें शल्य हो जाती है। राग भावसे सदा बचना चाहिये। देखो भैया! यहाँ वक्ता आनन्दमें है कि श्रोता आनन्दमें है? वक्ताको राग होता है क्योंकि वह बिना विचारे बोल नहीं सकता, उसे श्रोताओं के हृदयको टटोलना पड़ता है कि यह वस्तु उनके समझमें कैसे आसकती है अथवा अपना ही लक्ष्य कर बोले तो वहाँ भी विकल्पसे परे नहीं है। किन्तु श्रोतागण तो इस समय शान्ति पूर्वक आनन्दका उपभोग करते हैं। माली को वाटिका रचनेके लिये विविध विकल्प करना पड़ते हैं, किन्तु दर्शक तो देखकर—जितनी सुन्दरता उसे प्राप्त हो पाती है—उसीसे सन्तुष्ट होकर चला जाता है। उतना राग दर्शकको नहीं होता जितना कि माली को होता है।

दूसरे, परका हम क्या अनुकम्पा कर सकते हैं—यह तो एक विकल्प है। पूर्ण अनुकम्पा करते हुए भी यदि जरा सी यह भावना आगई कि मैंने उसपर दया की, उसकी रक्षा की, कि वहीं दोष लग गया। अपनेपर या अपनी कोई क्रिया सध जानेपर अहङ्कार नहीं करना चाहिए। कोई मुनि पूर्व चारित्रका पालन कर रहे हों—यदि उनकी यह भावना होगई कि मैं पूर्ण चारित्र पालता हूँ सो तो उनको भी अंशतः दोष लग गया क्योंकि ऐसी भावनासे अकर्तृत्वभावकी स्वभावकी हिंसा होजाती है। हम अपने स्वार्थकी रक्षाके लिये दूसरेकी हानि या लाभ नहीं देखते। अतः यहाँ पर भी हिंसा ही है। झूठकी बात तो यह है

कि यदि कोई बात स्वप्नमें भी सोचता तो भी दोष है। यह धन हमारे यहाँ आजाता—मात्र इतनी कल्पनासे ही, चोरी न करनेपर भी चोरी का दोष आजाता है। ब्रह्मचर्य पालनेमें भी तद् सम्बन्धी दोष लगता है किसीको कम तो किसीको अधिक। १८ हजार भेदवाले जीवगुणकी पूर्णता अयोगकेवली गुणस्थानमें होपाती है। और वैसे ७-६-५-४ गुणस्थानों मी मान सकते हैं। परिग्रह विरति भी किसी न किसी रूपमें साथ चलता ही है। निश्चयतः इन सब दुर्गुणोंकी समाप्ति निजस्वभाव की प्राप्ति में हो ही जाती है।

सहजज्ञान स्वभावमें निज आत्माका जिसने दर्शन कर लिया है ऐसे जीवका आस्तिक्य भाव स्वभावसे रहता है। जो जीव आस्तिक्य भावको नहीं समझता, अपनी आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता, अपनेको परावलम्बी या पराश्रित मानता वह जीव सांसारिक दुख कण्टकोंसे दुखी रहता है, अनन्त संसारमें रुलता रहता है। और जो समझ लेता है, अपनेको अपनेमें पालेता है, अपनेको न किसीका कर्त्ता और न किसीको अपना कर्त्ता स्वीकार करता है, निज अद्वैतका महात्म्य देखता है वह पार होजाता है इस दुखदावानलरूप भीषण संसारसे। सम्यग्दृष्टि जीवमें आस्तिक्य गुण पाया जाता है क्योंकि वह अपन आत्माको पहिचान लेता है। वह आत्मस्वरूपके बोधको पाकर तत्त्वोंका श्रद्धान एवं धर्मादि फलोंमें रुचि रखता है। मैं परपदार्थों से भिन्न हूं, स्वयं हूं, एक हूँ, सत्स्वरूप हूँ, चिद्रूप हूं, इस संसार में मेरा कोई सहायक नहीं, मैं स्वयं के द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा हूं, परके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे नहीं हूं, मैं स्वयं अपनेमें परिणमित होता हूँ, मुझे कोई परिणमित करता हो ऐसी कोई बात नहीं। मैं स्वतन्त्र सत् हूँ ऐसी दृढ़ प्रतीति सम्यग्दृष्टिके होती है।

जब आत्मा परपदार्थों से सम्बन्ध जोड़ता है या उन्हें अपनानेकी भावना करता है, इनसे अपना हित या सुख दुख मानता है तभी दुखी

होता है। परसे सम्बन्ध विच्छेद करना, उन्हें अपना न समझना, उनसे सुख दुखादि होनेकी कल्पना भी न करना। मात्र आत्म निर्मलता के लिये आत्म चिन्तवन, मनन एवं आत्मरत रहनेसे सुख होता है। जब तक परकी अपेक्षा रहेगी तब तक दुख ही रहेगा सुख तो अपने स्वभावके आश्रयमें ही है। इस संसारमें मेरा कोई रक्षक नहीं है न मुझे कोई मृत्युसे बचा सकता है, मेरे जन्म मरण रूप दुखको कोई दूर नहीं कर सकता, ये जितने भी पदार्थ हैं सब (निमित्तदृष्टि से) मुझे भवपाश में बन्धन के लिये ही दुखप्रद सामग्री एकत्रित करते हैं, अतः सम्यग्दृष्टि जीव उनकी मूर्च्छा से दूर रहता है। मिथ्यात्वमें ही मूर्च्छा परिणाम होते हैं। लोग तो धनमें अधिक मूर्च्छा रखते हैं और कहते हैं कि धन हमारी रक्षा करता है किन्तु भैया! निमित्त दृष्टिसे देखो धन प्राणघातक होता है। मिथ्याके वश होकर ऐसे विकल्प मनमें उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्वसे हित बुद्धिको त्याग यही विचारो कि मैं चेतन, अमूर्तिक, ज्ञानमात्र, केवल प्रतिभास स्वभाव वाला हूं, मैं अखण्ड हूं, एक हूं, स्वयं परिणमने वाला हूं, मैं किसीको नहीं परिणमाता। इसके विरुद्ध जो कल्पना और विचार हैं वह निरा भ्रम है। मैं शुद्ध हूं—इस पुद्‌गलपिण्डसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। पुद्‌गल चाहे शुद्ध रहे या अशुद्ध उसका कुछ बिगड़ता नहीं क्योंकि वह तो जड़ है, अचेतन है—जैसा वह है सो है उसके वैसे रहनेमें उसका कोई सुधार या बिगाड़ नहीं। अन्य चार द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल शुद्ध हैं। जीव भी निश्चयतः शुद्ध है किन्तु कर्म पर वश होनेसे उसकी यह दीन अवस्था हो रही है। जीवके शुद्ध होनेमें उसकी शान्ति और सुख है तथा उसके अशुद्ध होनेमें जीवकी आत्मिक हानि होती है, दुःख होता है। आत्मा और पुद्‌गल कभी एक नहीं हो सकते—ऐसा कभी देखा भी नहीं गया—अतः आत्मा अबद्ध है किन्तु कर्म सहित होनेसे आत्मा बद्ध भी है—इस प्रकार आत्मा बद्ध है और अबद्ध भी है। यदि स्वभावकी दृष्टिसे देखो तो आत्मा अबद्ध है और

पर्याय दृष्टिसे देखो तो वह बद्ध है। कर्म और आत्माका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है—इसका मर्म समझ लेनेसे—यह पता पड़ जायगा कि कर्म और आत्मा एक नहीं है। क्या आपने कभी चिन्तवन द्वारा आत्मा का स्वरूप देखा ? यदि हां! तो आपको विदित हुआ होगा कि आत्मा कर्म परमाणुओं से अलग हैं किन्तु धर्म चक्षुओं से देखने पर हमें उन से छुआ हुआ मालूम पड़ता है जहां कर्म परमाणुओंका स्पर्श है वहाँ कर्माश्रव वन्ध भी है और जहां उनकी अवद्धता के विचार आये और विचारोंको कार्यान्वित किया कि वहीं संवर निर्जरा और मोक्ष है। कर्म और आत्म की स्पर्श होने की अवस्था में दुःख है और उनसे मुक्त अवस्थामें सुख और शान्ति है। स्वभाव में आने पर सुख होता है और विभाव करने से दुःख। स्वभावानुभवमें सिद्धकी भांतिका सुख है।

आत्मा चेतन है, अमूर्तिक है, ज्ञान स्वाभावी है, ज्ञाता द्रष्टा है-इसका जड़ मूर्तिक पिण्ड वाले पुद्गलसे क्या सम्बन्ध कभी हो सकता है ? इन दोनोंका सम्बन्ध नहीं हो सकता किन्तु फिरभी इनका एक विलक्षण सम्बन्ध है। पुद्गल रूप कभी आत्मा परिणाम नहीं सकता और पुद्गल कभी आत्म रूप नही हो सकता—अतः आत्मा और शरीरकी मिश्रणामें भी स्वतः सिद्ध है। आत्मा स्वभाव दृष्टिसे एक है किन्तु पर्याय दृष्टि से मनुष्य, तिर्यंच, नरक देवादि गतिओं में घूमता फिरता है। मैं वही आत्मा हूं जो पहले पापी था निगोदिया था नारकी था वही आत्मा आज पुरुष है। साधु है—देव है इस आत्मा का कोई नाम नहीं है। किन्तु किसी का मनुष्य-तिर्यंच इस प्रकार उस गतिमें आनेसे उसका नाम रखदिया जाता है जहाँ नाम नही और नाम की याद नही कि मैं साधु हूं, पंडित हूँ, विद्वान हूँ, इत्यादि तो वहाँ दुःख का नाम नहीं और जहाँ नाम, मान, अहंकार सम्मानकी भावना आई कि वहीं दुःख आगया अशान्ति छा गई। अतः न मैं भी मनुष्य

हूँ न नारकी और न देव किन्तु इन सबमें रहने वाला जो एक है आत्मद्रव्य है बस वही मैं हूं—किन्तु जैसे मैं भाव व कार्य करता हूँ वैसी ही मेरी संज्ञा पड़ जाती है मनुष्योचित काम करने से मुझे मनुष्यनारकी योक्ति कार्य करने से नारकी इत्यादि सज्ञाये दी जाती है। वास्तव में देखा जाय तो मैं नाटक आदि सर्व पर्यायों से भिन्न अकेला, ज्ञाता दृष्टामात्र, चेतन सञ्चित स्वभावी हूं—मेरा स्वभाव यही है। यदि हम अपनेको सतचित आनन्द मय अखण्ड तत्व समझें तो हमारा आत्मोचित परिणाम न हो जावेगा।

अपने स्वभाव में रहने से ही सुख होता है-एक अलौकिक एवं साहजिक आनन्द प्राप्त होता है। उसके अनुभव करनेके बाद अन्य सब प्रकार के आनन्दाभास अच्छे नहीं लगते। अरे ! 'पीत्वा पयः शशिकर द्युति दुग्ध सिंधोः, क्षारं जलं जल निधेरसितुं कः इच्छेतु'। जैसा सोचते हैं वैसी क्रियाऐं करते हैं और तदनुसार अन्ततोगत्वा हम स्वयं को वैसा समझने लगते हैं। जैसे पढ़ने में गधा है यदि वह अभ्यास करे तो उसे कुछ न कुछ ज्ञान हो जाता किन्तु यदि वह स्वयं को गधा मानने लगे तो फिर उसे कुछ भी याद नहीं होता। अतः जैसा अपने आपमें विश्वास हो वैसा ही प्रवृति होती है। चेतनमें चेतन जैसी और मनुष्यमें मनुष्य जैसी प्रवृत्ति होती, यह प्रयोग हम साक्षात देखते हैं सम्यग्दृष्टि जीव का आत्मा व्यवहार होता है क्योंकि वह अपनेको चित्पिण्ड आत्मा मानता है। सत्य स्वतन्त्रे निज स्वभाव के भावमें सहज व परम आनन्द है।

हमने अज्ञानतावश नाना दुःख सहे हैं किन्तु अब तो हमने ज्ञान पाया, आत्मदर्शन पाया, ज्ञान चेतना पाई; अतः दुखसे मुक्त होनेका उपाय करना ही चाहिये। मैंने चतुर्गतियों चौरासी लाख योनियों में अनेक नाम धराये और दुःख उठाया। अब मुझे मात्र ज्ञाता दृष्टा बन

इस भव भ्रमणका अन्त करना चाहिये। किन्तु जब तक नाम पाने, आदर प्रदान करने की भावना तुम्हारे में रहेगी, व्यक्तित्व बनाने का विचार होगा तब तक सुख नहीं मिल सकता। अतः भैया व्यक्तित्व की चाह है उसे नष्ट करो अन्य धर्म तो व्यक्तित्व बनाने की पुष्टि करते हैं किन्तु जैन धर्म व्यक्तित्व का निषेध करता है अन्य लोग जिने का समर्थन करते हैं, जैन धर्म का आदेश है कि ऐसा पुरुषार्थ करो कि फिर जीना ही न पड़े।

जन्म की अपेक्षा मरना अच्छा है किन्तु ऐसा मरण अच्छा है जिसके बाद फिर कभी जन्म नहीं हो। क्योंकि पुनः जन्म लेने से वह सुख तुन्हें न मिलसकेगा जो अलौकिक है और जिसे तुम चाहते हो। किन्तु भैया बहुत से तो शरीर को आत्मा समझ बैठे हैं। और वे निरोगता, एवं अनेक प्रकार के इन्द्रिय विषय सुखों की याचना करते हैं सो भैया आत्माभी तो एक भगवान है तो वे जैसा उसे चाहते हैं तो उन्हें वसा ही मिलता है आर्थात् वे शरीरकी चाह रखने दो अतः उन्हें मरण के बाद फिर शरीर मिल जाता है इसी सुख को मोही जीवों में वास्तविक सुख समझ लिया है अतः हे सुखार्थियो इस मिथ्याभाव विभाव को छोड़ स्वाभव में आओ और इन विषय सुखों की होली जलाओ करने योग्य कार्य आस्तिकके होता हैं जो अपनी यथार्थ स्वभाव को माने सो आस्तिक है। अहा सम्याटष्टि कितना बड़ा वैभवशाली है अनन्त सुखके भण्डारको अपने हाथ(दृष्टि) में सम्भाल लिया। आस्तिक का भावार्थ है सच्चा व्यवसायी, सेठ सम्राट्। ऐसा कहा जाता है कि वेदको मानने वाला आस्तिक है और वेदको न मानने वाला है नास्तिक। भैया! यहीं ठीक भी है। वेद का अर्थ होता है ज्ञान। विद् जाने धातुका यह रूप है। आर्थात् अपनेको ज्ञान स्वभावी मानना ही आस्तिकता है। और जो आत्मा को ज्ञान स्वभावी नहीं मानते वे नास्तिक हैं। कितना सरल उच्च

काम है, यहां विश्राम ही विश्राम है अपनी और आत्माका ज्ञान स्वभावतो स्वतः सिद्ध है। बताओ आत्माको किसीने बनाया ? क्या किसी ईश्वरने इसे बनाया है जिसने इसे बनाया है तो यह बताओ उसे किसने बनाया यदि उसका भी बनाने वाला स्वीकार करदो ऐसे ही कर्तृत्वके प्रश्न उठते रहेंगे और आपको कोईन कोई स्वंदसिद्ध मानना पड़ेगा साथ ही साथ अनवस्था दोषभी आजायेगा स्वंय निर्माण मानते हो तो आत्माको ही स्वयं निर्मित मानने में क्या आपत्ति है। अतः आत्मा की तथा यह भी सोचे कि आत्मा बनाया गया तो किस वस्तु से देखिये यह बनाया जाता है तो मिट्टी से। यदि यह आत्मा अन्य द्रव्य से बनाया गया तो वह भी अन्यसे बनाया गया होगा। तो इस तरह उपादानोंकी ही पूर्ति न हो सकेगी प्रकृति की बात का तो प्रसंग न आयेगा। वैज्ञानिक शैलीभी यही कहती है कि प्रत्येक सत् अपने आप स्वत सिद्ध है यह आत्मा स्वयं सत सत्ता स्वतः सिद्ध है। वह आत्मा स्वतः परिणमत शील भी है— आधुनिक विज्ञान भी इसे सिद्ध करता है। सर्व पदार्थों का परिणमन स्वतः और स्वयं में ही होता है।

आत्मा स्वतः जानने एवं देखने वाला है, अकेला है, अमूर्तिक हैं चेतन है, चित्प्रतिमा स्वरूप है, रूप रस छन्द आदि से रहित है जानने देखने वाला अपूर्व शक्तियों का भण्डार है। इस में श्रद्धा करने से, उसका आस्तित्व मानने से आत्म वैभव प्रकाशित है। आत्मा में श्रद्धा रखने से ही हम सुखी होते हैं।

जब तक यह आत्मा पर पदार्थ का कर्ता स्वयं को मानता रहता है तब तक पर पदार्थों के साथ राग द्वेष होने के कारण वह सुखी नही हो पाता। किन्तु जब वह परपदार्थों का आलम्बन छोड़ अपने को अपने में पाता है, किसी की उसे चाह नहीं रहती स्वयं को स्वयं का

कर्ता और स्वकृत कार्योंके फलका भोक्ता मानता है। तथा अद्वैत की दृष्ठि से पर्यायको विलीन करके निज चैतन्य की अनुभूति में जब वह लग जाता है तब वह स्वयंको सुखी पाता है। सब जीव एक समान है, स्वभाव की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं, पर्याय की अपेक्षा छोटा बड़ा, विद्वान मूर्ख आदि अनेक भेद आजाते हैं। ये पर्यायें नश्वर हैं—क्षणिक पर्यायें पाकर अपने को छोटा बड़ा मत मानों अभी बड़े हो तो दूसरे पनमें छोटे भी हो सकते हो। तो इन क्षणिक पर्यायोंमें सुख नहीं है। सुख है आत्मा ज्ञान प्रगट होनेमें। सुख वह है जिसके पश्चात् दुःख होगा ही नही।

एक राजने दूसरे राजा पर चढ़ाई की और उसे तथा उसके सब कुल वालों को मार डाला। राजाको इस अपनी बात पर खेद हुआ कि उसके राज्य रक्षा करने वाला कोई न रहा किन्तु भाग्यवंश श्मशान में ही एक व्यक्ति उसके कुटुम्ब का मिल गया। राजा ने उसके पास जाकर उसे राज्य देनेके लिये कहा पर उसने मना कर दिया। तब राजाने बहुत समझाया और वह न माना—तो राजा बोला जो तुझे चाहिये तो सो मांगले। वह बोला लदि देना ही चाहते हैं तो सुनो। (१) ऐसी जवानी जो जिसके बाद कभी बुढ़ापा न आये (२) ऐसा जन्म दो कि मरण न हो फिर कभी (३ ऐसा सुख दो जो दुःख न देखा जाय। इसे सुनकर राजा चुपचाप रहा। तो भैया! जिसे किसी—बात से प्रयोजन नहीं उसे न तो राज्य अच्छा लगता है और न ये पैशाचिक दुःख। पर पदार्थों पर दृष्टि डालने से दुःख होता है और स्वानुभव से सुख मिलता है। स्वके अनुभव में आ मिलता और अशान्तिका लेश नहीं होता वह तो जानन मात्र अवस्था है। उस आनन्दका स्वाद ही दूसरा होता है कि उसके अस्वादन के बाद किसी अन्य आराम की आवश्यता ही प्रतीत नही होती। इन इन्द्रिय सुखों पर वे ध्यान नहीं देते। इस शरीर कि अनित्यता

अशरणता, अपवित्रता उनके दृष्टिगत होती है। यह शरीर मल का घड़ा है—जैसे 'सुवरन कलश सुर भरा साधु निन्दे सोय' वैसे ही ऊपरसे चिकने कपड़े इस शरीर की घृणित अवस्था देखकर साधुगण उसकी निन्दा करते हैं। कवि दौलतराम जी ने शरीरकी अशुद्धिताका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है:—

"पल रुधिर राधमल थैली, कीकश वसादितै मैली।
नव द्वार बहै घिनकारी, असि देह करै किम यारी॥

अतः ऐसा शरीर प्रेम करने योग्य नहीं हैं। इससे प्रेम में कर्म बन्ध है, उसकी मूर्च्छा के लाभादि क्यों निर्जरा। शरीर ही क्या? सुदृष्टिको किसी पर पदार्थमें रति नहीं होती। लोग सुन्दर २ दृश्य देखने को बड़ा श्रम करते हैं, परन्तु भैया संस्थान रूप आदि जड़ पर्याय के अतिरिक्त स्कंधोंमें और होता ही क्या है?

हम तीर्थयात्रामें मात्र आकृतियां या रचनाएँ देखने नहीं जाते किन्तु यह देखने जाते हैं कि किसी भांति उनकी मुद्रा देखकर हमारा आत्मज्ञान जाग जाये और हम भी उनके सदृश बननेका प्रयत्न करें। सम्यग्दृष्टि जो कि सदा उनकी वैराग्यमूर्ति द्वारा वैराग्यकी शिक्षा लेना ही उद्देश्य रहता है। संगीतका भी आत्मापर बहुत प्रभाव पड़ता है। जो भक्तिपूर्ण सगीतका स्वर आत्मा को स्पर्श कर निकलता है सम्यग्दृष्टि जीव उसे सुन्दर होनेकी वजहसे नहीं सुनते किन्तु उनके आत्मतत्वका चिन्तन होता है उस आत्मज्ञान को जाननेके उद्देश्यसे उसे सुनते हैं। ज्ञानी को किसी इन्द्रियविषयमें रुचि नहीं है। देखो भैया इन्द्रियसुख के हेतु ही परिवार मित्रमंडली आदि बनते हैं।

एक बुढ़ियाके घर वाले मर गये और वह अकेली बची, तो वह रोने लगी, सरपंच इकट्ठे हुए और प्रमुख ने उसे रोने से मना करते हुए पूछा तुम्हें क्या दुख है—बोली, हजारों की यह जो धन सम्पत्ति है उसे कौन सम्भालेगा। मुखियाने उत्तर दिया मैं सम्हालूंगा माँ।

वह फिर रोई सैकड़ों गाँव लगे हैं उनका प्रबन्ध कौन करेगा ? प्रमुख ने आश्वासन देते हुए वह भार भी अपने ऊपर ले लिया। अन्त में रोती हुई बोली कि चार-छः करोड़ का जो कर्ज है उसे कौन चुकायेगा ? तब प्रमुख बोला—क्या सभी का ठेका मैंने ले रखा है ? ये पंच लोग भी तो कुछ सम्हालें। भैया ! अच्छे २ के सभी साथी हैं, अनिष्टता में सब साथ छोड़ देते हैं। सबसे बड़ी आपत्ति तो मूर्च्छा है। अच्छा जरा विचारो तो सही आप किन किन इन्द्रियोंके विषयों को सुगमतासे छोड़ सकते हैं। शायद रसना विजय कठिन मालूम पड़ता होगा। भोजन करनेमें भी हमें राग न होना चाहिए—हमें तो उदर पूर्ति एक गड्ढे के समान करना चाहिए। खाते समय यह भी मालूम न रहे कि हम क्या खा रहे हैं और उसका स्वाद कैसा है ? सहारनपुर में हम एक बार रसगुल्ला खा रहे थे कि यकायक यह विचार करके कि ये तो हमें छोड़ना ही पड़ेंगे फिर उनको क्यों खाना। कहीं हम और गतिमें होते—या ये तो क्या हम ऐसे खाते भी—इत्यादि स्वरूप विचारते २ आँखों में आँसू झलक आये। परोसनेवाली बाई ने कहा कि क्या रसगुल्ले कड़वे हैं ? हम क्या कहते। श्रीपाल गम्भीर थे उनका ६ रसोंका त्याग था किन्तु वे ऐसे चबाकर खाते भी जैसे उन्हें षट् रसों का स्वाद आ रहा हो। देखो भैया ! जैसे घरमें मृत्यु हो जानेपर खाना हमें सुस्वादु भी अच्छा नहीं लगता—या ऐसा होता है मात्र क्षुधातृप्तिके लिए खा लेते हैं वैसे ही सम्यग्दृष्टि कदापि भोजनमें प्रेम नहीं करता क्योंकि उसे मोक्षमार्गमें पीछे रह जाने की चिन्ता है।

आत्मा अन्य सब पदार्थों से भिन्न है क्योंकि सब पदार्थों में ज्ञानशक्ति नहीं है और आत्मामें स्वसंबन्ध शक्ति पाई जाती है—अतः उसकी भिन्नता स्पष्ट है। मैं ज्ञानमय हूं ज्ञान ही मेरा कार्य है इस भावना से बढ़कर विकल्प से भी दूर होकर अभेदस्वभावी आत्माका अनुभव करना ही हित है।

अपने आपकी स्वतन्त्र सत्ताका जिसे विश्वास हो गया है, जो अपने आपमें स्वानुभूति किया करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव आस्तिक्य गुणवाला होता है। जिसने संसारके समस्त पदार्थों से नाता तोड़ लिया हो, जो सदा अपनेको जाननेकी क्रियामें रत है, तथा जिसने स्वयंके स्वतन्त्र स्वरूप को जान लिया है, जो अनेकानेक विकल्प-संकल्पोंका परित्याग कर आत्माके विषयमें ही सदा मनन एवं चिन्तवन करता रहता है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव आस्तिक्य गुण वाला होता है। जीव और पुद्गलके स्वतन्त्र भिन्न भिन्न अस्तित्वको समझने वाले, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है यह जानकर जिसने सांसारिक गृहजाल एवं मोहमाया को मिथ्या समझकर आशाशयन, इन्द्रियनिग्रह आदिमें जिसने प्रवृत्ति की है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव आस्तिक्य गुण वाला होता है।

आत्माके विषयमें अनेक मत हैं—कोई कहता है कि आत्मा सर्वव्यापक है और जो जीव हैं वे उसकी पर्यायें हैं—ऐसा मानने वाले भी आत्माकी सर्वव्यापकता का प्रतिपादन कर थोड़ा बहुत आनन्द तो पा ही लेते हैं। "मैं सर्वव्यापी हूं—मैं सर्वव्यापी हूँ" आदि का निरन्तर ध्यान करते-करते वे भी थोड़ा बहुत आनन्द प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार अद्वैत, द्वैताद्वैत, चित्राद्वैत एवंब्रह्मोऽहं आदि विविध सिद्धान्तों को भी उसीमें एकाग्रचित्त हो जाने से आनन्द तो मिलता है किन्तु स्वाभाविक आनन्द, स्वानुभूति, आत्मनिर्मलता, सहजसुख नहीं मिल पाता। ज्ञानाद्वैत वालोंका कहना है कि जो कुछ हम देखते हैं पुरुष, स्त्री, पशु, पक्षी पहाड़ एवं अन्य समस्त जो चेतना चेतन पदार्थ हैं वे सब ज्ञान ही ज्ञान हैं। ज्ञानके सिवाय वे और कुछ नहीं हैं अतः मिथ्या है। हम पदार्थों को नहीं जानते किन्तु उनके विषयमें ज्ञानकी रूपता को ज्ञान करते हैं—उनका ज्ञेयाकार ही हमारे ज्ञानमें आ रहा है। जैन सिद्धान्तके पदार्थकी ज्ञेयाकारिता रूप किरण से यह सिद्धांत निकाला गया है किन्तु स्वयं की दृष्टि न होने से स्वानुभूति

का आनन्द इस मन्तव्य में नहीं हो पाता पदार्थ को मात्र जानते रहना कि यह मुझ से भिन्न है मैं उसका नहीं और न यह मेरा है—इस प्रकार मनन करते रहने से पश्चात् परोपयोग छूट कर चैतन्य भावयम निजतत्व के अवलम्बन से स्वानुभव होता है और उसी में वास्तविक आनन्द है। जहाँ स्वानुभूति है वहीं आस्तिक्य गुण है।

यहां पर कोई प्रश्न कर सकता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान तो सिर्फ केवल ज्ञान है और अन्य सब ज्ञान तो परोक्ष हैं। आत्मा का ज्ञान मति श्रुत आदि से ही हम करते हैं—फिर यह क्यों कहा जाता है कि आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जाना जाता है। आप क्या जान सकते है कि प्रदेश कितना २ छोटा या कितना बड़ा है कभी प्रदेश प्रत्यक्ष भी हुआ ? अतः यह कथन ठीक नहीं है। इसके उत्तर में मोटी बात तो यह बात हैं जब परपदार्थों को जानते हैं तब परोक्षज्ञान से जानते हैं और जब आत्मा को जानते हैं तो वह ज्ञान मोहनी आदि उपशम से प्रत्यक्ष कहलाने लगती है दूसरी बात यह है कि ज्ञाता ज्ञान से ज्ञान को समझता है आत्माके सर्व प्रदेशों में ज्ञान करता है—ज्ञानसे ज्ञान का अनुभव होता है तथा सर्व गुणोंका भी अनुभव होता है। आत्मा के एक गुणका अनुभव होनेसे वे सब गुणों का अनुभव होता है क्या एक गुण सब गुणां में रहता है ? नहीं एक गुण सब गुणों में नहीं रहता। क्योंकि गुण द्रव्य के अनश्रित होते है फिर भी एक गुण समस्त द्रव्य में रहता है और सर्व गुण भी वहीं रहते हैं सबका वहां अभेद है जैसे तो सब गुण स्वलक्षण विभिन्न हैं किन्तु आधार की अपेक्षा से वे द्रव्य से भिन्न नहीं हैं अतः सर्व गुण सर्व गुणों में हैं अच्छा देखिये "ज्ञान सूक्ष्म है। या स्थूल ? आप कहेंगे कि ज्ञान सूक्ष्म है ज्ञान सूक्ष्म है" यहां सूक्ष्म ज्ञान का विशेषण है और ज्ञान विशेष्य है। ज्ञान ज्ञानरूप है—रूपादि रहित है न वह स्थूल नहीं रहता है यहां देखलो सूक्ष्मत्व ज्ञान में रहता एक गुण सब गुणों में बन जाता है तो ज्ञान है

या अन्य गुण पृथक से सद्रुत नहीं है किन्तु आत्मा सद्रुत है। ज्ञान आत्मा से अभिन्न है क्या ज्ञान अस्ति है हां है और आत्मा भी अस्ति है देखलो ज्ञान में अस्तित्व है ज्ञान ज्ञानमय है और आत्मा भी ज्ञानमय है आत्मा और ज्ञान का अविनाभावी सम्बन्ध है जैसे तो अविभाव प्रतिच्छेद भी दूसरे अविनाभाव प्रतिच्छेद नहीं होते। यदि ऐसा कहीं होता तो एक में एक एक में एक इस प्रकार मिलकर अनन्तानन्त होकर भी एक हो जाते जैसे ही एक गुण यदि दूसरे गुण रूप हो जाता तो अनन्तानन्त गुण भी परस्पर मिलकर एक हो जाते। ज्ञान ज्ञान स्वरूप है—अन्य रूप नहीं हो सकता फिर भी सर्व गुणमय अभेद स्वरूप उत्पादव्यय ध्रौव युक्त यह मैं आत्मा हूं ऐसा अपने आप का अस्तित्व समझना यह आस्तिक्य है अतः ज्ञानर्जन द्वारा आत्मा को अलोकित कर स्वानुभाव प्रतेत्त करना आस्तिक्य का लाभ है और जहां स्वानुभाव न हो सके वहाँ आस्तिक्य भी नही होता। प्रशम संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्यादि गुण मिथ्या दृष्टि में पहुँचाते हैं तव प्रशम आभास संवेग आभास, अनुकम्पाभास, और आस्तिक्या-भाव रूप हो जाते तथा सम्यग्दृष्टिमें यही गुण प्रशम 'संवेग अनुकम्पा एवं आस्तिक्यादि रूप हो जाते हैं। ज्ञानके द्वारा ज्ञान को अनुभव में लाना चाहिये आस्तिक्य के विपरीत वृति वालों के स्वानुभव नहीं होता।

जो ईश्वरको संसार का कर्ता मानते हैं उनके आत्मानुभूति नहीं हो सकती। जिसे अपना स्वयं का परिज्ञान होता है उसे स्वानुभूति होती है स्वानुभवी है अलौकिक सहज आनन्द को प्राप्त करता है।

मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ जानन देखन हारा हूं, सब चेतना चेतन पदार्थों से भिन्न अतः अकेला हूँ, रूपरादि रहित है, अमूर्तिक हूं, चैतन्य मात्र हू शुद्ध ही मेरी स्वाभाविक प्रवृति है अनन्त शक्तियों का

अभिन्न पिण्ड हूँ मैं स्वयं हूँ, स्वय था, कभी कभी उत्पन्न हुआ होऊँ ऐसी बात नहीं है तथा ऐसो ही शुद्ध निर्विकल्प, शान्त स्वभावी मैं आत्म तत्व हूँ ज्ञान दर्शनमय हूं किन्तु कर्म उपाधि के सयोग वंश मैं आदि काल से विविध गतियों में जन्म मरण के दुःख भोग रहा हूँ, मेरा यहाँ कोई रक्षक नहीं हैं—ऐसा असहाय हूँ अनाथ हूं, संसार में ये जो अन्य पदार्थ मुझे दिखते हैं ये मुझे संसार गर्वमें गिराकर दुःख देने वाले हैं मुझे ये पकड़कर गिराते हों ऐसी तो बात नहीं किन्तु मैं स्वयं ही इनका आश्रम पाकर पत नोन्मुख होता है, अब मुझे अपने स्वयंभ्यू आत्मानंद की स्मृति आई है अतः मुझे इन सबका मुख मोड़ कर मात्र आत्मध्यान से नाता जोड़ना चाहिये आत्मचिन्तवन से ही मुझे आत्म अनुभूति होगी और उसी से मुझे अलौकिक आनन्द प्राप्त होगा।

मैं अभी तक बहुत जगह घूमा, सुख का अन्वेषण किया किन्तु मुझे कहीं सुख न मिला—अब मैं सर्व विकल्प त्यागकर सब जगह से ममत्व छोड़कर अपने में ही सुखी होऊँ। भैया : सुखके अर्थ अनेक उद्यम कर डाले परन्तु सुख नहीं मिला, हैरानी तो मान ही गये होगें अब एक काम करो—परका विकल्प त्यागकर एकान्त जगहमें स्थिर होकर ध्यान करो यह विचारों (१) में अमूर्त ज्ञान मात्र हूं, में अमूर्त ज्ञान मात्र हूं। जैसे—इस जगह का आकाश है—वह अमूर्तिक है—वैसे ही में भी अमूर्तिक हूं (२) किन्तु ये तो जड़ है मैं चेतन हूं आत्मा हूँ ज्ञाता दृष्टा दर्शन ज्ञान स्वभावी अतः मैं इससे विशेष अधिक हूँ—मैं अमूर्तिक होनेपर भी ज्ञानस्वभावी हूं मैं रागी हूँ और न द्वेषा न कोई इष्ट हूं और न अनिष्ट, संकल्प विकल्प करना भी मेरा काम नहीं है, मैं केवल ज्ञानमें देखन हारा हूं। ज्ञानमात्रा की क्या स्थिति होती है इसका स्थूल चित्रम इस दृष्टान्त से कीजिये।

कि जैसे आप बाजार से जा रहे हैं और वहाँ अनेक मनुष्य आते जाते हैं—तुम उन्हें देखते भी हो, पर उन पर तुम्हारा ध्यान विशेष रुपेण केन्द्रिय नहीं होता किन्तु यदि तुम्हारा कोइ परिचित व्यक्ति मिल जाता है तो तुम्हारा ध्यान एकान्त उसकी तरफ खीच जाता है—वैसे ही अन्य संकल्पों के तुम सिर्फ जानने देखने वाले बने रहो इस रीति से स्वानुभूतिमें एक दम लग जाओगे कि फिर तुम्हें अपनी शरीरकी स्थितिमें कहाँ हूँ, कौन हूं, का भी ध्यान न रहेगा मात्रमें ज्ञाता द्रष्टा हूँ ज्ञान स्वभावी है अमूर्तिक हूँ चेतन पदार्थ हूँ—इसका स्मरण करो —तब तुम्हें होगी आत्माकी भूति और मिलेगा सचा सुख। यही वृति ज्ञानकी वृति है।

आप शायद यह सोचते हों कि यदि ध्यान लग गया और आत्मानुभूति की बात बैठ गई तो मेरी स्त्री पुरुष सब छूट जायेंगे—में भला ही सुखी रहूँगा किन्तु फिर उनका क्या होगा। तो भैया! यही बात ध्यान में रखो कि यदि उनके पुन्यका उदय होगा दुःख भी सुख रूप हो जायगा और यदि पापोदय है तो तुम्हारे परिश्रम से भी कुछ उनका हित नहीं हो सकता तथा आपके द्वारा ही परिवार को सुख हो रहा हैं इस श्रद्धा में तो स्वानुभावकी मात्रता ही नहीं होती। अतः भैया! इन सब विकल्पों को छोड़कर आत्मा साधन में आओ स्त्री पुरूष ही के छूटनेसे यदि तुम्हें सच्चा अलौकिक सुख मिलता है तो क्या हानि है। अपनी आत्माके विषयमें एकाकी श्रद्धा रखने वाला, अपने को अकेला मानने वाला, औपाधिक भावों से शून्य ऐसे में हूं, जो नाना पर्यायें हो रही हैं यह पुद्गलका काम हैं—यह मेरा स्वभाव नहीं है किन्तु पुद्गलके सम्बन्ध होनेके कारण यह विकृति रूप मेरा हो रहा है इनका भावसे अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है। मेरा ज्ञान स्वभाव कभी विकृति नही होता किन्तु श्रद्धा और चाहिये ही विकृत

होती है। ज्ञानस्वभव कर्म के उदयमें ज्ञान में मन्दता तो अवश्य आजाती है पर उसमें विकार नहीं आता। वह तो शुद्ध स्वभावी है विकृताऽवस्था उपचारसे होती है यद्यपि मैं दुःखी सुखी होता हूं किन्तु यह मेरा स्वभाव नहीं है। यदि राग हो तो होने दो उसे सिर्फ जैसा की तुम्हारा जानने का स्वभाव है, जानते देखते रहा। जैसे कोई रोता है, उसे तुम सिर्फ जानते ही हो उसके रोनके दुःखका अनुभव तुम्हें नहीं होता वैसे ही अपने राग द्वेष हो तो होने दो उसे तुम सिर्फ जानने देखने वाले मत बने रहो। जैसे किसी को बुखार आया और तुम उसके केवल देखने वाले बने रहते हो तुम्हें उसके बुखार का अनुभव नहीं होता तो भैया! वैसे ही तुम्हें बुखार हो किन्तु तुम्हें उसका अनुभव न हो तुम केवल उसके ज्ञाता द्रष्टा बने रहो–यदि ऐसी दृढ़ता आजाय तब समझो तुममें आस्तिक्य गुण दृढ़ता से आगया।

जब किसी की मृत्यु हो जाती है तब उसकी मां मोह के कारण उसका शव उठाने नहीं देती—रोती है और उसे पकड़ लेती है। उसे देखकर दूसरे लोग उसके मोहपर मन ही मन हंसते हैं—तो भैया वैसे ही अपने में राग, द्वेष, क्रोध लोभ आदि होने पर उनमें रतन हो जाओ किन्तु जानने देखने को बनो हो। भेद विज्ञान द्वारा स्वपन का भेद समझलो—भैया! उसीमें कल्याण हैं में स्त्री पुत्र आदिसे जुदा हूं, न मैं रागी हूं, न द्वेषी हूं, मैं वीत रागी हूं ऐसा भेद विज्ञानका जिससे अपने में तन्मय हो जाओ–बस यही दृष्टि लाने की आवश्यकता है रागआदिमें तुम्हारी अधिकारिता नहीं है किन्तु जानने देखनेमें तुम्हारी अधिकारिता है। जैसे सिनेमा का चित्रपट चित्रका आधार है परन्तु चित्रपटमें चित्रोंकी अधिकारिता नहीं तुम्हारा स्वभाव जानने का हैं तुम रागआदिके भी ज्ञाता रह सकते हो। जिसमें आत्माका आस्तित्व है जो निज आत्माको मानता है वह आत्मिक है। यह अस्मि से आस्मिक बन जाता हैं किन्तु व्याकरण से इसका आस्तिक रूप

सिद्ध होता है वेदको मानने वाले को आस्तिक कहते है किन्तु वास्तव में यह बात सहीयों है कि वेद का अर्थ ज्ञान है जो निजको वेदको रूप मानता है वह आस्तिक है। परदृष्टि वाले अन्य कोई आस्तिक नहीं हैं जब उन्हें अपनी आत्माका अस्तित्वका पता नहीं वे कैसे आस्तिक है— जैन धर्म आत्मा के स्वरूप का विशद विवेचन है यथार्थ निज स्वभाव को मानने वाले ही सच्चे आस्तिक हैं। क्योंकि वह आत्माके अस्तित्व को स्वीकार करते है ईश्वर बड़ा है पर हमारे लिये तो न कुछ है क्योंकि यह हमारा कुछ सुधार बिगाड़ नही सकता—बस निज अनन्त ज्ञान सुखका प्रतिक्षण भोक्ता है। किन्तु परदृष्टि वाले तो ईश्वर को ही सब कुछ मानते है अतः वे आस्तिक नहीं हैं—आत्मज्ञानी ही सच्चे आस्तिक हैं।

जैसा स्वरूप भगवानका हैं वही स्वरूप मेरा है हम अपने परिणामों में से ही परिणमते हैं भगवान हमारा कुछ भी परिणमन नही करते—हम स्वयंके भगवान हैं भविष्य लोक में भी तो कहते हैं कि मनुष्य स्वयंका विधाता है। आप मन्दिरमें विनती करते हैं तो क्या भगवान की विनती करते हैं—क्या भगवान की पूजा करते हैं— नही ! हम उनके सहाने अपनी ही गुण स्तुति और अपनी ही पूजा करते है। यदि कोई भगवानकी निन्दा करते हैं तो क्या वह अपनी निन्दा करते हैं-नहीं हम अपनी ही निन्दा करते हैं किन्तु हम उपचार से कहते हैं कि हमने भगवान की पूजा की हमने अपने भगवान की स्तुति की।

अपने आत्मतत्व की ऐसी महिमा स्वीकार कर यही चिन्तवन करो कि मैं अमूर्त, ज्ञान, मात्र, रागद्वेषी रहित, रूपरस वर्णआदि रहित, अहेतुक चैतन्य मात्र, ज्ञान दृष्टा, जानन देखन हारा, स्वभव प्रकाशक हूं—मैं स्वयं का करने वाला हूँ—ऐसी मुझमें स्वाभाकि ऐसा सामर्थ्य है। हम अपने राग के राजकालमें परिणामी हैं परन्तु अधिकारी नहीं

है अधिकार तो मेरा निरुपधिभाव पर है जब हम अपने स्वभावको भूलकर राग आदि को बल देते हैं कर्ता भोग भी हम ही हैं। मिट्टी घड़ेकी स्वामी उपाचार से है परन्तु कुम्हार गोल चपटा लम्ब चौड़ा कर देता हैं वह निमित्त कारण होता। निमित्त के बिना उपादान की विभाव-विकार रूपकी सामर्थ्य प्रगट नहीं हो पाती। अतः रागी द्वेषी होना मेरे चरित्र गुणका ही विकार होने पर भी मेरे आधीन नहीं-कर्म के अधीन है अतः मैं स्वयं रागोद्वेषी नहीं होता और न रागीद्वेषी होना मेरा स्वभाव ही है। किन्तु कर्म के निमित्त से रागद्वेषादि रूप मेरी प्रवृत्ति हो जाती है निमित्त दृष्टि से देखने का लाभ भी लो। राग आदि पौद्गलिक है किन्तु जानना स्वभाव है। मै अपना ही काम करूंगा उपाधि से तो कार्य होता हो हो ओ परन्तु ज्ञाता ही रहूंगा।

आस्तिक्य गुण स्वात्मा की अनुभूति से माना जाता है। पर पदार्थों की अनुभूति से, उनके जानने से आस्तिक्य गुण नहीं होता। जो पदार्थ जैसा है उसमें हम कुछ परिवर्तन नहीं कर सकते और न उनमे राग करने का आत्मा का स्वभाव ही है। आत्म को सुख सदा अपने स्वाभाव में मिलता है, पर वस्तुओं के मोह में सुख कहां है ? परका ज्ञान हो न हो पर आत्मा की अनुभूति होना आवश्यक है। स्वात्मा के अनुभव मे ज्ञान प्रगट हो जाता है। ज्ञान में ही सुख है यह बात दूसरी है कि सबको जानने से मोह के कारण सुख प्राप्त न हो। क्योंकि सुख तो वीतरागता में है। भगवान को सुख मिला दूसरों को जानने से नहीं किन्तु अपने जानने से-वीतराग विज्ञान से ही उनके राग द्वेष दूर हुये और सुख शान्ति का समागम प्राप्त हुआ। पदार्थों का ज्ञान तो हो पर राग-द्वेष रहित हो, राग-द्वेष के सद्भाव में स्वानुभूति नहीं हो सकती। बिना स्वानुभूति के आतिस्क्य गुण नहीं हो सकता क्योंकि स्वानुभूति का नाम ही आतिस्क्य है।

आत्मा का अनुभव करने में अपनी रक्षा है, आत्मा की ज्ञाति में दुख नहीं। भाव सदा आत्मानुभव में लगा रहना चाहिये। भाव तभी लग सकता है जब किसी प्रकार का मोह न हो –तभी आत्मानुभव हो सकता है आत्मा ज्ञान मई है पर इस मोह और मूर्च्छा के कारण वह विकास मन्द पड़ जाता है और इस प्रकार वह आत्म अनुभव से दूर कहीं और भटक जाता है। अपने आपको अपने अभनुव से दूर रखना अपने आत्म भगवान के प्रति अन्याय है। अपनी आत्मा की अनुभूति होना आस्तिक्य है। आस्मिके अर्थात् 'मैं हूँ" ऐसा ज्ञान, दृढ़ प्रतीत और निश्चल श्रद्धा होने से आत्मा का आस्तित्व प्रतीत होता है और उत्तरोत्तर क्रमशः आस्तिक्य गुण प्रगट हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को जाति रूप कैसे सब की ज्ञाप्ति रहती है। जैसे ६ द्रव्य है वह उन्हें जाति रूप से जैसे जीव पुद्गल धर्म अधर्मादिरूप जानता है। इस जाति रूप ज्ञान ग्रहण में सबका ज्ञान हो जाता है। जैसे उसने पुद्गल का जाति रूप से ज्ञान किया तो पुद्गल में तो सभी द्वीप-समुद्र, पृथ्वी, जितने भी रूप रसादि वान पदार्थ है सबका ज्ञान हो जाता है —वह इन सबका ज्ञाता दृष्टा तो है पर उनसे उसे राग नहीं उनसे उसे द्वेष नहीं। वह पदार्थों को एक एक करके नहीं जानता तो भी जान गया। एक एक सब टुकड़े भी ज्ञान में आये परन्तु जिस स्वरूप से उसने सज्जातीयता के अर्थ जाने उसमें सज्जातीय सर्वदा ज्ञान हुआ। जैसे कोई मैसूर देखने गया तो उससे कोई कहें कि कृष्णसार अवश्य देखना। किन्तु जिसे आत्मरुचि है वह यही विचारता है कि क्या देखना पौद्गलिक पदार्थों को? उसमें क्या होगा? बिजली लगी होगी, किन्तु मुझे उससे क्या प्रयोजन? इस प्रकार वह स्वयं प्रश्नोत्तर करता हुआ स्वयं

में स्वयं के लिये शान्त होना है। वह सोचता है इन पद्गल पिण्डों का क्या देखना ? ये तो मात्र विभाग बढ़ाने वाले हैं मेरा हित तो कर नहीं सकते। मेरा हित तो मुझ म ही हो सकता है। उसी प्रकार धर्माधर्माकाशादि द्रव्यों को भी वह सामान्य रूप से जानता है। अनेकानेक वस्तुओं को देखने की उसकी इच्छा या कौतूहल नहीं होता वह उसका समाधान अपने ही देखने का प्रयत्न करता है। और उपयोग लगने पर सफल होता है—शान्ति पाने में, सुखी होने में।

सम्यग्दृष्टि जीव सिर्फ जान लेता है पर वह विशेष रूपेण स्वयं को जानता है। तुम पूछो यह रेडियो कैसे बना ? यह कहेगा पता नहीं। तुम कहोगे फिर कैसा ज्ञान है यह। भैया। ज्ञान तो वह है जिससे निराकुलता मिले। पर पदार्थों के ज्ञान से तो आकुलता ही बढ़ती है अतः परका जानना ज्ञान नहीं है मोह में जितना अधिक परका ज्ञान करोगे –उतने दुखी होगे। जब कम जानते थे तब कम इच्छा थी, तब कम जानने का अभिमान था, मात्सर्य भी कम था और अकिन दाह भी कुछ पग पीछे थी हमारे। किन्तु ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ा त्यों त्यों और और जानने की इच्छा हुई, आकुलता आई, दुख हुआ। सच तो यह है कि हमने अपना ज्ञान नहीं बढ़ाया, अपने बारे में नहीं सोचा किन्तु परके सम्बन्ध में ही हमने जाना– परके ज्ञानसे कभी सुख नहीं हुआ ? सुख हुआ सदा अपने ज्ञानसे आस्तिक्य गुण वाला जीव तो सदा स्वयंको स्वकी चतुष्टय से अस्ति और पर को स्वके चतुष्टयसे नास्ति। इसी प्रकार परको परके चतुष्टय से आस्ति और सबके परके चतुष्टियमे नास्ति समझता है। वह विचारता है मैं परिणमता हूँ, स्वयंके परिणमन से परिणमता हूं, मेरा कोई अन्य पदार्थ परिणमन नही कर सकता और न मैं ही किन्हीं

पदार्थोंमें कुछ परिणमन कर सकता हूं। यदि मैं दुःखी हूँ तो अपने परिणमन से ही दुःखी हूँ, कोई पदार्थ मुझे दुःखी कर सकता है ऐसी कोई बात नहीं। मेरे पूर्वकृत कर्म फल दुख के कारण हैं इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव किसीको, यह मुझे ऐसा कर सकता है, नहीं मानता जहां यह दृष्टि हुई, कि फिर दूसरोंके सम्पर्कमें आने पर भी वह कभी आत्म स्वभावसे च्युत अर्थात् क्रोधी, लोभी, मोही नहीं होता वह अपने पर ही क्रोध करता हुआ कहता है—क्या तुझको नरक यातनाओं का स्मरण नहीं निगोद के कष्ट इतने जल्दी भूल गये। अरे! चेतन! अब तो आत्माकी अनन्त शक्तियां पहिचानो और इन कर्म पुद्गलोंके स्वामित्व की कल्पना भी न करो सम्यग्दृष्टि क्रोधात्मक प्रसंग आने पर भी क्षणिकमें पुनः अपने आत्माराममें आ विराजता है। जैसे कोई मेला गया और अपना डेरा भूल गया तो वह उसके अज्ञान में यहां वहाँ देखत फिरता है, भटकता है, और दुःखी होता है किन्तु जिसे अपने डेरेका ध्यान है वह कभी यहां वहां आता है फिर अपने डेरेमें आ जाता है और सुखी रहता है उसी प्रकार जो अपने आत्म रूप डेरेको इस संसाररूप वृहद् मेले में भूल गये हैं वे उसके अज्ञानमें दुखी है किन्तु जिन्हें अपने आत्मा रूप डेरे का ध्यान है वे दुखी भी नहीं होते। अतः भैया! अपनी आत्मा का ध्यान करो वही तुम्हें देगा जो तुम मांगोगे, जो कुछ चाहोगे। स्वानुभव में चाह नहीं रहने से सर्व अर्थ की सिद्धि है।

सम्यग्दृष्टिके प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण होते हैं संवेग माने धर्म और धर्मात्माओं से प्रेम होना, अनुराग होना यद्यपि हम किसी से अनुराग या द्वेष करके किसी का कुछ सुधार या बिगाड़ नहीं कर सकते। हम अपने परिणामोंमें रागोत्पत्ति द्वारा या द्वेषाकारण द्वारा कर्म बन्ध ही किया करते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि के धर्म और धर्मात्माओंके प्रति अनुराग साहजिक ही होता है।

विशेष राजका उदय रहने तक जैसे एक मां अपने पुत्रके पेशाबसे आद्र स्थान पर स्वयं सो जाती है किन्तु पुत्रको अच्छे सूखे स्थान पर सुलाती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवभी अपने धर्म और धर्मात्माओं की रक्षा स्वयं को विपत्तिोंमें डालकर भी विपत्तिसे उनकी रक्षा करता है। मांके प्रेम में फिर भी भविष्य के लिये कुछ स्वार्थ होता है किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव को उनकी रक्षामें कुछ भी स्वार्थ नहीं होता जैसे गाय अपने बछड़े द्वारा स्तनताड़ित होने पर भी उसे दूध पिलाती है और चाटती है सम्यग्दृष्टि और धर्मात्माओं के प्रति अपना अनुराग रखता है धर्म के लिये वह अपना सर्वस्व, क्या तन, क्या मन, क्या धन और क्या जीवन ! आदि निछावर करने के लिये तैयार रहता है वह द्रव्य काम और भावका ध्यान रखता हुआ धर्मात्मा साधु प्रतियों न गरिष्ठ और न रूखा अर्थात् मध्यम श्रेणिका, जिससे उन की दैनिक चर्यायें, स्वाध्याय अध्याय एवं धर्मोपासना आदि में कोई वाधा उपस्थित न हो ज्ञानी का कर्त्तव्य है कि योग्य आदर दे और पायका कर्त्तव्य है कि वह समयानुकूल साधारण आहार करे।

प्रशम मानें शान्ति। अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जिनसे शान्ति में अन्तर आ सकता है किन्तु अपने मन सुमेरु को वे विचलित नहीं होने देते—और हो भी कैसे ? जब उस गुणको परमोत्कृष्ट सीमा पर पहुंच गये हैं निर्रोग अर्थात् इच्छाका न होना। जो कुछ जैसा और जितना है उसी में वह सन्तोष रखता है—उसे पर पदार्थों प्राप्त करने की उसे कोई अभिलाषा नहीं, कोई अच्छा नहीं। वह तो अपने जीवन से भी उदासीन बना रहता है "कोई बुरा कहो या अच्छा लक्ष्मी आवे या जावे। लाखों वर्षों तक जाऊं या मृत्यु आज ही आ जाये।" यह मानों उसके जीवन में क्रियान्वित होकर चरितार्थ होता है वह अच्छी तरह समझता है कि मेरा कुछ था भी नहीं जो गये पदार्थों के बारे में विचारूँ और न मेरा कुछ कोई हो ही सकते

जिनके समागम की मैं अभिलाषा करूँ वह तो यही सोचता, रहे सो रहे और जाना हो चला जाय–ये न मेरे थे न है और न रहेंगे– और आत्मा ध्यान में वे निमित्त मात्र से बाधाके आलावा और कुछ नहीं करते। अतः अच्छा तो यही होगा कि ये यहां से चले जांये। तो कम से कम मैं आत्मरत तो हो सकूँगा। इस प्रकार वह संसार के पदार्थ एवं क्रियाओं से दूर रहता है, कोसों दूर रहता है। वह अपने द्वारा कृति दोषों पर पश्चाताप करता है–वह उनके दुहराये ना जाने का पूर्ण ध्यान रखकर निन्दा करता है तथा अपने दोषों को गुरुके समक्ष कहता है तथा उचित प्रायश्चित लेकर उसका पूर्ण रुपेण पालन करता है यह वहीं है। जहां स्वरूप से च्युत हुये, आत्माकी विस्मृति हुई पर पदार्थों में रमें कि उसने आत्मा को समझाया—आत्मास्वरूपी स्थिति में ही सुख है—यह संसार मृगमरीचिका है यहां खोजनेपर भी तुम्हें सुख न मिलेगा। इस प्रकार वह निन्दा करता है और स्वयं को सम्हालता है। जबतक कोई अपने किये हुये दोषों को गुरुके समक्ष नहीं कह देता तब तक वह अत्यन्त विरक्ति के अभाव में दोश मुक्त नहीं होता। आलोचना पश्चाताप से दुःख दूर नहीं होते जब तक गुरु द्वारा उनका प्रायश्चित कर लिया जाय। एक गुरु से दिक्षा तो वैसे ही छिन्न हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव निन्दा और यहीं दोनोंको करता है निर्विक जब आत्मध्यान में लग जाती है तुम्हें तुम्हारा पिता, माता, स्त्री, पुत्र बालक सब इसी आत्मा में ही मिलेंगे। या यों कहो कि तुम ही तुम्हारे पिता, माता पुत्र सभी तुम ही हो। किन्तु मिथ्या दृष्टिके परमें ये भाव आते कि अमुक मेरा पुत्र है, मेरा है पिता है आदि। यहां परतो भाव ही पुत्र है— क्योंकि आत्मासे तो भाव ही पैदा होते हैं अथवा पुनाति वंश इति पुत्रः अर्थात् जो वंशको पवित्र करे वह पुत्र है आपका आत्माही वंश है अर्थात् जो आत्माको पवित्रकरें वह आत्मा को पुत्र है चेतनरूप

परिणति से जो सन्तति चलती है उसे पवित्र करें वह पुत्र है। सम्यग्दृष्टि जीव, जिसने आत्माका अवलोकन किया है, उसने मानों पुत्र पालिया है। पातीति पिता अर्थात् जो रक्षा करे। संसार में हमही रक्षक हैं और कोई हमारा रक्षा नहीं कर सकता। अतः भैया! हमारे हम ही पिता है। कृष्ण और बलभद्र का उदाहरण हमारे समक्ष है। उनने भी अपने माताकी, जो बड़े बली और राजा थे, रक्षा न कर सके। अपने माता पिता को जलने से बचाने के लिए पानी डाला पर वह उसने तैलका काम किया और उन्हें जलता देखते रह जाना पड़ा। कितना प्रेम था उन्हें? कितना अनुराग था उन्हें। पर जब वे भी रक्षामें समर्थ न हुये तो हम क्या किसी की रक्षा करेंगे? या कोई हमारी क्या रक्षा करेगा? यदि तुम्हारे पास पुण्यकी पूजा होगी तो तुम्हारा रक्षा नहीं हो सकती। जननी—जनयति इति जननी "अर्थात् जो पैदा करे वह मां है। यह आत्मा ही तो अगली परिणति पैदा करती है अतः यही जननी है। रमणी—यह आत्मा स्वयंको स्वयं में रमाती है अतः रमती है। यही शिव अर्थात् कल्याणकारी है, यही ब्रह्मा अर्थात् स्वयं वृद्धिगत होने वाली है, यही कृष्ण अर्थात् पाप कल्मष प्रक्षालक है, जो कुछ हूं, मेरे लिये मैं ही हूं और कोई मेरे कुछ नहीं है। मेरे लिये भगवान है तो मैं हूँ, भले ही कोई अपने लिये कितना ही बड़ा हो पर मेरे लिये वह न कुछ है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव प्रशान्त, भय रहित, मान रहित, कषाय रहित होता है। अरहन्त, सिद्ध, साधु आदि की भक्ति करना, गुणोंमें अनुराग रखना भक्ति है। व्यवहार से तो अरहन्त सिद्ध भगवानकी भक्ति करना और निश्चयसे तो अरहन्त और सिद्ध के समान शक्ति सम्पन्न अपनी आत्मा की ही भक्ति करना, उसका चिन्तवन करना ही सच्ची भक्ति है।

सम्यग्दृष्टि जीव के प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार लक्षण बताये गये हैं। यहां तो ये ४ लक्षण बतलाये और वही सम्यक्त्व के आठ लक्षण बतलाये हैं—फिर भी इनमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि अन्य चार गुणोंका पूर्वोक्त चार गुणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। सम्यक्त्व के, निर्वेद, निन्दा गर्हा भक्ति ये चार गुण और होते हैं।

संवेग और निर्वेद इन दोनों का अन्तर्भाव एक ही में होजाता है निर्वेद के होने से संवेद भी हो जाता है और संवेद होनेसे निर्वेद। धर्म एवं धर्मात्माओं में प्रेम तथा अनुराग होना संवेग है और बाहरी पदार्थों की इच्छा न होना निर्वेद है जिसका धर्म में अनुराग होगा उसका बाहरी पदार्थों से मोह भी न होगा। यहाँ संवेग मुख्य है और निर्वेद उपलक्षणरूप। भक्ति और वात्सल्य ये संवेग के गुण लक्षण हैं इनमें चार मुख्य हैं और चार उपलक्षण है। जो लक्षणकी विशेषता बताये वह उपलक्षण है। भक्ति और वात्सल्य दोनों संवेग के उपलक्षण मन, वचन, कायका उद्धत न होना या अपने गुणों को पाने के लिये मनका सदा तत्पर रहना यहीं भक्ति है और धर्मात्माओं से प्रेम यह वात्सल्य है— दोनों का अन्तर्भाव संवेग में हो जाता है। निन्दा और गर्हा ये दोनों भी प्रशम गुण में शामिल हो जाते हैं। "स्वदोष प्रगट न निन्दा।" अर्थात् अपने दोष अपने समक्ष कहना, अलोचना करना निन्दा है दर्शन मोहनीय के उपशम, उदया भावीक्षय प्रशमगुण के बाह्यरूप से अभिव्यञ्जक है। जिसकी आत्मासे दृष्टि हट गई है वह निन्दा नहीं कर सकता। शरीर को आत्मा मानने वाला च्युत स्वभाव होने पर, अपनी निन्दा क्या करेगा। क्योंकि वह पर्याय में लीन है। दर्शनमोहनीय का उदय होने से पर शरीर को भिन्न पहिचान नहीं सकता, मय स्वरूप है सिद्ध समान, मैं इससे न्यारा हूं फिर इस में क्यों रति करता है वह ऐसा विवेक नहीं कर सकता। उपशम, उदाभावी क्षय, होने से परिणामों में शान्ति आती है और प्रशम गुण

उत्पन्न होता है। प्रशम गुणके हुये बिना स्वयं की निन्दा करने का गुण नहीं हो सकता। जो आत्माभिमुख होगा जिसने शरीर और आत्मा की स्वतन्त्रसत्ता को समझ लिया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव ही दोष होने पर निन्दा कर सकता है तथा गुरूके समक्ष अपने दोषों को कह कर, प्रायश्चित शिरोधार्य का निष्कलंक रूपेण उसे निभाता है। जो अपनी निन्दा करे, गुरु के समक्ष अपने दोष कहे— तो समझो उसके प्रशम गुण आ गया है।

जो दोष कर्मोदय से बन जाते हैं या जिनका कर्मोदय से बन्ध हो जाता है उसकी सम्यग्दृष्टि उपेक्षा नहीं करता। वह अपनी न्यूनता दौर्बल्य एवं अशक्ति बताता हुआ कहता है मैं बहुत कमजोर हूँ जो ये दोष छूटते नहीं जहां दोष छूटते नहीं और वह दोष चाहता नहीं वहां निन्दा होती। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, स्वचतुष्टय से स्वयं को आस्तिरूप, ज्ञाना नन्द की मूर्ति, दूसरे से अलग, अपने आपमें टिका हुआ हूं ऐसा मानता है। लोग हमारा क्या सुधार या बिगाड़ कर सकते हैं—यदि अपने आपको सुधार लिया तो सुख है अन्यथा दुःख है। तुम्हें जैसा बनना हो वैसे विकल्प अपनी आत्मामें करते जाओ वैसे बन जाओगे। तुम किसीको प्रसन्न नहीं कर सकते वृथा ही विकल्प करके बड़ी मूढता करते हो—अरे! यही तो मिथ्यात्व है। कोई प्रसन्न होजायगा तो क्या तुम्हारी रक्षा कर सकेगा? अरे! अपने आप को प्रसन्न करो. प्रशम गुण आत्मा में धारण करो वही तुम्हारी रक्षा कर सकता है। वह मोह के नष्ट होने पर होता है।

दृष्टि भेद पर से सम्बन्ध जोड़ता है और परके सम्बन्ध से आत्मा दुःखी होती हैं। अतः अपनी चेष्टा अपनी आत्मा में करो जहाँ यह वस्तु हमारी है, हम उनके हैं इस रूप विकल्प हुये कि दृष्टि भेद हो गया। द्रव्य क्षेत्र काल भाव से अपनी अपेक्षा सर्व पदार्थों

का नास्तित्व एवं अपना अस्तित्व समझो। जो कुछ हम कर रहे हैं। अपने परिणमन से ही कर रहे हैं, हमारे चतुष्टय में अन्य का प्रवेश नहीं हो सकता। मैं परका करने वाला या परको अपना करने वाला मनाना मूढ़ता है। किसी को मैं प्रसन्न करूँ, वह मेरा भला कर दे। ऐसी प्रतीत करना मिथ्यात्व हैं। सकल पदार्थों से मोह छोड़ कर विकल्प जालका परित्याग कर आत्माका निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त हो जाना तथा मैं ही भगवान हूं, मैं ज्ञान स्वभावी, सहजानन्दानुभवी हूं, मैं किसीको न जानू और मुझे कोई न जाने इस परिणति रूप अवस्थानों में पहुँच जाना श्रेष्ठकर है। पर पदार्थोंके परिचय से नाना विकल्पों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, स्वानुभव से प्रतिकूलता आ जाती है। आत्मानुभवी पुरुष परका सम्बन्ध और उसका परिचय नही चाहता। जो कुछ न विचारे न चाहे मात्र आत्मामें ही लीन रहे—मानों संसार की माया से वह सर्वथा दूर है ऐसा व्यक्ति ही प्रशम गुणकी चरमोत्कृष्टता को प्राप्त कर लेता है। प्रशम गुणी में जब कुछ विकल्प होते हैं तब वह निन्दा करता है। वह विकल्पसे छूटा नहीं और विकल्प चाहता नहीं अतः वह निन्दा करता है। स्वकृत दोषों गुरु के समक्ष कहना, रागादिक का त्याग करना तथा कृत दोषों की आलोचना करना गर्ही है अभी आपकी उन्नति इन दोनोंके बिना नही है जहाँ इन दो की उपेक्षा है वहीं अवगति है। अपने दोष का प्रायश्चित्त कोई भोगना भी करले किन्तु बिना गुरु समक्ष अपने दोष प्रगट किये वह दोषों मुक्त नहीं होता। निन्दा और गर्हा करना ये दोनों सम्यग्दृष्टि के चिन्ह हैं।

निशांकित अंगः—कोई शंका न होना निशंका है और "जिनवचमें शंका न धार" में दृढ़ विश्वास होना सो निशंकित अंग है जहाँ शंका, भीति, साध्यवसान सब निकल जावें वह निशांकित अंग होता है। जिनेन्द्र भगवान ने जिस पदार्थ को